प्रकाशक:
रामचन्द्र अग्रवाल
जयपुर पब्लिशिंग हाउस
चौड़ा रास्ता, जयपुर–3

प्रथम संस्करण–1985

मूल्य 20.00 रु०

मुद्रक:
एम. बी. प्रिन्टर्स
जयपुर

भूमिका

विश्व का इतिहास पुस्तक अपने विद्यार्थियों के सम्मुख रखते हुए मुझे बड़ा हर्ष है। इसे राजस्थान विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमानुसार तृतीय वर्ष कला के विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है, भाषा और शैली दोनों में ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि यह पुस्तक इस आयु के छात्रों के अनुकूल हो, केवल केवल साहित्यिक ही नहीं।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और साथ ही उन्हें 'विश्व का इतिहास' की अधिक जानकारी के लिए प्रेरित करेगी। साथ ही यह भी आशा की जाती है कि साधारण पाठक भी इस पुस्तक द्वारा विश्व का इतिहास के मूल तत्वों की जानकारी कर सकेगा।

मैं उन सभी लेखकों का आभारी हूं जिनकी कृतियों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है। विद्यार्थियों और इस विषय के सह अध्यापकों के सुझावों की मुझे अपेक्षा है जिससे की आगामी संस्करण में पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया जा सके। जयपुर पब्लिशिंग हाउस के श्री रामचन्द्रजी अग्रवाल जिन्होंने इतने अल्प समय में इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया उनको धन्यवाद भी देना आवश्यक है।

—लेखक

विषय-सूची

1

मध्यकालीन विश्व की उत्तरार्द्ध प्रवृत्ति

रोमन साम्राज्य के निर्बल होने के पश्चात् चारों ओर अराजकता, गड़बड़ी और असुरक्षा का वातावरण हो गया था। ऐसी अवस्था में भारत यूरोपीय मूल के बर्बर जर्मन कबीलों ने (जिन्हें कि ट्यूटन या गोथ भी पुकारा जाता था) इस अव्यवस्था को लूट-पाट द्वारा अधिक बढ़ा दिया था। जब मध्य एशियाई घुमक्कड़ घुड़सवार हूणों को चीन के हानवंशी शासकों ने मध्य एशिया से खदेड़ा तो इन्होंने यूरोप के इन बर्बर गोथों को खदेड़ना प्रारम्भ किया। अतः जर्मन गोथों ने आश्रय की खोज में रोमन साम्राज्य में प्रवेश किया। रोमन सम्राट ने उन्हें हूणों से सुरक्षा के बदले अपना सैनिक बना दिया। किन्तु रोमन अधिकारियों के व्यवहार से पीड़ित हो इन्होंने रोम में विद्रोह कर दिया। 378 ई. में एड्रियानोपल के युद्ध में रोमनों को पराजित कर अन्ततः 410 ई. में इन्होंने रोम पर अधिकार कर लिया। अलग-अलग जर्मन कबीलों ने रोमन साम्राज्य में छोटे-छोटे क्षेत्र स्थापित कर दिये और वे अपने-अपने क्षेत्राधिकार-विस्तार के लिए परस्पर लडते रहते थे। इस प्रकार 5वीं शताब्दी से 8वीं शताब्दी तक रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होता रहा। 768 ई. में जर्मन जाति के फ्रेंक नेता क्लोविस के एक अधिकारी 'पेपिन' का पुत्र शार्लमेन (चार्ल्स महान्) गाल (आधुनिक फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी) की गद्दी पर बैठा। उसने अपने अन्तिम समय 814 ई. तक, गाल को विस्तृत साम्राज्य में बदल दिया था। इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करने के लिए शार्लमेन ने युद्धों में सहायता देने वालों को, बड़े-बड़े भू-खण्ड प्रशासन चलाने हेतु प्रदान कर दिये। इन भूमि क्षेत्रों को काउंटी, डची, मार्च तथा इनके अधीपतियों को काउंट, ड्यूक और मार्क्विस कहा जाता था। इस प्रथा के कारण लोगों के पास बड़ी-बड़ी भूसम्पत्तियां बन गईं और कृषक इनके अधीन भू-दास बन गये। शार्लमेन की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य जर्मन, इटली और फ्रांस में विभाजित हो गया। इसी समय में घुमक्कड़ स्लाव, स्पेन के मूर आदि ने इन राज्यों पर आक्रमण कर पुनः अव्यवस्था बढ़ा दी। सामन्त परस्पर

युद्ध में व्यस्त रहते थे, राजाओं का राज्यों पर नियन्त्रण कठिन हो गया, ऐसी हालत में केन्द्रीय सत्ता नाम की कोई व्यवस्था यूरोप में नहीं थी। सारा पश्चिमी यूरोप असंख्य स्थानीय शासकों के अधिकार में विभाजित था। ऐसी परिस्थितियों में सहयोग और राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था प्रणाली का जो विकास हुआ वही 'सामन्ततन्त्र' के नाम से जानी जाती है।

सामन्तवाद—9वीं शताब्दी के पूर्व सामन्त व्यवस्था न रही हो; ऐसा नहीं है। मानव जीवन के प्रारम्भ से ही पेट की भूख ने पारस्परिक द्वन्द और द्वन्द के प्रति व्यक्तिगत सुरक्षा ने सहयोग का रास्ता दिखलाया तो यह सहयोग शक्ति पर आधारित रहा था। यह शक्ति ही शनैः शनैः समूह शक्ति के रूप में मातृ-सत्तात्मक और पितृसत्तात्मक परिवार के रूप में परिवर्तित हुई। अतः शक्ति ने जब सत्ता का स्वरूप ग्रहण किया तो दायित्व का विकास होने लगा और दायित्व ने सामाजिक-सामन्तीकरण को जन्म दिया। यह सामन्तीकरण कालान्तर में राज-नीतिक प्रभुत्व का कारण बना। इसलिये मानव के आदिकाल से ही सामन्तवृत्तियां जीवन के साथ जुड़ी हुई रही थीं किन्तु उनका प्रारूप समय-समय पर बदलता रहा। जन साधारण ने अपनी सुरक्षा के लिए बलवान का आश्रय लिया तो उसके बदले बलवान ने उनके परिश्रम का आंशिक अंश अपनी जीविका और आश्रित व्यवस्था के लिए लेना प्रारम्भ कर दिया। आश्रित और आश्रयदाता के मध्य ऐसा समझौता राजनीतिक सामन्तवाद का उदय कहा जा सकता है जो कि एक ओर सामाजिक राजनीतिक सुरक्षा के वचन से आबद्ध था तो दूसरी ओर सामाजिक आर्थिक सहयोग के दायित्व से बंधा हुआ था। मिश्र में भी पिरामिड युग के पश्चात् ऐसी सामन्त व्यवस्था प्रचलित रही थी, यूनान के नगर राज्य भी सामन्त प्रथा के विकसित एवं सुधरे हुए प्रतिमान थे, अजातशत्रु से पूर्व पूर्वी भारत के नगर-राज्यों में इसके उदाहरण मिलते हैं। मौर्यों के पतन के बाद सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया तब शक-क्षत्रप या क्षेत्रपति सामन्त-व्यवस्था के प्रतीक थे। गुप्त शासकों ने जिन नगर या राज्यों के संघ को पराजित किया था वे सभी पश्चिमी यूरोप के सामन्तों के समान थे। अतः सामन्तवाद एक निरन्तर प्रवृत्ति रही जो विश्व में निरन्तर बनी रही और बनी हुई है। परन्तु सामन्तवाद का राजनीतिक-आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा जनशोषण का जो सूत्रपात यूरोप में 9वीं शताब्दी के पश्चात् प्रारम्भ हुआ भारत में उसका प्रारम्भ 17वीं शताब्दी में दिखलाई देता है। इसी कारण यूरोप में राजनीतिक सामन्तवाद के प्रति आक्रोश शीघ्र दिखलाई देता है वहां भारत में इसके प्रति उदासीन वातावरण दृष्टिगोचर होता है। सम्भवतः यह आक्रोश और उदासीनता ही यूरोप और भारत की प्रगति का अन्तर है।

9वीं शताब्दी के पश्चात् शार्लमेन द्वारा गठित सामन्त व्यवस्था प्रचलित रहीं, उसमें रोमन साम्राज्य की प्रचलित प्रथाएं 'प्रिकेरियम' तथा 'पेट्रोसिनयम' भी विद्यमान थी। प्रथम प्रथा कृषक और भू-स्वामियों के मध्य सम्बन्धों की तथा दूसरी प्रथा प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रभावान्तर्गत अलग-अलग श्रेणी निर्माण से सम्बन्धित थी। इस प्रकार 9वीं शताब्दी के पश्चात् वीरत्व (नाइट) प्रदर्शन और आर्थिक प्रभावान्तर्गत सामन्त, उपसामन्त, सहसामन्त और कृषक के स्तरीकरण पर विकेन्द्रित व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ जो कि बाद में पैतृक अधिकार (877 ई. की कियरसी की सभा) में जकड़ गई। इस विकेन्द्रित व्यवस्था में सर्वोपरी राजा, उसके अधीन लार्ड, लार्ड के अधीन ड्यूक, फिर काउन्ट, बैरन, नाइट आदि वेसाल कहलाते थे। इनकी प्रजा 'सर्फ' में आती थी। यद्यपि इस प्रथा ने दासों के स्वरूप को किसानों में बदल कर तत्कालीन क्रान्तिकारी दिशा प्रदान की थी पर कालान्तर में यह प्रथा राजनीतिक दुर्बलता और आर्थिक शोषण का प्रतीक बन गई।

इस शोषण में धर्म ने भी चर्च के माध्यम से राजनीतिक अधिकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया।

चर्च-प्रभुत्व—चौथी शताब्दी में ईसाई धर्म को रोमन साम्राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त नहीं बल्कि सम्राट थीयोडोसियस (379–395 ई) ने इसे राज्य धर्म बना दिया। तब से धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप में यह धर्म फैल गया। रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजनैतिक स्थिति में ईसाई-चर्च ने अपना प्रभाव स्थापित करना प्रारम्भ किया। पहले यरूसलम, कुस्तुनतुनिया, रोम आदि चर्चों के विशप पद प्रायः बराबर माने जाते थे पर कालान्तर में रोम चर्च की प्रधानता स्थापित हो गई और इसका पादरी पोप कहलाने लगा। 590 ई. में उच्च वर्ग का एक कुलीन ग्रिगोरी नामक व्यक्ति रोम का पादरी निर्वाचित होकर पोप कहलाया जिसकी परम्परा आज भी रोम में चली आ रही है। संगठन की दृष्टि से प्रांत का बड़ा धार्मिक अधिकारी आर्कविशप, जिले (डायोसीज) का अधिकारी विशप गांव का पादरी कहलाता था। मान्क (सन्त) और नन (भिक्षुणियां) मठों में रहते व फ्रीग्रर धर्म प्रचारक होते थे। पादरी और चर्च शिक्षा के केन्द्र थे परन्तु यह शिक्षा के केन्द्र धीरे-धीरे प्रभुत्व के केन्द्र बन गये। यद्यपि इन्होंने सामन्त स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाया पर अन्ततः यह चर्च धार्मिक सामन्तवाद के गढ़ बन गये। चर्च के पास धर्म अनुदान में प्राप्त जमीन होती थी जिन्हें खेती करने के लिये कृषकों को प्रदान करते थे। इस प्रकार ऐसी भूमि के भू-दासों का स्वामी चर्च होता था। धन-सम्पदा से समृद्ध चर्चों ने राजनीति में प्रत्येक स्थान पर हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। शासक पोप की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते थे। जर्मन सम्राट हेनरी चतुर्थ द्वारा पोप का विरोध किया गया तो पोप ग्रेगरी सप्तम ने उसे गद्दी से

उतारने और जर्मन से निकालने का आदेश दिया। प्रजा पोप की आज्ञा को ईश्वर-आज्ञा मानती थी अतः उसके वाक्य शिरोधार्य किये जाते थे। नंगे पैर, नंगे सिर, टाट के कपड़े पहने पश्चाताप से पूर्ण हेनरी पोप से माफी माँगने केनोसा आया और वेटीकन पैलेस के बाहर ठण्ड में ठिठुरता हुआ तीन दिन तक पड़ा रहा तब कहीं पोप ने उसे क्षमा किया। प्रत्येक व्यक्ति का राजा के विरुद्ध न्याय भी पोप के पास सुरक्षित था। इस प्रकार चर्च की शक्ति ने चर्च को भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया और अन्त में इसके विरुद्ध धार्मिक आन्दोलन हुए जिनमें यूरोप के शासकों ने भी आन्दोलनकारियों का साथ देकर चर्च की शक्ति को शासकों के अधीन बनाया।

धर्म-युद्ध—पोप ग्रिगोरी अथवा ग्रेगरी सप्तम (1059–1061 ई.) ने जब राजतन्त्र पर धर्म-सत्ता को स्थापित कर दिया तो उसके उत्तराधिकारी पोपों ने सल्जुक तुर्कों के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने राजतन्त्रों को धर्म-युद्ध की ओर प्रेरित किया। यह धर्म-युद्ध 'क्रूसेड' कहलाते हैं, जो 11वीं शताब्दी के अन्तिम चरण (1096 ई) से 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (1270 ई.) तक चलते रहे थे। सल्जुक तुर्कों ने बगदाद के अब्बासी खलीफाओं को हटा कर इस्लामी साम्राज्य की बागडोर अपने हाथों थामी तो उनका संघर्ष बाईन्जेटाइन सम्राट से होना आवश्यक हो गया। 1071 ई. में मंजीकर्ट के मैदान में सम्राट रोमनुस को हराया। इससे एशिया माइनर में भी तुर्कों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अरब शासन में यरूशलम जाने वाले यात्रियों पर कोई रोक टोक नहीं थी किन्तु तुर्कों के काल में अड़चनें आने लगीं। वे ईसाइयों से धार्मिक यात्रा कर, व्यापारियों से चुंगी, तथा कई ईसाइयों पर मुस्लिम धर्म मानने के लिए अत्याचार करने लगे तो पोप अरबन द्वितीय ने 1095 ई. में दक्षिण-फ्रांस के क्लेरमाण्ट नगर में चर्च परिषद् आमन्त्रित की। उसने परिषद् में शासक, सामन्त और शासित सभी से तुर्कों से ईसाई धर्म, व्यापार बचाने तथा यरूशलम-मुक्ति की अपील की। परिणामस्वरूप परिषद् ने धर्म-युद्ध आरम्भ करने की स्वीकृति प्रदान कर दी। इस प्रकार कुल मिलाकर धर्म-युद्ध सात बार लड़े गये—प्रथम धर्म-युद्ध 1096–1099 ई., द्वितीय 1147 ई., तृतीय 1189 ई., चतुर्थ 1202–1204 ई., पंचम 1218 ई., छठा 1248 ई., सप्तम 1270 ई. में हुआ था। यह धर्म युद्ध असफल युद्ध थे, किन्तु पोप युद्ध चाहता था। इससे उसकी शक्ति का विकास ही होता और पराजय की दशा में सामन्त शक्ति का पतन। अतः पोप को दोनों स्थितियों से लाभ था।

युद्धों के परिणाम—इतिहासकार प्लेट और जीन ड्रमन्ड का मत समुचित है कि धर्म युद्ध पवित्र यरूसलम पर अधिकार कर पाने में असफल रहे, किन्तु वे एक नये यूरोप का निर्माण करने में सहायक अवश्य बने। धर्म युद्ध में भाग लेने वाले

यूरोपवासियों को यह ज्ञात हो गया कि अभी संसार में बहुत कुछ है जिसे वे सीख सकते हैं। हिरेनशा के अनुसार इन युद्धों के फलस्वरूप पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ और उदारता तथा सहनशीलता का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक और दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में अनेक विचारकों की उत्पत्ति धर्म युद्ध का परिणाम थी।

सामन्तवाद का प्रभाव क्षीण हुआ, व्यापारियों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई वहां कृषकों और श्रमिकों में आत्मचेतना व जागृति की लहर उठने लगी।

सल्जुक तुर्कों से युद्ध के कारण यूरोप का भूमध्य सागर से व्यापार बन्द हो गया अतः अन्य जल मार्ग खोजने के प्रयासों ने नवीन महाद्वीप खोज डाले। इस प्रकार यूरोप के प्रसार में इन धर्म युद्धों का बहुत बड़ा हाथ रहा था।

यूरोपवासियों में यह युद्ध असफलता ने संगठन का महत्व प्रतिपादित किया वहां राष्ट्र, जाति और समाज की दृढ़ता ने राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास किया।

इन युद्धों ने व्यापारी वर्ग का उदय और उनके आर्थिक प्रभाव को स्थापित किया वहां मुद्रा-प्रचलन, श्रेणी (गील्ड) व्यवस्था और पूंजीवाद को जन्म दिया।

पोप की शक्ति को इन युद्धों से क्षति पहुंची। पोप की ईश्वरीय शक्ति में लोगों ने असफलता देख चर्च के प्रति शंका उठानी प्रारम्भ कर दी फलतः धर्म सुधार आन्दोलन उठ खड़े हुए।

कृषक और श्रमिकों की चेतना, व्यापारी वर्ग के उदय ने यूरोप के परम्परागत समाज में शासक और शासितों के मध्य एक नया वर्ग बना दिया। इसके उदय ने यूरोप में सामाजिक आर्थिक क्रान्ति को जन्म दिया फलतः कृषक आन्दोलन और राज्य क्रांतियां इसी का परिणाम थे।

अन्त में इतिहासकार सेबाइन के अनुसार धर्म युद्धों ने यूरोप की उदासी को तोड़कर नये विचारों की ओर प्रेरित किया। पुनर्जागरण की तीव्र गति इसी का प्रतिफल थी।

2

आधुनिक विश्व की आधारशिला : पुनर्जागरण

विश्व के मध्यकाल की उत्तरार्द्ध प्रवृतियों में सामन्त और चर्च नामक संस्थाओं का संक्षिप्त अध्ययन में हमने धर्म-युद्धों के प्रभाव में देखा है कि यूरोप निवासियों ने यूरोप की कूपमंडूकता के स्थान पर विश्व के खुले आकाश में नवीन जीवन प्रारम्भ किया। इस जीवन को अंग्रेजी भाषा में 'रेनेसां' कहा जाता है। रेनेसां एक फ्रेंच शब्द है, जिसका अर्थ है—नया जन्म अथवा पुनर्जन्म। व्यावहारिक दृष्टि से यह नया जन्म, मनुष्य की बौद्धिक चेतना और चिन्तन शक्ति में परिवर्तन का था। रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् यूरोप एक गहन अन्धकार में निद्रामग्न था। निद्रा के अन्दर यूरोपवासी प्राचीन यूरोपीय (यूनानी तथा रोमन) सभ्यता और ज्ञान को भूल चुके थे। सामन्तों को शिक्षा से कोई मतलब नहीं था, जन जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव था, और धर्म पर आडम्बरों की छाया थी। ऐसी दशा में सत्य के प्रति मानव का प्रयास एक अपराध माना जाता था और इसका दण्ड मात्र मृत्यु था।

मध्य युग के अन्दर समय समय पर वैयक्तिक या सामूहिक मानस-उद्वेग, चिन्तन और मनन के उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार के बौद्धिक आन्दोलन में प्रथम प्रयास चार्ल्स महान् या शार्लमेन के काल (768-814 ई.) में हुआ था। यह आन्दोलन यूनान रोम सभ्यता के तत्वों से प्रभावित था। क्योंकि यह आन्दोलन समय के पूर्व था अतः चार्ल्स की मृत्यु के साथ समाप्त हो गया। दूसरा उदाहरण अलबिजेनसियन आन्दोलन है, जो कि 12वीं—13वीं शताब्दी में हुआ था। यह धार्मिक आवरण में बौद्धिक छटपटाहट का ऐसा प्रयत्न था जिसे हम 14वीं-15वीं शताब्दी के लिये प्रकाश विन्दु मान सकते हैं। किन्तु पादरी वर्ग ने इस आन्दोलन

को क्रूरता से दबा दिया। तीसरा आन्दोलन सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय (1212–1250 ई.) के काल में हुआ। स्वयं फ्रेडरिक धार्मिक संकीर्णता का विरोधी और मानसिक स्वतन्त्रता का समर्थक था। एक दृष्टि से फ्रेडरिक आधुनिक मानव था। उसने अरस्तु व अभरोस के कई ग्रन्थों का लेटिन में अनुवाद कराया, नेपल्स में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की और अल बिजेनसियन विद्वानों को अपने पास आश्रय दिया। फ्रेडरिक की इस नीति के परिणामतः सिसली में एक बौद्धिक और साहित्यिक वातावरण का निर्माण हुआ जिसका अनुसरण पुनर्जागरण कालीन इटली के कई शासकों ने भी किया।

इस प्रकार मध्यकालीन सपनों में कभी-कभी चेतना की कचौट ने मानव की निद्रा भंग करने का प्रयास किया किन्तु यह नींद एकदम नहीं खुली। पर धार्मिक युद्धों ने सामन्त प्रथा की शक्ति, पोप की ईश्वरीय पाखण्ड तथा पूरब के स्थल मार्ग को अवरुद्ध कर दिया तो यूरोप जागने लगा। यह जागरण ही इतिहास मे पुनर्जागरण कहलाता है। इस जागरण काल में लोग जागीरों से अपना सम्बन्ध तोड़कर कृषि फार्मों पर स्वतन्त्र मजदूरी करने लगे अथवा गांवों में स्वतन्त्र श्रमिकी करने लगे अथवा कस्बों में स्वयं की दुकानें खोलने लगे। समाज में इस तृतीय वर्ग के उदय ने दकियानूसी विचारों को तोड़ने, ज्ञान अर्जन करने तथा स्वयं के विकास की ओर ध्यान दिया। मनुष्य ने स्वयं के उत्पादन और उपलब्धियों का मूल्यांकन करना प्रारम्भ कर दिया। लोग परलोक से इह लोक, स्वर्ग व नरक के स्थान पर राष्ट्र के बारे में ध्यान देने लगे, और धार्मिक समस्याओं के स्थान पर सांसारिक समस्याओं पर सोचना शुरू कर दिया। ऐसी अवस्था में 'मानव जिज्ञासा' प्रकाश पुंज के रूप में आलोकित हुई जिसके उजाले में मानव ने आधुनिक जीवन की शुरूआत की। इसे हम विभिन्न इतिहासकारों की विचार दृष्टि द्वारा समझने का प्रयत्न करें तो पाते हैं कि पुनर्जागरण :

प्रो. स्वेन के अनुसार-मध्य युग के अन्तिम काल में होने वाले समस्त बौद्धिक परिवर्तन ही सामूहिक रूप से पुनरुत्थान पुनर्जागरण है। पं जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "विश्व इतिहास की झलक" में लिखा हैं कि "विद्या का पुनर्जन्म, कला, विज्ञान, साहित्य और यूरोपीय देशों की भाषाओं का विकास" पुनर्जागरण है। इसी सन्दर्भ में प्रोल्युकस के विचारों में चौहदवीं और सत्रहवीं सदी के मध्य यूरोप में होने वाले महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन ही पुनरुत्थान है। जबकि मिकेलट की दृष्टि में मानव द्वारा अपनी तथा विश्व की खोज ही पुनर्जागरण है।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तन ही पुनर्जागरण थे। इस रूप में इतिहासकार सिमोण्ड ने पुनर्जागरण की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'यह एक ऐसा आन्दोलन था जिसके द्वारा पश्चिम

के राष्ट्र मध्ययुग से निकल कर आधुनिक विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। इस प्रकार, पुनरुत्थान व्यक्ति को मध्ययुगीन अन्धविश्वास, रूढ़ियों तथा चर्च एवं धर्मशास्त्रों के बन्धन से मुक्त करके स्वतन्त्र चिन्तन तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर देने वाला तथा प्राचीन यूनानी एवं रोमन संस्कृति के आधार पर एक नयी संस्कृति का निर्माण करने का प्रयास था। इसके मूल में परलोकवाद तथा धर्मवाद के स्थान पर मानववाद की भावना थी।

रावर्ट इरगेंग के अनुसार—मध्य युग से वर्तमान युग को प्रारम्भ करने वाले सभी परिवर्तनों को पुनर्जागरण कहते हैं, इसमें सामन्तवाद का पतन, प्राचीन साहित्य का अध्ययन, वैज्ञानिक दृष्टि, प्रारम्भिक पूंजीवादी व्यवस्था का प्रारम्भ आदि सम्मिलित हैं।

इन सभी परिभाषाओं में फिशर के कथन अधिक स्पष्ट और पुनर्जागरण की प्रवृतियों को दिखलाने वाले हैं—सर्व प्रथम इटली के नगरों में प्राचीन यूनानी और रोमन कला, साहित्य, संस्कृति का पुनःसृजन, मानववादी आन्दोलन का प्रारम्भ, धार्मिक क्षेत्र में प्राचीन यूनानी सभ्यता का समावेश, स्थापत्य कला एवं चित्रकला का नया स्वरूप, व्यक्तिगत और व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का विकास, वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आलोचना, दर्शन और धर्मशास्त्र का नवीन स्वरूप तथा विवेचन, वैज्ञानिक आविष्कार आदि सामूहिक दृष्टि से सांस्कृतिक पुनरुत्थान ही थे।

इतिहासकार हेज की व्याख्या राजनीतिक दृष्टि से पुनर्जागरण को स्पष्ट करती है कि राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान व निरंकुश राजतन्त्रों का अभ्युदय, व्यापारिक क्षेत्र में पूंजीवाद की वृद्धि, व यूरोपीय प्रसार की भांति समानरूप से महत्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदी की बौद्धिक जागृति थी, जिसने आधुनिक समाज एवं सभ्यता को अत्यधिक मात्रा में प्रभावित किया।

निष्कर्ष रूप में हम पुनर्जागरण को स्वतन्त्र चिन्तन, वैज्ञानिक व्याख्या, मानवता के उद्धार में यथार्थ को पहचानने का प्रयत्न, देशज भाषाओं का प्रयोग, निरीक्षण, अन्वेषण, जांच, परीक्षण आदि के सिद्धान्त की प्रमुखता, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, औद्योगिक उन्नति और धर्म सुधार की प्रवृत्तियों का ऐसा आन्दोलन कह सकते हैं जिसका प्रारम्भ चिन्ह नवीं शताब्दी में दिखने लगता है किन्तु 13वीं शताब्दी में वैचारिक क्रान्ति और जल मार्ग खोजने की अधीरता ने इसमें ऐसी गति भर दी कि 16वीं शताब्दी तक यह आन्दोलन इटली से सम्पूर्ण यूरोप में, फैल गया। इस आन्दोलन के लम्बे अन्तराल में कौन-कौन से कारण थे; जिन्होंने पुनर्जागरण को जन्म दिया।

पुनर्जागरण के कारण

पुनर्जागरण की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन "मध्यकालीन विश्व की उतरार्द्ध प्रवृत्ति" नामक प्रकरण में कर चुके हैं। फिर भी विषय क्रम के अनुसार पुनर्जागरण के लिये उत्तरदायी निम्न कारण थे—

1. **अरबीयन और मंगोलों का यूरोप से सम्पर्क**—पूर्वी देशों के संचित ज्ञान को यूरोप में परिचित कराने का कार्य अरबों और मंगोलों ने किया था। अरब के लोग यूरोप में बसने लगे (विशेषतः स्पेन, सिसली एवं सार्डिनिया में) तो उन्होंने यहां शिक्षण संस्थाओं की स्थापना में रुचि दिखलाई। अरब लोग धर्म निरपेक्ष, स्वतन्त्र चिन्तन, तथा ज्ञान-विज्ञान के पठन-पाठन में विश्वास रखते थे। यूनान के प्रसिद्ध विज्ञान प्लूटो और अरस्तु से अरबों को विशेष अनुरक्ति थी। प्लूटो और अरस्तु चूंकि स्वतंत्र चिनाक और अपनी रचनाओं में धर्म मुक्त थे इसीलिए अरबवासियों के प्रिय थे। इन्होंने यूरोपवासियों का ध्यान इन यूनानी विद्वानों की रचनाओं के प्रति आकर्षित किया। इस प्रकार यूरोपवासी प्राचीन यूनानी ज्ञान के सम्पर्क में आये।

13वीं शताब्दी के मध्य में कुबलाई खां ने एक विशाल मंगोल साम्राज्य स्थापित किया और उसने अपने ढ़ंग से यूरोप और एशिया को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। उसके दरबार में जहां पोप के दूत, यूरोपीय देशों के व्यापारी और दस्तकार रहते थे वहां एशियाई देशों के विद्वान, साहित्य और भारत के बौद्ध विद्वान, गणीत व ज्योतिष्य के प्रकाण्ड पंडित भी आश्रय पाते थे। उसका दरबार विद्वतापूर्ण चर्चाओं का केन्द्र था। इस प्रकार परस्पर तर्क-वितर्क ने पूर्व और पश्चिम दर्शन को प्रभावित किया। अरब और मंगोलों के माध्यम से ही चीन के आविष्कार कागज, छापाखाना, कुतुबनुमा और बारूद की जानकारी यूरोप में पहुंची थी। इन चीजों की जानकारी ने यूरोपवासियों के जीवन की आवश्यकता और जिज्ञासा की ओर प्रेरित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2. **विद्वतावाद (स्कालिष्टिक) विचारधारा का उदय**—अरस्तु और शुकरात के तर्क-दर्शन से अरबों ने यूरोपवासियों को परिचित कराना प्रारम्भ कर दिया था। इसके साथ-साथ यूरोप के चर्चों में सेन्ट आगस्टाइन के तत्व-ज्ञान के प्रति लोगों का आकर्षण था। दोनों का समन्वय (धार्मिक विश्वास और तर्क) यूरोप में विद्वतावाद के जन्म का कारण बना। यूरोप के नगरों में पेरिस आक्सफोर्ड बोलीन आदि विश्वविद्यालयों की स्थापना ने विद्वतावादी विचारधारा को अधिक फैलाया। इसमें अध्ययन और वाद-विवाद के निष्कर्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता था। 13वीं शताब्दी के पश्चात् महान् विद्वान रोजर वेकन ने विद्वतावादी विचारधारा का विरोध प्रारम्भ कर दिया। उसका कहना था कि अरस्तु की 'तर्क शक्ति' और 'प्रयोग' शैली उपयोगी अवश्य है किन्तु इससे आध्यात्मिक जिज्ञासा

शान्त नहीं हो सकती अतः इससे मिथ्या विचारों के उत्पन्न होने की अधिक संभावना बनी रहती है। बेकन का मानना था कि अरस्तु की रचनाओं के पढ़ने से समय व्यर्थ होता है। फलतः 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानववादी-विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। जिसे मानववाद (ह्यूमेनिस्टीज्म) कहा जाता है। इस विचार-धारा में मानव जीवन के प्रति रुचि, मानव जीवन की समस्याओं के समाधान, मानव जीवन को सुखी व उन्नत बनाने का प्रयास आदि विचार धर्म के प्रभाव से अलग हट कर सोचे और समझे जाते थे। परलोक सुधारने के स्थान पर इहलोक सुधारने की प्रक्रिया और विचार ही मानववाद का मुख्य आधार था।

मानववादी विचारधारा का मुख्य प्रवर्तक पेट्राक था। वह इटली के फ्लोरेन्स नगर का निवासी था। वह एक महान् कवि, साहित्यकार तथा विधिशास्त्री था। अपने देश के लोगों में प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के प्रति अभिरुची उत्पन्न करना उसकी सबसे बड़ी देन थी। पेट्राक ने ईसाई मठों के बन्द कमरों में सड़ी हुई प्राचीन पांडुलिपियों को खोज कर उनसे प्रचलित पांडुलिपियों का सम्पादन किया। प्राचीन पांडूलिपियों तथा ग्रन्थों की सुरक्षा तथा जनसाधारण के ज्ञान वृद्धि हेतु पुस्तकालय स्थापित कर उन्हें वहां संग्रहित किया। फलतः उसके अनुयायियों ने पेट्राक के कार्य को यूरोप मे फैलाकर मानववाद का प्रसार किया। यद्यपि 1500 ई. के लगभग विद्वतावाद भी मानववादी विचारधारा में सम्मिलित हो गया और यह विचारधारा पुनः आगे चलकर आधुनिकता और प्राचीनता में विभक्त हुई। आधुनिक विचारधारा से इरफर्ट और वियना के विश्वविद्यालय सम्बन्धित थे। इस धारा के अनुसार धर्मशास्त्र को समझने हेतु श्रद्धा की आवश्यकता पर बल दिया जाता था। मार्टिन लूथर इसी विचारधारा से प्रभावित था जो कि आगे चलकर धर्मसुधार का प्रणेता बना। दूसरी धारा प्राचीनता पर जोर देती थी जिसमें तर्क प्रमुख था। यह धारा थामस एक्वीनास से प्रभावित थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जिज्ञासा ने तर्क और विज्ञान के प्रति आस्था उत्पन्न की वहां तर्क हीन मान्यताओं के प्रति अनास्था। इसी जिज्ञासा ने मानव को अपने भीतर व अपने बाहर देखना सिखलाया फलतः साहित्य, कला, विज्ञान में धर्म के स्थान पर लौकिक आवश्यकता को प्रतिष्ठित किया।

3. धर्म युद्ध तथा कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार—धर्म युद्धों में भाग लेने वाले यूरोपवासी पूर्वी रोमन साम्राज्य तथा पूर्वी देशों के सम्पर्क में आये। मुस्लिम देशों के रहन-सहन, खान-पान, तथा सार्वजनिक स्वच्छता व सफाई का यूरोपवासियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। पोप की शुभकामनाओं तथा आशीर्वाद के पश्चात् भी ईसाइयों की हार ने पोप की प्रतिष्ठता को स्पष्ट कर दिया। धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे। सामन्तों की पतनोन्मुखी शक्ति पर धर्म युद्धों ने अमोघ प्रहार किया। जब 1453 ई में बाइजेन्टाइन साम्राज्य (पूर्वी रोमन साम्राज्य)

की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर उस्मानी तुर्कों ने अधिकार कर लिया तो कला और संस्कृति के इस केन्द्र से यूनानी विद्वान अपने अपने ज्ञान विज्ञान सहित आजिविका की खोज में इटली, फ्रांस और जर्मन में आकर बस गये। तुर्कों के लिए बाइन्जेनटाइन संस्कृति और यहां के विद्वानों का कोई महत्व नहीं था। उनके यूरोप में बसने से यूरोपीय देशों में बौद्धिक-क्रान्ति प्रारम्भ हुई। फलतः यूरोप निवासियों के ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता गया।

कुस्तुनतुनिया, यूरोप और पूर्वी देशों के मध्य स्थल मार्ग पर स्थित था। अतः तुर्कों के अधिकार में जाने के पश्चात् यूरोप का व्यापार तुर्कों की लुटेरी कार्यवाहियों से असुरक्षित हो गया। परिणामस्वरूप यूरोपवासियों के लिए पूर्वी देशों के जलमार्ग ढूंढने की आवश्यकता प्रबल हो गई। ऐसे प्रयत्नों ने भौगोलिक खोजों को संभव बना दिया। इससे नये-नये देशों का पता लगा और यूरोप मस्तिष्क से ही नहीं अपितु राजनैतिक विस्तार की दृष्टि से भी जाग्रत होने लगा।

4. भौगोलिक खोज एवं व्यापार का विकास—भारत, चीन, और पूर्वी द्वीप समूह तक जाने वाला स्थल मार्ग तुर्कों द्वारा अवरुद्ध होने के पश्चात् जल मार्ग की खोज इसलिए भी आवश्यक थी कि यूरोप में नये नगरों के उदय ने इन पूर्वी देशों से आने वाले मसालों, रेशम, रत्नों, औषधियों. सुगंधित द्रव्य पदार्थों आदि की मांग को बढ़ा दिया था। फिर बौद्धिक पुनर्जागरण ने संसार को देखने और उसकी जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा को अधिक बढ़ा दिया था। ऐसी स्थिति में कुतुबनुमा के आविष्कार ने यूरोपवासियों को समुद्र यात्रा के प्रति प्रेरित किया। इसमें पुर्तगाल और स्पेन के नाविकों ने कई नवीन द्वीप ढूंढ निकाले। इन द्वीपों में मेक्सिको और पीरू जैसे प्रदेशों में सभ्य लोगों को देख कर यूरोपीयनों को आश्चर्य हुआ। इस प्रकार सभ्य-असभ्य प्रदेशों ने ईसाई धर्म के प्रचार हेतु पादरियों को प्रेरित करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह धर्म प्रसार की भावना जलमार्ग को खोजने की प्रवृत्ति ने उपनिवेशवाद को जन्म देना प्रारम्भ किया जो कि उपनिवेशों से व्यापार-वाणिज्य द्वारा संभव हुआ। व्यापार-वाणिज्य के विकास ने यूरोप में नये आर्थिक तंत्र (साम्राज्यवाद) का निर्माण ही नहीं किया बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था, पूंजीपति वर्ग तथा समृद्ध नगरों की संरचना में अभूतपूर्व योगदान दिया। पूंजीवाद ने पूंजीपतियों के स्तर को सामन्तों से अधिक बढ़ा दिया और पूंजीपतियों के इस स्तर ने गांवों को नगरों में परिवर्तित करना शुरू कर दिया। जहां उनके संरक्षण में साहित्य, कला, विज्ञान का मुक्त चिन्तन, प्रयोग और अनुसन्धान होने लगा। इस तरह पुनर्जागरण के विकास में भौगोलिक खोज तथा वाणिज्य-व्यापार की उन्नति का बहुत हाथ रहा था।

5. कागज और छापाखाना—यद्यपि कागज और छापाखाने का आविष्कार चीन में हो चुका था। अरब लोगों द्वारा यूरोप भी इससे भिज्ञ हो चुका था।

किन्तु इटली के लोगों ने अच्छी किस्म का कागज बनाना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे यूरोप के अन्य देशों में भी कागज बनने लगा। यूरोप में छापेखाने का विकास 1439–1450 ई. के मध्य हुआ। किन्तु इसमें छपाई का कार्य लकड़ी की छापों से होता था जो काफी महंगा पड़ता था। 1454 ई. में जान गुटिनबर्ग के छापेखाने की पद्धति पर सस्ते छापेखाने खुलने शुरू हुए जिनसे 'बाईबल' सभी व्यक्तियों के लिए सुलभ होने लगी। बाईबल और धर्म की बातों को लोगों ने अपनी दृष्टियों से नापना शुरू किया। इससे धर्म के अन्धविश्वासों और पोप या धर्माधिकारियों की विवेचना लोगों ने खुली आंखों से पढ़ना और तर्क-वितर्क करना प्रारम्भ किया। मानववादी लेखकों के विचार जनमानस तक छापाखाने द्वारा पहुँचने लगे। अतः लोगों में विचारों के माध्यम को बनाने में कागज और छापाखाने का अमूल्य सहयोग था जिसने पुनर्जागरण को जन-मन की भावनाओं से जोड़ दिया।

6. सम्राटों द्वारा 'नई रोशनी' को प्रोत्साहन—पेट्राक जैसे नई रोशनी (नवीन विचार) के प्रवर्तक को पोप क्लीमेन्ट, नेपल्स के शासक चार्ल्स चतुर्थ तथा कई अन्य सम्राटों का संरक्षण प्राप्त था। फ्रांस के सम्राट फ्रांसिस प्रथम ने फ्रांस में नई रोशनी फैलाने के लिए इटली के विद्वानों को आमन्त्रित किया था। इंगलैण्ड के सम्राट हेनरी सप्तम, स्पेन के सम्राट चार्ल्स पंचम, पौलैण्ड के शासक सिगिसमुंड एवं डेनमार्क के राजा क्रस्चेन द्वितीय ने ऐसे विद्वानों को अपने राज्य में आमन्त्रित किया, उन्हें सुविधाएं प्रदान कीं और नये विचारों का अपने यहां प्रचार कराया। हेनरी अष्टम की राजकुमारी एलिजाबेथ ने प्लूटो के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया। वह फ्रांसिसी, लैटिन, यूनानी और इटालियन भाषा बोल लेती थी। स्पष्ट है कि सम्राटों के संरक्षण ने पुनर्जागरण को सफल बनाया।

यह कुछ कारण थे जिनके परिणामतः पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई और शनैः शनैः सम्पूर्ण यूरोप में इसका विविध प्रवृतियों में विकास हुआ।

पुनर्जागरण का विविध क्षेत्रों में विकास

पुनर्जागरण का विविध यूरोपीय देशों में साहित्य, कला, विज्ञान तथा भौगोलिक खोजों के क्षेत्र में 17वीं शताब्दी तक के विकास को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है—

1. साहित्य के क्षेत्र में—बौद्धिक पुनर्जागरण का प्रारम्भ सर्वप्रथम इटली में हुआ और यहां से फ्रांस, इंगलैण्ड आदि में पहुँचा। इटली में इसके प्रारम्भ होने की ऐसी कौनसी परिस्थितियां थीं ? पर विचार करें तो पाते हैं कि यूनानी विद्वान कुस्तुनतुनियां से भाग कर रोम ही आये थे। इस प्रकार रोम और यूनानी ज्ञान-धाराओं के सम्मिलित स्वरूप ने नवीन विचारधाराओं को इटली में सुगमता से स्थापित कर दिया। इटली के कई नगर (विशेषतः फ्लोरेन्स, वेनिस और मिलान)

पूर्वी देशों से व्यापार द्वारा धनी और समृद्ध बन चुके थे। अतः यहां के पूंजीपतियों ने नवीन कलाकृतियों, भव्य प्रासादों, सुन्दर उद्यान और फव्वारों के साथ-साथ इन नगरों में सांस्कृतिक प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त इटली की भौगोलिक स्थिति भी पुनर्जागरण के लिये उपयुक्त थी। जल मार्गों की खोज के पूर्व भूमध्य सागर पश्चिम और पूर्व देशों के व्यापार का केन्द्र था। इटली का भूमध्य सागरीय-व्यापार पर एकाधिकार था। इसलिये इटली आर्थिक दृष्टि से सबल था और यही सबलता सांस्कृतिक उन्नति का कारण बनी। धर्म युद्धों से लौटने वाले कई कृषक, व्यापारी, सामन्त आदि इटली में बस गये अतः जो अनुभव और ज्ञान वे अपने साथ लाये उनका प्रसार उन्होंने इटली में करना प्रारम्भ किया। इसके लिए उन्हें धनी पुरुषों, उदारवादी पोपों, रोम के पुस्तकालयों से सहयोग भी प्राप्त हुआ। अन्त में इटली के इस उन्मुक्त वातावरण में दांते और पेट्राक ने अपने साहित्य द्वारा प्रथमतः इटली निवासियों को नवीन विचारों के प्रति प्रेरित किया।

इटेलियन साहित्य में नवीनता उत्पन्न करने वाला प्रथम व्यक्ति महाकवि दांते (1265--1321 ई.) था। यद्यपि दांते यूनानी भाषा और साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित था। उसने "डिवाइन कॉमेडी" नामक महाकाव्य की रचना अपनी मातृ-भाषा "तुस्कानी" में की थी। इस प्रकार प्रथम बार बोलचाल की भाषा का साहित्य में प्रयोग दांते द्वारा हुआ। यह तुस्कानी ही आगे चलकर इटली की साहित्यिक भाषा बन गई।

दांते के पश्चात् इटेलियन साहित्य को पुनःजागृत करने वाला साहित्यकार पेट्राक (1304–1374 ई.) हुआ था। फ्लोरेन्स निवासी पेट्राक 'मानववाद का पिता' कहा जाता है। वह लेटिन (रोमन) और यूनानी साहित्य के प्रति गहरी अभिरुचि रखता था और इन भाषाओं के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ खोजने, संग्रहित करने तथा प्रचलित ग्रन्थों के सम्पादन में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। उसने अपनी प्रारम्भिक रचनाएं इटालियन भाषा में लिखीं किन्तु अपने युग की लेटिन भाषा का निम्न स्तर देख उसने बाद में क्लासीकल लेटिन लिखना प्रारम्भ किया। पेट्राक अपने सानेटों और गीतों के लिए प्रसिद्ध है। पेट्राक पर सिसरो के विचारों और रोमन कवि वर्जिल की शैली का प्रभाव था। उसने प्राचीन मूर्ति पूजक लेखकों के नाम 'फेमिलियर लेटर्स' की रचना की जो विश्वासों के प्रति मानव-व्यथा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार "अफ्रीका" नामक लम्बे गीत में सीपिओ के जीवन का अभूतपूर्व विवरण उसके प्रकृति प्रेम को दर्शाता है।

लेटिन गद्य का पिता बोक्काचिओ (1313–1375 ई.) पेट्राक का साथी था। उसका सबसे अच्छा कहानी संग्रह 'दिकामरोन' है। यह सौ कहानियों का संग्रह है जो कि मध्ययुग की महान् कहानियों में गिनी जाती हैं। इसकी लेखन

शैली हास्य प्रधान थी, जिसके द्वारा वह सामन्तों, सरदारों, पादरियों के भौतिक भ्रष्टाचार को हंसी के ढंग से प्रस्तुत कर इनकी अव्यवस्थाओं के प्रति अप्रत्यक्ष चोट करता था। साथ ही मानव जाति के प्रति गहन प्रेम और सहानुभूति के दर्शन भी इसकी कृतियों में प्राप्त होते हैं।

बोक्काचिओ के अतिरिक्त एरिआस्ट्रो की 'ओरजेंडो पुरिओसी' तथा टोसो की 'मुक्त जेरूसलम' नामक भावना प्रधान काव्य कृतियों ने जन-साधारण को बहुत प्रभावित किया।

अंग्रेजी साहित्य में चौदहवीं शताब्दी में लेखन प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व इंगलैण्ड के सम्पन्न लोग फ्रेंच तथा साधारण लोग सेक्सन भाषा में बोलते थे। धीरे-धीरे इन भाषाओं के महत्व में कमी ने इंगलैण्ड ने जर्मनिक तथा रोमन्स भाषा से प्रभावित नई भाषा 'अंग्रेजी' का उदय किया। सम्भवत: विलियम लेंगलैण्ड द्वारा लिखी 'विजन ऑफ पियर्स प्लोमेन' रचना प्रारम्भिक अंग्रेजी साहित्य की अच्छी रचना कही जा सकती है। पर प्रारम्भिक अंग्रेजी साहित्य की सबसे महान् विभूति कवि चौसर (1340–1400 ई.) था। उसकी प्रसिद्ध रचना 'कैण्टरबरी टेल्स' है जिसमें लोगों के वास्तविक गुण-दोषों का विनोद पूर्ण वर्णन किया गया है। चौसर के पश्चात् नवीन विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य जॉन कोलेट (1466–1519 ई.) ने किया। वैसे वह लन्दन स्थित सेंटपाल केथेड्रल का डीन था। सन्त पाल के विचारों पर आलोचनात्मक व्याख्यानों ने उसे विख्यात कर दिया। पुनर्जागरण काल के अन्य अंग्रेज साहित्यकारों में कवि एडमण्ड स्पेन्सर (1552–1599 ई.) फ्रांसिस बेकन (1561–1626 ई.), तथा महान् साहित्यकार विलियम शेक्सपियर (1564–1616 ई.) मुख्य हैं। स्पेन्सर की काव्य कृति 'फेयरी क्वीन' में मध्यकालीन मनोरंजन की स्थितियों के साथ-साथ मानव मन की स्थितियों की पारस्परिक संघर्षपूर्ण अवस्था की अभिव्यक्ति हुई है। वहां निबन्धकार बेकन ने 'द एडवान्समेंट ऑफ लर्निंग', तथा 'द न्यू अटलाण्टिस' में अपने वैज्ञानिक विचारों द्वारा नवीन दर्शन की स्थापना की। नाटककार, कवि शेक्सपियर तो मानववाद का ही भक्त था। उसकी कृतियों में समाज एवं मानव अभिव्यक्तियां कूट-कूट कर भरी हुई हैं।

फ्रेंच साहित्य में सर्वप्रथम फ्रायसर्ट (1339--1410 ई.) ने फ्रेंच भाषा में रचनाएं आरम्भ कीं। उसके बाद विलो (1331--1404 ई.) ने कविताएं लिखीं। किन्तु विशेष उल्लेखनीय फ्रेंच साहित्यकारों में रेबेलास (1494--1503 ई.) और मोत्ये (1533--1592 ई.) है। मोत्ये निबन्ध का प्रवर्तक था, उसने अपने निबन्धों में व्यक्तिगत संस्पर्शों और संस्मरणात्मक चित्रों को प्रस्तुत किया। रेबेलास या राबेल ने मध्यकालीन सामाजिक संस्थाओं की कट्टर आलोचना की थी। राबेल ने व्यंगात्मक शैली में सम्पन्न लोगों के अनाचार, पादरियों, अध्यापकों के अन्ध-

विश्वासी ज्ञान की अपनी कृतियों में खिल्ली उड़ाई और समाज परिवर्तन के संकेत किये। परन्तु फ्रेंच गद्य को प्रभावशाली बनाने का श्रेय धर्म सुधारक जॉन काल्विन (1509–1564 ई.) को है। इसने मानववाद को धर्म द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी और हालैण्ड (डच) साहित्य में स्पेन का 'सर्वान्तिस' (1547–1616 ई.) की 'डानाविजोट' में अलभ्य सपनों से संघर्ष करती हुई मानव जाति का चित्रण है। इसी प्रकार स्पेनी रंगमंच का जनक लोपेड़ी वेगे और कवि कैल्डेरन स्पेनिश भाषा के प्रसिद्ध साहित्यकार थे जिन्होंने स्पेन में लोगों को नई विचारधाराओं से अवगत कराया। पुर्तगाल में केमोन्स ने वास्को डी गामा की खोज पर 'लूसियाड' नामक महाकाव्य की रचना की। जर्मनी में रूडोल्फ एग्रीकोला और कोनार्ड केल्टस ने मानववादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। इसके पश्चात् लेटिन, ग्रीक व हिब्रू भाषा का ज्ञाता रियूकलीन और उसका भतीजा मेलांकथक ने जर्मन भाषा में अपने विचारों द्वारा मानववाद को पुष्ट किया। धर्म सुधार आन्दोलन के अग्रदूत मार्टिन लूथर ने बाईबिल का जर्मन में अनुवाद कर जर्मन साहित्य को अमूल्य योगदान दिया। हालैंड देश के रोटरडम नगर का निवासी इरैस्मस (1466–1536 ई.) अपने युग का सर्वप्रथम मानववादी था। वह यूरोप का प्रसिद्ध विद्वान था जिसके तत्कालीन कई यूरोपीय साहित्यकार मित्र थे। 'इन दी प्रेज ऑफ फॉली' (मूर्खता की प्रशंसा) में उसने व्यंगपूर्ण शैली में धर्माधिकारियों का उपहास उड़ाया। इरैस्मस ने बाईबल का शुद्ध अनुवाद भी किया था। उसने अपनी रचनाओं में अन्धविश्वास, असहिष्णुता, तथा अज्ञान के विरुद्ध लेखन का प्रयत्न किया, उसने निरंकुश अत्याचारी शासकों की आलोचना लिखी। वह विश्व शान्ति का समर्थक अपनी विद्वता और शालीनता से इतना अधिक लोकप्रिय था कि यूरोप के सभी विश्वविद्यालय और राजवंशीय लोग उसे आमन्त्रित करने में गर्व का अनुभव करते थे। इस प्रकार उसने अपनी विद्वता और प्रभाव द्वारा लोगों को नई धारा की ओर प्रेरित किया।

राजनीतिक साहित्य को भी पुनर्जागरण ने प्रभावित किया। इटली का राजनीतिक विचारक मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ 'दी प्रिन्स' में शासक की शक्ति की पुनर्स्थापना पर बल दिया है। उसने 'निरंकुश राजतन्त्र' द्वारा तत्कालीन शासकों को स्वेच्छाचारिता की ओर प्रेरित किया। इंगलैंड का टामस-मूर (1478-1535 ई.) अन्य राजनीतिक साहित्यकार था, जिसने अपनी पुस्तक 'यूटोपिया' द्वारा अपने युग के समाज और सरकार की हास्यपूर्ण आलोचना की। टामस मूर पर प्लूटो का प्रभाव था अतः वह इंगलैंड में श्रेष्ठ शासन प्रणाली की स्थापना में विश्वास रखता था। उसने अपने ग्रन्थ में ऐसे आदर्श की कल्पना की है जहां युद्ध, दरिद्रता, असहिष्णुता, और अन्याय नहीं है। इंगलैंड के ही पुनर्जागरण-

कालीन अन्य राजनीतिक चिन्तक और दार्शनिकों में हॉब्स का नाम भी है। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथां' राज की उत्पति का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। हाब्स राज्य की सार्वभौमिकता में विश्वास रखता था।

उपरोक्त तथा अन्य बहुत से लेखकों की रचनाओं का सामूहिक प्रभाव पड़ा कि लोगों में यूनानी व रोमन ग्रन्थों का अध्ययन करने तथा मानववाद को समझने की जिज्ञासा पैदा हुई। इसके साथ-साथ लौकिक-परलौकिक जीवन-सम्बन्धित मध्ययुगीन अन्धविश्वासों से आस्था मिटने लगी। मध्ययुगीन धार्मिक-अंकुश से दबी चिन्तन शक्ति का स्वतन्त्र विकास हुआ। यूनानी और लेटिन भाषा का साहित्यिक एकाधिकार टूटा और बोलचाल की भाषा में साहित्य सृजन हुआ। पुनर्जागरण काल में बोलचाल की दो भाषाओं का विकास हुआ रोमन, में साम्राज्य के भीतरी क्षेत्र में लेटिन से विकसित भाषा—रोमन्स कहलाई। इसमें इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा पुर्तगाली भाषाएं सम्मिलित थीं। रोम साम्राज्य की उत्तरी सीमा के पार क्षेत्रों में विकसित भाषा—जर्मनिक कहलाई। इसमें जर्मन, अंग्रेजी, नार्वेजियन, डच, स्वीडिस भाषाएँ सम्मिलित थीं। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण काल का महत्व पं. नेहरू के अनुसार आधुनिक साहित्य को सुन्दर स्वरूप प्रदान करने में है।

2. **कला के क्षेत्र में**—कला के क्षेत्र में भी पुनर्जागरण इटली में ही प्रारम्भ हुआ। मध्यकाल में कला धर्म के साथ जुड़ी हुई थी। मूर्ति और चित्रकला का ध्येय धर्म प्रचार करना था। चित्रकार भी नियमों में बंधे हुए, निर्धारित रंगो के अतिरिक्त अन्य का प्रयोग अपवित्र मानते थे। 14वीं शताब्दी में धर्म का स्थान सौन्दर्य और प्रेम ने लें लिया और वैराग्य की जगह आसक्ति कला पर छा गयी। कला में भौलिकता और यथार्थ दिखलाई देने लगा। 'चितेरों, तुम बुरा करते हो; तुम गिरजों में अहंकार लाते हो; तुम पवित्र मेरी (ईसु की माता) को ऐसी वेशभूषा में प्रस्तुत करते हो, मानो वह कोई सामान्य स्त्री हो" यह यथार्थता का एक उदाहरण है, जो एक रूढ़िवादी पादरी ने चित्रकारों को उनकी कला कृतियों पर फटकारते हुए कहा था। कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण मध्यकालीन परम्परा और नियमों के विरुद्ध एक विद्रोह था।

स्थापत्य या वास्तु कला में पुनर्जागरण के पूर्व गॉथिक शैली की प्रधानता थी। पुनर्जागरण काल में रोमनस्क (यूनान, रोम और अरब स्थापत्य शैलियों के विकास) शैली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इस शैली का सबसे सुन्दर उदाहरण रोम में निर्मित सन्त पीटर का गिरजाघर है। 16वीं शताब्दी का प्रमुख वास्तुकार माइकल एंजिलो (1475--1564 ई.) व रैफल (1483--1520 ई.) के निरीक्षण में इस गिरजाघर का निर्माण किया गया। एंजिलो तो अपने अन्तिम समय 90 वर्ष की

उम्र में भी इसे साकार करने में लगा रहा था। वेनिस में स्थित सन्त मार्क का गिरजाघर भी सन्त पीटर के गिरजाघर की अनुकृति है। रोमनस्क शैली के अनुसार भवनों में गुम्बद, मेहराब, बुर्ज, आश्रय आदि का निर्माण किया जाने लगा। खिड़कियां चौड़ी तथा रंग बिरंगे शिशों से युक्त होती थीं। इस शैली का जन्मदाता फ्लोरेन्स निवासी फिलियों ब्रुनेलस्की (1377--1446 ई) था। गिरजाघरों के साथ-साथ महलों और दुर्गों में नवीन स्थापत्य का प्रभाव उभरने लगा। इटली के वास्तुविदों ने फ्रांस में जाकर फ्रांसिसी स्थापत्य को भी प्रेरित किया। फ्रांस के सम्राट फ्रांसिसी प्रथम ने पेरिस में लुव या लूवर का प्रासाद बनवाया। इस प्रासाद में सफेद एवं नीले रंग का टेराकोटा कार्य देखते ही बनता है। नवीन शैली में हालैण्ड के वास्तुकार क्लाउस शलूटर द्वारा निर्मित 'वेल ऑफ मोसेज', स्पेन के सम्राट फिलिप तृतीय के संरक्षण में बना 'इस्कोरियल' प्रासाद, जर्मन का 'हैडेलबर्ग का दुर्ग', आदि मुख्य हैं। इंगलैण्ड में रोमनस्क शैली का प्रचार 17वीं शताब्दी में हुआ। 1669 ई. में ईनिगोजान्स नामक वास्तुकार ने ह्वाइट हॉल में जिस दावत-घर का निर्माण किया वह आज भी आश्चर्यजनक कृति मानी जाती है। यद्यपि पुनर्जागरण के कलाकार स्थापत्य के क्षेत्र में प्राचीन कला को पराजित नहीं कर सके फिर भी इस काल में सादगी और मिश्रित कला को स्थापित करने में उन्होंने आधुनिक कला को नवीनता अवश्य प्रदान की थी।

मूर्तिकला में भी 'कला-कला के लिये' की भावना से मानव जीवन और प्रकृति ने प्रवेश किया। दोनातेलो (1386--1466 ई.) ने सर्वप्रथम धर्म के क्षेत्र से बाहर निकल कर बालकों, मनुष्य के सिरों तथा आदमकद मूर्तियों का निर्माण शुरू किया। फ्लोरेन्स निवासी इस कलाकार की श्रेष्ठ कृति वेनिस के सन्त मार्क की आदमकद मूर्ति है। माईकल एंजिलो भी इस काल का महान मूर्तिकार था जिसने ठोस संगमरमर को तराश कर दाऊद और मसा की मूर्ति और बाईबिल से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण किया। मूर्तिकार लोरेंजो गिबर्टी (1375--1455 ई.) ने फ्लोरेंस के बेप्टिस्ट्रि धर्म संस्कार-बप्तिसमा का भवन के दो दरवाजों पर अद्भुत नक्काशी के कार्य से माईकल एंजिलो को कहने के लिए बाध्य कर दिया कि—"यह द्वार तो स्वर्ग में रखने योग्य है।" दरवाजे कांसे के हैं, और इन द्वारों के दस लम्बे फलकों में प्रत्येक फलक पर बाईबिल की कहानी सुन्दर नक्काशी में उत्कीर्ण है। गिबर्टी को इस कार्य को करने में 20 वर्ष लगे। डॉन्टेलो भी 15वीं शती का श्रेष्ठ मूर्तिकार था। इटली के फ्लोरेन्स नगर में स्थित सन्त माईकल के गिरजाघर में रखी हुई जार्ज की प्रतिमा इस वास्तुविद् मूर्तिकार की श्रेष्ठ कृति मानी जाती है।

चित्रकला के क्षेत्र में मध्यकालीन चित्रकारी का माध्यम दीवार था। इन भीत-चित्रों में प्रयुक्त रंग कच्चे और अल्पायु होते थे। पुनर्जागरण काल में चित्रों

का माध्यम कपड़ा, कागज, लकड़ी तथा तांबे के पत्तरे होने लगे। इसके साथ रंगों में तेल तथा अण्डे की जर्दी के प्रयोग ने चित्रों को लम्बे अन्तराल तक स्थायीत्व प्रदान किया। सर्वप्रथम बियटो (1336 ई. के लगभग) ने परम्परागत बाइन्जेनटाइन शैली के स्थान पर प्राकृतिक क्षेत्र को माध्यम बनाकर चित्रकला को नई दिशा दी। यद्यपि उसके चित्रों में पृष्ठभूमि अपरिपक्व थी फिर भी 14वीं शताब्दी के चित्रकारों पर उनकी कला का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। 15वीं शती के चित्रकारों ने इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया। इसीलिये प्रकाश, छाया, रंग समन्वय, आकृति का यथार्थ चित्रण आदि इस काल की विशेषता रही। मध्यकालीन चित्रकारों ने मानव चेहरों, हाथों, केश-विन्यासादि का अंकन तो किया परन्तु वस्त्रों के नीचे मानव शरीर की रचना का मूल्यांकन उनसे नहीं हो पाया। पुनर्जागरण-कालीन कलाकारों ने इस कमी को भी दूर किया। फ्लोरेन्स नगर के मेसाक्सियो (1401--1429 ई.), फ्रा एंजिलको (1378--1455 ई.), बोटीशैली (1444--1510 ई.) आदि ने नई शैली का मार्गदर्शन किया। अतः इनकी चित्रकला की शैली को 'फ्लोरेन्स शैली' भी कहा जाता था। इस शैली के अतिरिक्त अन्य शैलियों का विकास हुआ, जिनमें पीएट्रो पेरूजिनो (1446--1526 ई.) की उम्ब्रीयन शैली, और टिटियन (1477--1576 ई.) की वेनेशियन शैली मुख्य थी।

लियोनार्डो डा विंची (1452--1519 ई.) पुनर्जागरण काल की महान विभूति था। इस कलाकार ने उपरोक्त सभी शैलियों से भिन्न स्वकला का निर्माण किया। विंची के चित्र सादगी और भाव से भरे पड़े हैं। उसने अपने चित्रों में रंगों का सुन्दर चयन, प्रकाश और छाया में निपुण अभिव्यक्ति, शरीर के अंग-प्रत्यंगों का स्पष्ट, आकर्षक और मन को छूने वाला चित्रण किया है। वह समय से आगे सोचने वाला प्रयोग कर्त्ता चित्रकार और कल्पनाशील प्राणी था। उसके चित्रों में कुछ चित्र प्राप्य हैं, जो उसकी कला के प्रतिमान हैं। 'लास्ट' सपर (अन्तिम भोज) और 'मोनोलिसा' आज भी विश्व के श्रेष्ठ चित्रों में स्थान रखते हैं।

माइकल एंजिलो का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। बहुमुखी प्रतिभा का धनी एंजिलो ने स्थापत्य और मूर्ति कला के साथ साथ चित्रकला के क्षेत्र में भी नई दिशा प्रदान की थी। वेटिकन के पोप महल में सिस्टाईन शैपल की छत की चित्रकारी दर्शनीय है जिसे बनाने में एंजिलो ने 5 वर्ष लगाये। इसके चित्रों में 'लास्ट जजमेन्ट' (अन्तिम निर्णय) चित्र विश्व के श्रेष्ठ चित्रों में स्थान रखता है। घोर निराशा और वेदना को अभिव्यक्त करने वाले इस चित्र में व्यक्ति को भय और आशंका से ग्रस्त ईश्वर दया के प्रति निराश दिखलाया गया है।

राफेल जो कि वास्तुविद् और कवि था। चित्रकारी के क्षेत्र में इसके चित्र सुन्दरता, मातृत्व, वात्सल्य और भक्ति की प्रधानता लिये हुये हैं। समन्वयात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से एंजिलो से भी इसके चित्र श्रेष्ठ हैं। 'कोलोना मेडोना' नामक

चित्र उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। यह महान कलाकार 37 वर्ष की अल्पायु में ही संसार से चला गया। राफेल के समान पोर्ट्रेट (चेहरे) बनाने वाले अन्य चित्रकारों में इटली का तिशन (1477--1576 ई.) सर्वोपरि था। यह कलाकार हल्के रंग के प्रयोग द्वारा चित्रों में आकर्षण पैदा कर देता था। वेल्जियम के वान तथा आइक बन्धुओं ने रंगों के मिश्रण में तेल का प्रयोग कर कला को स्थायी बनाया (इसके पूर्व अण्डे की जर्दी का प्रयोग होता था)। वेल्जियम के फ्रांज हाल्स, वान रिन आदि ने प्रोर्ट्रेट में ख्याति अर्जित की वहां जर्मन के डयोरीर एवं हेन्स दाल्वीन ने लकड़ी तथा तांवे के पत्तरों पर आश्चर्यजनक चित्रांकन किया।

संगीत कला में भी नवीन वाद्य यन्त्रों के आविष्कार-हार्प्सीकार्ड (पियानो का प्राचीन रूप) तथा वायलिन के लिये, तथा स्वर संगीत की प्रधानता के लिए पुनर्जागरण काल याद रहेगा। पुनर्जागरण के पूर्व स्वर संगीत वर्जित था। संगीत के क्षेत्र में पुनर्जागरण के प्रभाव से धार्मिक तथा लौकिक संगीत का भेदभाव समाप्त होने लगा। वहां एक गायक की ध्वनियों द्वारा संपादित की जाने वाली दो प्रकार की लम्बी नाटकीय रचनाओं की शैली को जन्म दिया। एक का नाम 'ओपेरा' तथा दूसरे को 'ओरतोरिये' (परिकीर्तन) कहते थे। ओपेरा में साधारणतः सांसारिक विषयों से सम्बन्धित नाटकों में अभिनय, वेशभूषा, गायन, दृश्यावली आदि का समावेश रहता था। सर्वप्रथम 1594 ई. में ओपेरा का प्रस्तुतीकरण किया गया था। ओरतोरियो का विषय शुद्धतः धार्मिक होता था जिसमें कार्य व्यापार, वेशभूषा और दृश्यावली का प्रयोग नहीं होता था। लम्बे-लम्बे गीतों के साथ-साथ छोटे-छोटे प्रेम-गीतों का प्रचार भी इस काल में प्रारम्भ हो गया था। मास्किनदस और गिओवानी पालेस्ट्राईन इस युग के प्रसिद्ध संगीतकार थे। पालेस्ट्राईन ने तो 1554 ई. में सामूहिक संगीत पर एक पुस्तक भी लिखी जिसका महत्व आज भी पश्चिमी देशों में बना हुआ है।

3. **विज्ञान के क्षेत्र में**—मध्ययुगीन-विज्ञान, चर्च और धर्म द्वारा प्रदत्त जादू-टोनों अन्धविश्वासों और रूढ़िगत मान्यताओं का 'वि-ज्ञान' था। इसका एक उदाहरण यहां समझने के लिए काफी है—"दूसरी शताब्दी में मिश्र के यूनानी खगोल शास्त्री टॉलेमी ने यह प्रतिपादित किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी है और सूर्य, चन्द्र, तारे तथा अन्य ग्रह पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। ईसाई-चर्च ने इस सिद्धान्त की सत्यता पर छाप लगा दी अतः शताब्दियों तक लोगों को यही पढ़ाया जाता रहा किन्तु पुनर्जागरण-कालीन पोलैण्ड के वैज्ञानिक निकोलस कोपर्निकस (1473--1543 ई.) ने जब इसके विपरीत दृढ़ता से बतलाया कि सूर्य हमारे इस ग्रह-मण्डल की नाभि है तथा पृथ्वी भी अन्य ग्रहों के समान एक ग्रह है जो

सूर्य की परिक्रमा करते हैं। चर्च ने कोपर्निकस के सिद्धान्त को बाईविल और चर्च के विरुद्ध घोषित करते हुए खिल्ली उड़ाई कि यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तो मनुष्य लुढ़कता क्यों नहीं ? पोप के आदेश से निकोलस कोपर्निकस को अपना प्रचार बन्द करना पड़ा। जब इटली के अन्य वैज्ञानिक जाइडिनी ब्रूनो (1548--1600 ई.) ने कोपर्निकस के सिद्धान्त को सत्य बतलाते हुए उसका समर्थन किया तो पोप की आज्ञा से उसे प्राण दण्ड दिया गया। बाद में जर्मन वैज्ञानिक केप्लर ने भी कोपर्निकस के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए गति सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो आधुनिक गणित के आधार सिद्ध हुए। इन उदाहरणों से पता चलता है कि नवीन दिशा के क्षेत्र में धार्मिक बर्बरता और अत्याचार कितना व्यापक था। फिर भी वैज्ञानिक प्रगति के प्रति उत्साहित वैज्ञानिक लगे रहे। इनका उत्साह उस नवीन प्रेरणा के अन्तर्गत था जो कि रोजर बेकन द्वारा प्रस्तुत की गई थी। बेकन के निरीक्षण, अन्वेषण, जांच परीक्षण के मापदण्डों पर चलते हुए उसके बाद के वैज्ञानिकों ने महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की थीं। अतः विज्ञान के क्षेत्र में रोजर बेकन प्रथम वैज्ञानिक था जिसने नवीन विचारों के लिये अरस्तु के 'तर्क' के स्थान पर अरस्तु द्वारा इंगित 'प्रयोग' को अपने मापदण्डों से वैज्ञानिकता प्रदान की। बेकन ने एक साधारण सूक्ष्मदर्शी का निर्माण किया एवं धातुओं तथा रसायनों पर भी प्रयोग किये। उसने विज्ञान के आविष्कार में बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया जो आने वाले वैज्ञानिकों के मार्ग दर्शक बने।

खगोल एवं भूगोल के क्षेत्र में कोपर्निकस, ब्रूनो तथा केप्लर का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इटली के गेलीलियो (1564--1642 ई.) ने भी दूरदर्शी यन्त्र का आविष्कार किया जिससे 50 मील दूरी के जहाजों को स्पष्टता से देखा जा सकता था। इस यन्त्र (दूरबीन) से ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन में भी बहुत सहायता मिली। गेलीलियो अच्छा वक्ता और लेखक था। उसने कोपर्निकस के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए बतलाया कि उसने वृहस्पति ग्रह के चन्द्रमा और वृहस्पति को अपनी धुरी पर घूमते देखा है। गेलीलियो को चर्च की अदालत ने आदेश दिया कि वह मिथ्या प्रचार बन्द कर दे अथवा उसे आजीवन कारावास भोगना पड़ेगा। इस प्रकार गेलीलियो को नवीन विचारों के प्रचार करने से रोक दिया गया फिर भी वह कभी-कभी फुसफुसाता था—"किन्तु पृथ्वी तो घूमती ही है।"

भौतिक शास्त्र में भी गेलीलियो ने कार्य किया। अरस्तु के सिद्धान्त अनुसार पूर्व में प्रचलित था कि गिरने वाली वस्तु की गति भार पर निर्भर करती है। गेलीलियो ने यह सिद्ध किया कि गति भार पर नहीं अपितु दूरी पर निर्भर करती है। 1593 ई. में चर्च के झूलते हुए दीपक को देखकर पेण्डूलम का नियम खोज निकाला। फलतः घड़ियां बनने लगीं। इस क्षेत्र में आइजक न्यूटन (1642--1727

ई.) के कार्य भी सराहनीय रहे। न्यूटन इंगलैण्ड का गणितज्ञ था जो 27 वर्ष की अल्पायु में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। भौतिक विज्ञान की सभी शाखाओं पर न्यूटन के विचारों का प्रभाव पड़ा। इसका 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त' विश्व को अमूल्य देन है। यह सिद्धान्त उसने अपनी पुस्तक 'प्रिंसीपिआ' (1687 ई.) द्वारा प्रस्तुत किया था। उसने प्रकाश-किरणों के स्पेक्ट्रम के छः रंगों में बंट जाने का भी अध्ययन किया।

गणित के क्षेत्र में ज्योतिष शास्त्र, भौतिकी आदि पर उपरोक्त वैज्ञानिकों ने कार्य किया था किन्तु शुद्धतः गणित के क्षेत्र में प्रथम नाम देस्तकार्तेस (देकार्ते) नामक फ्रांसीसी गणितज्ञ और दार्शनिक का नाम आता है। उसने बीज गणित का उपयोग ज्यामिति में कैसे किया जाये, लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया। तारतगलियो (1522--1563 ई.) नामक विद्वान ने घन समीकरण सिद्धान्त, केप्लर ने शंकु संबंधी नियम, नेपियर ने प्रतिफलन सिद्धान्त, तथा स्टेविन ने दशमलव पद्धति के प्रयोग जनसाधारण के सम्मुख रखते हुए गणित शास्त्र को उन्नत किया।

रसायन शास्त्र में वॉल हेलमॉट ने 1630 ई. में कार्बन डाई आक्साइड गैस को खोज निकाला। उसने यह सिद्ध किया कि हवा और गैस अलग अलग पदार्थ हैं। कोर्डस नामक रसायनशास्त्री ने गन्धक और अलकोहल को मिलाकर ईथर का निर्माण किया। गैसों के विस्तार पर राबर्ट बाइल नामक विद्वान ने कार्य कर बाइल सिद्धान्त की स्थापना की।

चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से भी पुनर्जागरण काल में प्रगति हुई। 1543 ई. में नीदरलैंड के पेपेंडियम (1516--1564 ई) ने "मानव शरीर की बनावट" नामक एक पुस्तक लिखी। व्यावहारिक ज्ञान (Practical Knowledge) की दृष्टि से इंगलैंड के विलियम हार्वे (1579–1657 ई.) ने पता लगाया कि हृदय ही रक्त का शरीर में संचार करता है और शुद्ध रक्त बनाता है। यद्यपि इसके पश्चात् भी अनुसंधान चलते रहे और आज भी कार्य चल रहा है किन्तु पुनर्जागरण काल की दृष्टि से महत्वपूर्ण वैज्ञानिक और उनके कार्यों की सूचना मात्र यहां प्रस्तुत की जा सकी है।

पुरातत्व शास्त्र और इतिहास तथ्य के क्षेत्र में भी पुनर्जागरण काल में प्राचीन स्मारकों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। 15वीं शताब्दी में फलेसियो ने "रोम स्टोर्ड" नामक पुस्तक लिखी। इससे प्राचीन सभ्यता के ऐतिहासिक तथ्य उजागर हुए। मेकियावली ने तथ्यों पर आधारित "फ्लोरेन्स का इतिहास" लिखा। इस प्रकार इतिहास में भी तर्क और तथ्य के समावेश ने अनेक ऐतिहासिक सत्यों का उद्घाटन किया।

4. भौगोलिक यात्राएँ—पुनर्जागरण काल जहां साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में नवीन विचारों का प्रेरक रहा वहां 'जिज्ञासा' को प्रदर्शित कर

साहसी व्यक्तियों के लिये भौगोलिक यात्राओं का माध्यम भी बना। ज्ञान विज्ञान की समृद्धि नित्य ही क्षेत्र विस्तार को प्रेरित करती है। चाहे यह क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक अथवा बौद्धिक हो। यूरोप में पुनर्जागरण ने राष्ट्रों को प्रसार की ओर प्रेरित किया। प्रारम्भ में यह प्रसार ईसाई धर्म को फैलाने की दृष्टि से बौद्धिक, फिर व्यापार की दृष्टि से आर्थिक तत्पश्चात् राजनीतिक प्रसार के रूप में स्थापित हो गया। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि जल मार्ग की आवश्यकता ने भी यूरोप को भौगोलिक यात्राओं के प्रति उत्सुक किया था। इस दौड़ में सर्वप्रथम पुर्तगाल फिर स्पेन ने भाग लिया। बाद में तो यूरोप के कई देश प्रतिस्पर्धी बन गये। इन यात्राओं का लाभ यह रहा कि जल मार्गों का आविष्कार हुआ साथ ही साथ नवीन द्वीपों का पता भी लगा। फलतः विश्व का प्रसार हुआ। कुतुबनुमा (दिशा सूचक यन्त्र), सूक्ष्म दर्शक यन्त्र, मान चित्रों आदि के ज्ञान ने इन यात्राओं के प्रति नाविकों को उत्साहित किया। सर्वप्रथम नाविक सम्राट हेनरी (1364--1460 ई.) ने नाविकों को प्रशिक्षण देने हेतु एक स्कूल की स्थापना की। उसके स्वसंरक्षण में पुर्तगाली नाविकों ने अजोरज, मदीरा, केपवर्दी आदि स्थानों का पता लगाया। उसकी मृत्यु के पश्चात भी यात्राओं का क्रम चलता रहा। भौगोलिक अनुसधान के क्षेत्र में **वास्को डी गामा** का नाम प्रमुख है। उसने यूरोप को जल मार्ग द्वारा भारत से (1498 ई. में) मिला दिया। तत्पश्चात् स्पेनी नाविक **कोलम्बस** का नाम आता है। वह भारत की ओर यात्रा के उद्देश्य से अमेरिका के 'बहामा द्वीप समूह' पर पहुंच गया। उसकी खोज ने अमेरिका का मार्ग प्रशस्त कर दिया तथा आगे चलकर अमेरिगो ने अमेरिका ढूंढ निकाला। **फर्डिनांड मेगेल्लन** प्रथम पुर्तगाली (किन्तु स्पेन के शासक का सेवक) था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा का पहला प्रयास किया। उसके प्रयास स्वरूप पृथ्वी का आकार निश्चित हुआ और अमेरिका महाद्वीप है सिद्ध हुआ। 1497 ई. तथा 1524 ई. के पश्चात् क्रमशः इंगलैंड और फ्रांस भी इस दौड़ में उतरे किन्तु 16वीं शताब्दी के पश्चात् इन यात्राओं में राजनीतिक प्रसार की लालसा तीव्र गति से बढ़ने लगी और परिणामस्वरूप स्पेन-इंगलैंड में सामुद्रिक युद्ध भी लड़े गये।

भौगोलिक खोजों ने राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राष्ट्रों के अन्य खर्चो को बढ़ा दिया। यूरोप के द्वारा उपनिवेशों में बर्बर अत्याचार प्रारम्भ हुए। दास व्यापार में वृद्धि हुई। साम्राज्यवाद के प्रचार ने राष्ट्रों को गुट बन्दी और युद्ध-संधियों में विभाजित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार पुनर्जागरण जहां नई दुनिया को देखने के लिये एक भौगोलिक प्रयत्नों में संलग्न हुआ वहां उसका परिणाम मानव जाति द्वारा मानवता का पतन भी इससे सम्भव बना।

पुनर्जागरण के परिणाम

उपरोक्त कारण, प्रगति, क्षेत्र और प्रभाव के वर्णन करते हुए परिणाम स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं फिर भी पुनर्जागरण के महत्व को जानने के लिए उसके परिणामों का विवेचन आवश्यक है—

1. पुनर्जागरण काल में 'ज्ञान एवं संस्कृति', मध्यकाल के चर्च, धर्म और सामन्तवाद से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप में विकसित होने लगी। लोगों में ज्ञान की भूख इतनी तीव्रता से उठी कि साहित्य का माध्यम लोक भाषा द्वारा जन साधारण के निकट पहुँच गया। इस प्रकार पुनर्जागरण ने लोक भाषा को बढ़ावा दिया वहां ज्ञान विज्ञान पर धर्म का प्रभाव क्षीण होने लग गया।

2. जीवन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदल गया। वे जीवन को नई दृष्टि से देखने लगे। इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विकास हुआ। देवत्व और आध्यात्मिकता के स्थान पर मानवता को प्रमुखता दी जाने लगी। आत्मनिग्रह और वैराग्य के आदर्श प्रभावहीन हो गये।

3. मध्यकालीन संस्कृति का बहिष्कार होने लगा और यूरोपवासियों में अति प्राचीन विश्व के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। प्राचीनकाल का अध्ययन प्रतिक्रियात्मक ढंग से प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में यूनान और रोम का अनुसरण किया गया न कि 'निकट प्राचीन काल' का।

4. धार्मिक अन्धविश्वासों के स्थान पर तर्क और बुद्धि की प्रधानता स्थापित होने के कारण ईसाई धर्म में प्रचलित प्रथाओं, रूढ़ियों का महत्व घटने लगा वहां जन साधारण धर्म के ठेकेदारों के चंगुल से निकलने में सफल होने लगा।

5. राजनीतिक दृष्टि से यूरोप में सामन्तवाद का पतन हुआ। इसके स्थान पर शक्तिशाली राजतन्त्र का उदय हुआ। इससे संयुक्त यूरोप कई राष्ट्रीय राज्यों में विभक्त हुआ और उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने लगी।

6. राजनीतिक क्षेत्र में पोप का हस्तक्षेप समाप्त होने लगा। लोगों में धारणा घर करने लगी कि राज्य ईश्वर कृत नहीं होकर मानव निर्मित है।

7. व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी, जनता शिक्षित होने लगी। इससे कुलीन वंशीय लोगों की महत्ता और सम्मान में कमी आने लगी।

8. भौगोलिक खोजों ने जहां उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को जन्म दिया वहां पूंजीवाद को भी पनपाया। फलतः विश्व में नवीन समस्याओं का जन्म हुआ, उदाहरण रूप में—राष्ट्रीय आन्दोलनों का जन्म हुआ।

9. पूंजीवादी व्यवस्था ने समाज में मध्यम वर्ग की स्थापना की। यह वर्ग शोषक और भाग्य नियन्ता बनने लग गया।

10. लोगों के जीवन स्तर में भी परिवर्तन हुआ। लोगों का रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद के ढंग बदल गये।

11. पुनर्जागरण की नई दिशा ने धर्म के प्रति नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। फलतः धार्मिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार विज्ञान के नवीन आविष्कारों ने औद्योगिक क्रांति का प्रसार किया।

इस प्रकार पुनर्जागरण एक प्रकार से समग्र क्रांति थी, जिसने आधुनिक विश्व सभ्यता और संस्कृति की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

3

धर्म सुधार आन्दोलन

ईसा की तीसरी शताब्दी में निकीया की परिषद ने उन ईसाइयों को जो ईसा की दिव्यता और चमत्कारों को नहीं मानते थे, नास्तिक कह कर निन्दा की। यहीं से चर्च में आन्तरिक मतभेद बढ़ते गये और चर्च की दोनों शाखाओं-ग्रीक आर्थोडोक्स चर्च तथा रोमन कैथोलिक चर्च में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। ग्याहरवीं शताब्दी में पूर्वी यूरोप का कुस्तुनतुनियां स्थित चर्च रोमन कैथोलिक से अलग हो गया। इसके पश्चात् रोम स्थित रोमन कैथोलिक चर्च पश्चिमी यूरोप का प्रधान केन्द्र बन गया। जब तुर्कों ने कुस्तुनतुनियां और पूर्वी यूरोप के अनेक प्रदेशों पर अपना राजनीतिक-प्रभुत्व स्थापित कर दिया तो आर्थोडोक्स चर्च का प्रभाव यूरोप में कम होने लगा। वही रोम के चर्च का प्रभाव बढ़ने लगा। रोमन कैथोलिक चर्च के इस विस्तृत प्रभाव ने सांसारिक सत्ता के साथ-साथ यूरोप की राजनीति में भी हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया। पोप द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने पर ही शासक को शासन का अधिकारी माना जाता था। इस प्रकार राज्य के प्रत्येक कार्य में पोप का हस्तक्षेप ईश्वरीय कार्य के रूप में देखा जाता था। पोप के परामर्शक कार्डीनल, उनके अधीन प्रत्येक राज्य के एक-एक आर्क बिशप तत्पश्चात् धर्म-प्रान्तों के धर्माधिकारी बिशप, चर्च की जिला इकाई के प्रधान प्रीस्ट और गांव-गांव में जनसामान्य पादरी 'लोइटी' कहलाते थे। यह सभी धर्माधिकारी पोप की सत्ता को स्थान-स्थान पर सुरक्षित रखते हुए धर्म के नाम पर प्राप्त द्रव्य और जागीरों का उपभोग करते थे। इस प्रकार सत्ता पर धर्म के अधिकार और अनियंत्रित सम्पदा पर चर्च के प्रभुत्व ने पोप और उसके धर्माधिकारियों की सादगी में वैभव का चमत्कार उत्पन्न करना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप पोप का पद और चर्च का जीवन दूषित होने लगा। आध्यात्मिक और नैतिक जीवन के स्थान पर भौतिक जीवन की आवश्यकताओं के प्रति पोप और पादरी लालायित रहने लगे। धर्म प्रचार का स्थान व्यभिचार, अनाचार, भ्रष्टाचार और हिंसा ने ले लिया। कई सात्त्विक संतों ने पोप की प्रभुसत्ता को चुनौति भी दी किन्तु उनको पोप की आज्ञा से जला दिया

गया। पोप के राजनीतिक अंकुश से तंग शासकों ने भी पोप की सत्ता का विरोध करने की ठानी पर पोप ने उनके विरुद्ध सामन्तों और जन-आक्रोश को भड़का कर उन्हें ठंडा कर दिया। ऐसे समय (1305 ई.) में फ्रांसीसी सम्राट चार्ल्स को जब पोप ने अपनी पत्नि को तलाक नहीं देने दिया तो सम्राट ने पोप को बन्दी बना लिया। पोप लगभग 70 वर्ष तक अविग्नों (फ्रांस के एक नगर) में फ्रांस के शासक का सामन्त बन कर रहा। इस प्रकार यूरोप के अन्य शासक भी सोचने लगे कि फ्रांस का सम्राट पोप की नियुक्ति कर सकता है तो वह क्यों नही ? 1378 ई. में पोप का 'बेबीलोनियन बन्दी-काल' समाप्त हुआ। पोप ग्रेगोरी की मृत्यु के पश्चात् कार्डिनलों ने उरबन छठे को पोप निर्वाचित किया परन्तु शीघ्र ही उसके क्रूर-कृत्यों से फ्रांसीसी कार्डिनल रोम से भाग कर नेपल्स चले गये, जहां उन्होंने क्लीमेन्ट सप्तम को पोप घोषित कर दिया। इस तरह यूरोप में पुनः दो पोप हो गये—अरबन (उरबन) का केन्द्र रोम और क्लीमेन्ट का एविगनन (फ्रांस) में था। एक को रामन पादरियों, इंग्लैण्ड, फ्लैण्डर्स, स्केन्डेनेवियन देशों का तो दूसरे को फ्रांस और फ्रांस के मित्र देशों स्पेन, नेपल्स, सिसली और स्काटलैण्ड का समर्थन प्राप्त था। यह स्थिति 1417 ई. तक बनी रही। अन्ततः सर्वसम्मति से मार्टिन पंचम को पोप निर्वाचित किया गया। इस घटना से लोग सोचने लगे कि ईश्वर के दूत का निर्वाचन यदि शासक द्वारा हो सकता है, ईश्वर का दूत रोम, इटली (पोप सिकन्दर पचम 1409 ई.) में फ्रांस में, अलग अलग व्यक्ति के रूप में विभाजित हो सकता है तो ईश्वर का दूत उनके द्वारा भी निर्वाचित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में चर्च की शक्ति के प्रति लोगों की आशंकाएं उठने लगीं।

13वीं शताब्दी में धार्मिक विद्रोह—पोप इन्नोसेन्ट तृतीय के समय में दक्षिणी फ्रास में चर्च के कुछ सिद्धान्तों के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह हुए। एक व्यक्ति एल्बिग ने सस्कारों (सैक्रामेन्ट) के महत्व को मानने से इन्कार करते हुए पोप के कृत्यों के विरुद्ध आवाज उठाई। उसने पादरियों पर सांसारिक होने का आरोप लगाते हुए एक अलग चर्च का गठन किया। पोप ने इन धर्म द्रोहियों को समाप्त करने हेतु धर्म योद्धा भेजे, जिन्होंने एल्बिगेन्स और उसके अनुयाईयों को कुचल डाला। एल्बिग के अनुयाई एल्बिगेन्स कहलाये। यह विद्रोह समाप्त भी नहीं हुआ था कि पादरी वाल्देन्स के नेतृत्व में दूसरा विद्रोह भी दक्षिणी फ्रांस में प्रारम्भ हो गया। वाल्देन्स का कहना था कि पोप जो कहता है वह सत्य नहीं है अपितु बाईबिल ही सत्य है। उसने चर्च के वैभव और चर्च की सत्ता का विरोध किया फलतः पोप के आदेशों से उसे भी जीवित जला दिया गया। इसके अनुयाई 'वाल्देनसीयन' कहलाये। 13वीं सदी के यह विद्रोह दबा दिये गये परन्तु इन दोनों विद्रोहों की क्रांति ने लोगों को धर्म सुधार के प्रति अवश्य प्रेरित कर दिया।

14वीं और 15वीं सदी में धर्म सुधार के प्रयत्न:—फ्रांस के समान इंगलैण्ड में ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर पादरी वाइक्लिफ (1320–1384 ई.) ने भी चर्च की बुराईयों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उसने घोषित किया कि पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है तथा भ्रष्ट और विवेकहीन पादरियों द्वारा दिये जाने वाले धार्मिक उपदेश व्यर्थ हैं। बाइबिल ही सच्ची पथ-प्रदर्शक है। उसने यह भी मांग रखी कि चर्च की विपुल सम्पदा पर राज्य का अधिकार होना चाहिये और सत्ता से चर्च का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। उसने अंग्रेजी में अनुवादित बाइबिल पढ़ने के लिये लोगों को प्रोत्साहित किया। उसके क्रांतिकारी विचारों के विरोध में धर्माधिकारियों द्वारा उसे धर्म-द्रोही घोषित किया गया। परन्तु सामान्य जनता में उसकी लोकप्रियता देखकर उसके विरुद्ध कोई कठोर कार्यवाही नहीं की गई और मात्र क्षमा मांगने पर उसे छोड़ दिया गया। उसे विश्वविद्यालय से त्यागपत्र देने के पश्चात् एकान्तवास में रहना पड़ा। किन्तु उसके शिष्य लोलार्दो ने वाईक्लिफ की क्रांति को निरन्तर रखा। उसने प्रचार किया कि सभी मनुष्य समान हैं, कुछ लोग (धर्म के अधिकारी) धन को दबाये हुए हैं वह अनुचित है जबकि अधिकतर लोग गरीब हैं। उसने धर्मयुद्ध और युद्ध का विरोध किया जिससे धनवानों को लाभ और निर्धनों को नुकसान होता है। फलतः गरीब और किसानों ने चर्च व अमीरों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। शासक ने लोलार्दो और उसके अनुयाईयों को देशद्रोही और चर्च ने पाखण्डी घोषित करते हुए जीवित जला दिया। इतने पर भी ईसा के अनुयाई पोप को शान्ति नहीं मिली और 1415 ई. में वाईक्लिफ की लाश को कब्र से निकाल कर पाखण्डी घोषित करते हुए जला दिया गया और उसकी राख नदी में बहा दी गई। इस प्रकार लोलार्दो और वाइक्लिफ को 1415 ई. में जलाने से पोप ने मान लिया कि अन्य स्थानों के धार्मिक-विद्रोह दब जायेंगे परन्तु बोहेमिया निवासी प्राग विश्वविद्यालय का प्राध्यापक जॉनहस (1369–1415 ई.) भी वाइक्लिफ के विचारों का प्रचार कर रहा था। उसे 1414 ई. में चर्च की महान-परिषद् के सन्मुख अपने विचारों को पुष्ट करने बुलाया गया। यद्यपि वह परिषद के सामने शासक द्वारा सुरक्षा के आश्वासन पर गया था किन्तु उसे गिरफ्तार कर चर्च की निन्दा तथा नास्तिकता के प्रचार करने के आरोप में जिन्दा जला दिया गया। उसकी मृत्यु ने सम्पूर्ण बोहेमिया में सशस्त्र विद्रोह को जन्म दिया। क्योंकि जॉन हस बोहेमिया में जर्मन पादरियों की नियुक्ति का विरोधी और राष्ट्रीय चर्च की स्थापना का पक्षपाती था। चेक लोग एक तरफ थे तो दूसरी ओर जर्मन सम्राट और पोप एक ओर। कई वर्षों तक भयंकर संघर्ष के पश्चात् 1436 ई. में पोप ने हस के अनुयाईयों से समझौता करते हुए लेटिन चर्च के उपर किये गये कई आक्षेपों को स्वीकार कर उन्हें दूर करने का वचन दिया।

हुसवादियों के पश्चात् फ्लोरेन्स नगर (इटली) के एक विद्वान पादरी तथा राजनीतिज्ञ सेवोनारोला (1452–1498 ई.) ने नवीन विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उसने तात्कालीक नैतिकता और राजनीति दोनों की आलोचना की उसके जोशीले-भाषणों से लोग प्रभावित होने लगे और वह लोकप्रिय होने लग गया। फ्लोरेन्स के स्वतन्त्र स्वामी लोरेन्जो की मृत्यु के बाद सेवोनारोला नगर का शासक बना। अब उसने चर्च के भ्रष्ट नियमों और कार्यों के सुधार पर बल देना शुरू कर दिया। पोप अलेक्जेन्डर षष्ठ ने उसे इस प्रचार को बन्द करने की आज्ञा दी परन्तु सेवोनारोला ने इसे ठुकरा दिया। इस पर उसे भी चर्च की महान् परिषद के सम्मुख बुलाया गया और चर्च-निन्दा के आरोप में जीवित जला दिया गया। सेवोनारोला के काल में ही हालैण्ड निवासी इरेस्मस (1466–1536 ई.) हुआ था। पुनर्जागरण में इसके व्यक्तित्व का उल्लेख हो चुका है फिर भी धर्म सुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तकों में इसका नाम सम्मिलित होने से इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। इरेस्मस ने अपनी पुस्तक 'मूर्खत्व की प्रशंसा' में पादरियों व धर्माधिकारियों की अज्ञानता तथा लोगों के धर्म के प्रति अंधविश्वासों की मूर्खता को अप्रत्यक्षतः लिखा। उसके व्यंग, आलोचना और उपहास शैली को शिक्षितलोगों ने बड़ी रुचि के साथ पढ़ा और मनन किया। इरेस्मस ने ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रचार हेतु न्यू टेस्टामेन्ट का शुद्ध सस्करण निकाला और धर्म की उत्पत्ति की सही व्याख्या लोगों के सम्मुख रखी। इससे धर्मशास्त्रियों की बड़ी-बड़ी भूलें स्पष्ट होने लगीं। यद्यपि सर्वसाधारण इरेस्मस के वास्तविक विचारों को नहीं समझ पाया किन्तु यह कार्य जर्मन निवासी मार्टिन लूथर (1483–1546 ई) ने किया। लूथर का वर्णन हम आगे करेंगे, उसके पूर्व हम उपरोक्त विवेचना के क्रम में यह देखने का प्रयत्न करें कि ऐसे और कौनसे कारण थे जो 16वीं शताब्दी में धर्म-सुधार आन्दोलन की भूमिका के रूप में विद्यमान थे। साथ ही धर्म सुधार आन्दोलन के प्रति विद्वानों का दृष्टिकोण क्या है?

धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ:—धर्म के ठेकेदारों के प्रति धर्म के लोक-कल्याणकारी-समर्थकों का विरोध ही धर्म सुधार आन्दोलन था। वारनर एवं मार्टिन के अनुसार धर्म सुधार पोप-पद की सांसारिकता व भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक नैतिक विद्रोह था।

इतिहासकार फिशर लिखते हैं कि "धर्मसुधार आन्दोलन पोप की धार्मिक निरंकुशता, पादरियों के विशेषाधिकारों, व भूमध्यसागरीय जातियों के वंशानुगत असहिष्णु धर्म (कैथोलिक) के विरुद्ध विद्रोह था।

किन्तु इतिहासकार हेज के अनुसार 16वीं सदी के प्रारम्भ में धार्मिक और विवेक जागृति के कारण बहुसंख्यक ईसाई कैथोलिक चर्च के कटु आलोचक थे तथा

वे धर्म की इस संस्था को एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुधारना चाहते थे। इस प्रयत्न से फलतः जो धार्मिक आन्दोलन हुआ व उससे उत्पन्न ईसाई धर्म के नये-नये सम्प्रदाय बने, उसे समग्र रूप में धर्म सुधार आन्दोलन कहा जाता है। 16वीं सदी में कैथोलिक चर्च के विरोध (प्रोटेस्ट) में आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था अतः इसे कई विद्वान सुधार आन्दोलन के स्थान पर प्रोटेस्टेन्ट-क्रांति के नाम से भी पुकारते हैं। इस दृष्टि से इतिहासकार डी. जे. हिल के शब्दों में "यह जर्मन मस्तिष्क एवं प्रकृति के संविधान की तर्क संगत एवं आवश्यक उपज थी।" इतिहासकार सेवाइन के अनुसार "मानववाद और व्यक्तिवाद की भावना ने मध्ययुगीन एकता के दृष्टिकोण पर आघात किया। पुनर्जागरण ने बौद्धिक एकता और केन्द्रित नियंत्रण के विरुद्ध क्रांति की। राष्ट्रीयता के उदय ने मध्यकालीन सार्वभौम राज्य के विचार को तोड़-फोड़ दिया। अन्तिम दुर्गति धर्म सुधारने की जिस ने विश्वव्यापी चर्च के एकाधिकार पर आक्रमण किया जो कि मध्यकालीन संस्थाओं में सर्वोच्च संस्था थी। यह महान् धार्मिक उफान मात्र आने वाले महान धार्मिक परिवर्तनों की साक्षी ही नहीं था, अपितु एक नये युग के प्रभात की घोषणा करने वाला भी था। "रोबर्ट इरगैंग के मत में" मूलतः यह आन्दोलन धार्मिक था, साथ ही इसमें सामाजिक, राजनीति, आर्थिक और बौद्धिक पक्ष भी सन्निहित हैं जिनका धर्म से बहुत दूर का सम्बन्ध था।" निष्कर्षतः हम पूर्व में ही लिख चुके हैं कि धर्म के ठेकेदारों के प्रति धर्म के लोक-कल्याणकारी समर्थकों का विरोध ही धर्म सुधार आन्दोलन था चूंकि धर्म जहां मध्यकालीन यूरोप की आत्मा था उस कलुषित आत्मा को शुद्ध करने हेतु 13वीं शताब्दी से ही संतों और प्रबुद्ध व्यक्तियों ने प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है परन्तु अन्य कारण और भी थे जिन्होंने धर्म सुधार आन्दोलन को उग्र से उग्रतर बना दिया।

1. राष्ट्रीय भावना का विकास :—पुनर्जागरण के प्रभाव से जनता में राष्ट्रीय भावना जागने लगी थी। छापाखाना के आविष्कार ने इस राष्ट्रीय भावना को अधिक उभारा परिणामतः पोप को लोग विदेशी समझने लगे।

2. पोप का विलासी जीवन :—समझदार व्यक्तियों को पोप के विलासी जीवन से घृणा होने लगी। पोप धर्म के नाम पर जनता का शोषण करता था और जनता से प्राप्त अपार धन-राशि को अपने एश्वर्य तथा सुख की वस्तुओं पर खर्च करता था। पोप की विलासिता के बारे में स्वयं मार्टिन लूथर ने लिखा है कि पोप सबसे बड़ा चोर और डाकू है जो आज तक पृथ्वी पर न पैदा हुआ और न होगा। हम निर्धन जर्मनों को धोखा दिया गया है। हम पैदा तो स्वामी बनने के लिए हुए हैं किन्तु हमें झुकने के लिए बाध्य किया गया है। पोप की विलासिता के कुछ दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं कि पोप अलेक्जेन्डर षष्ठम अपनी आलोकिक बीबियों के साथ

रंगरेलियाँ मनाता रहा था जबकि उसके काल में अन्य छोटे-छोटे पादरियों का गुजर भी दुष्कर था। इतिहासकार मैकनैल बर्नस लिखता है कि अलेक्जेन्डर षष्टम के आठ अवैध बच्चे थे जिनमें से एक पोप बनने के पश्चात् हुआ था। पोप ग्रेगरी एक गरीब किसान का पुत्र था किन्तु पोप बनने के पश्चात् उसने अपने राज्य (पेपल्स स्टेट) व जागीरों को रिश्तेदारों में बाँटना शुरू कर दिया था। गिरजाघरों की स्त्री-साधु (नन) से वह सभी कुछ करता था। इस तरस विलास में डूबा पोप धर्म कार्य के अतिरिक्त सभी काम करता था और कोई उसके विरोध में यदि आवाज उठाता तो उसे धर्म बहिष्कृत किया जाता अथवा मृत्यु दण्ड दे दिया जाता था। राजा हेनरी चतुर्थ ने जब पोप के शासक-प्रमाणीकरण अधिकार को चुनौति दी तो ग्रेगरी ने उसे धर्म बहिष्कृत का दण्ड प्रदान किया अन्ततः हेनरी को पोप से क्षमा मांगनी पड़ी थी। पोप द्वारा बहिष्कार करना व्यक्ति की सामाजिक-मृत्यु होता था। सेवोनारोला ने पोप की तुलना आक्रमणकारी तुर्क सैनिकों और खूंखार मूरों से करते हुए लिखा है कि "ये (पोप और पादरी) तुर्क और मूरों से भी निकृष्ट हैं। उनकी महत्वाकांक्षा को कभी संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। वे सिर्फ स्वर्ण तथा पद के लिए घंटियां बजाते हैं।" पोप अलेक्जेन्डर षष्टम के काल में रोम की सड़कों पर हर रात दो-चार लाशें साधारण बात थीं। पोप और उसके पादरी सिर से पैरों तक पाप में पगे थे। मठों में अवैध संतानें ईश-पुत्र के नाम पर पलती थीं। पाल द्वितीय के समय से प्रारम्भ भ्रष्टाचार पोप इन्नोसेन्ट सप्तम के काल तक पनपा और अलेक्जेन्डर छट्ठे के समय तक चरम सीमा पार कर चुका था।

पोप के पादरी अधिक से अधिक धन आदि भेंटों से पोप को प्रसन्न रखते थे। उनमें अधिकतर अज्ञानी और पढ़े-लिखे नहीं थे। वे प्रभू की प्रार्थना भी नहीं बोल सकते थे अपितु जुआं घरों, मदिरालयों, वेश्यालयों के धन्धों द्वारा बदनाम जीवन बिताते थे। लोग चर्च में जाने से भी कतराते थे, वे इनके स्थान पर अन्यत्र उपासना का आश्रय ढूँढने के पक्ष में थे।

3. पोप की असीम शक्तिः—पोप सभी प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों का प्रमुख था। एक ओर जहां वह नवीन राजतंत्र के उदय में रुकावट था, वहां विशाल भू-सम्पत्ति का स्वामी और कृषक दासों का शोषक था। नवीन औद्योगीकरण में व्यापारियों के लिये वह सूदखोर था। पोप ने जो कर जनता पर लाद रखे थे उनमें सर्वाधिक नागवार 'पीटर्स पेन्स' था। यह कर प्रत्येक घर को प्रति वर्ष एक डालर के लगभग देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त 'टीथी' नामक कर था जो हर ईसाई को अपनी आमदनी का एक तिहाई चर्च को देना पड़ता था। इसके साथ-साथ अपराधों का दण्ड, चर्च की अदालत में अपील की फीस, संस्कारों की फीस आदि अनेक तरीकों से धन वसूल किया जाता था। ईसाई इन करों के

भुगतान के विरोधी नहीं थे बल्कि इसके इटली में संग्रहित होने के विरोधी थे। दूसरी आपत्ति यह थी कि जमा धन पर खर्च नहीं होकर पोप की व्यक्तिगत विलासिता पर खर्च होता था। इसीलिए बर्नस जैसे विद्वान आन्दोलन का मूल कारण आर्थिक मानते हैं। व्यापारी लोग ब्याज पर रूपया लेते-देते थे जो ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध था अतः व्यापारी स्वतन्त्र व्यापार के लिये धर्म मे सुधार चाहते थे। किसान भूमि पर राजा, सामन्त और पादरी तीनों को राजस्व देता था अतः किसान इस शोषण से मुक्ति के लिये राजा और सामन्तों का विरोधी था वहां चर्च से भी आर्थिक मुक्ति चाहता था। राजा लोग अपने साम्राज्य विस्तार के लिये धन चाहते थे किन्तु चर्च के धन के प्रति देखना भी पाप माना जाता था। गिरजाघरों की सम्पत्ति टैक्स से मुक्त थी अतः उसका भार भी आम जनता पर पड़ता था। चर्च के न्यायालय शासन के न्यायालय से अधिक शक्ति रखते थे। अतः कई बार दोनों के निर्णयों में संघर्ष छिड़ जाता था। इस प्रकार राज्य के अन्दर एक राज्य की स्थिति शासकों को पसन्द नहीं थी इसीलिए इंगलैंड के शासक हैनरी अष्टम के तलाक के मामले में पोप ने हस्तक्षेप किया तो उसने अपने राज्य में पोप के बोझ को ही समाप्त कर दिया। गरीब और जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्धित गांवों के छोटे-छोटे पादरी भी पोप और बड़े पादरियों के वैभव-विलास से तंग थे। उनको भूखे-पेट धर्म का कार्य करना पड़ता था वहां अधर्मी पैसों के बल पर बड़े पादरी का आराम भोग रहे थे। ऐसे वातावरण में चर्च और पोप की असीम शक्ति के पतन की कामना समाज के सभी वर्गों में विद्यमान थी। अधिकतर आर्क बिशप इटली के थे जो इटली में रहते हुए अपने नियुक्त स्थान में हस्तक्षेप करते थे, लोगों को यह स्थिति भी सहनीय नहीं थी। ऐसी दशा में पोप लिओ दशम् (1513--1521 ई.) की कार्यवाही ने आन्दोलन को लूथर के माध्यम से नई दिशा प्रदान कर दी।

4. पाप मोचन पत्र—चर्च की धन लोलुपता उस समय पराकाष्टा पर जा पहुंची जब धर्म और मोक्ष का व्यापार शुरू हो गया। मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये तप, उपवास, प्रायश्चित् इत्यादि करने पड़ते, ईश्वर में पूर्ण विश्वास व्यक्त करना होता था तब कहीं इनमें से कुछ गुणी व्यक्तियों को पुरस्कार स्वरूप लैटिन शब्दार्थ में आज्ञापत्र (Indulgentia) और अंग्रेजी में पाप-मोचन पत्र (Indulgence) पोप द्वारा जारी किये जाते थे। धीरे-धीरे रोम की यात्रा पर आने वाले धार्मिक-यात्रियों को पैसे के बदले ऐसे पत्र दिये जाने लगे। पोप बेनीफेस सप्तम ने 1300 ई. में ऐसे पत्रों को जुबली पत्रों के नाम से जारी किया। इसके पश्चात् 1400 ई. में फिर 1450 ई. में तत्पश्चात 1475 ई. व 1500 ई. में पत्र बेचे गये। इस सदी तक पोप ने घोषणा कर दी कि अब मोक्ष प्राप्ति के लिये तपस्या और उपवास की कोई आवश्यकता नहीं है, वह (पोप) अपने संचित पुण्य के बल पर किसी भी पापी

को पापों से मुक्ति प्रदान कर उसे मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी बना सकता है। पोप की इस आज्ञा ने चोर, डाकू, भ्रष्टाचारियों, व्यभिचारियों आदि के लिये स्वर्ग के द्वार खोल दिये। ऐसे लोग इन पाप मोचन-पत्र को खरीद कर समाज में प्रतिष्ठित बन गये। इसके साथ-साथ इसके बेचने वाले लोग दलाली के कमीशन में ही धनवान बनने लगे। नासमझ धर्म भीरू जनता व्यर्थ का पैसा बर्बाद कर इन्हें क्रय करने हेतु टूट पड़ी और जो खरीदने में असमर्थ थे वह धर्म के नाम पर हतोत्साहित होने लग गये। 1503 ई. में पोप जुलियस द्वितीय ने सन्त पीटर के गिरजाघर के निर्माण हेतु पाप-मोचन पत्र जारी किये। इसके उपरान्त 1513 ई. में पोप लियो दशम (1513--1521 ई.) ने कुछ हिचकिचाहट के साथ इन्हें फिर जारी किया। इसके अनन्तर ये बिना किसी निश्चित अवधि के यूरोप के प्रत्येक भाग में बेचे जाने लगे। जर्मनी के आर्क बिशप अल्बर्ट के प्रतिनिधि पादरी जान टेटेजल ने तो यहां तक कहा कि जो लोग भविष्य में पाप करना चाहते हैं वे भी इन्हें खरीदकर अपनी मुक्ति सुरक्षित कर सकते हैं। स्वर्ग का प्रमाण-पत्र प्रदान करने वाला यह पादरी टेटेजल जब 1517 ई. में जर्मनी के एक नगर बिट्टन बर्ग पहुंचा तो वहां के विश्वविद्यालय का एक पादरी प्राध्यापक मार्टिन लूथर चुप नहीं रह सका। उसने विश्वविद्यालय के चर्च-द्वार पर 31 अक्टूबर को एक वक्तव्य कील से टांग दिया।

इस वक्तव्य की 95 मान्यताओं में जहां कैथोलिक-चर्च की कतिपय प्रथाओं की आलोचना की गई थी वहां जनता को "विश्वास द्वारा मुक्ति" की ओर प्रेरित किया गया था। इतिहासकार प्लेट और जीन ड्रमंड लिखते है कि "इस वक्तव्य ने मार्टिन लूथर को यूरोप में एक तूफान का केन्द्र बना दिया। यूरोपियनों ने लूथर की मान्यताओं का जिस उत्साह से स्वागतपूर्ण उत्तर दिया यह लूथर को चकित करने वाली और पोप को चौंका देने वाली घटना सिद्ध हुई। तब इन दोनों में किसी को भी यह आशंका तक न थी कि लूथर का वक्तव्य ईसाई धर्म को कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रायों में बांट देगा।" कोई नहीं जानता था कि इन दोनों सम्प्रदायों में जीवन मरण का युद्ध होगा जिसमें सैकड़ों लोगों के सिर कट जायेंगे और हजारों जीवित आग में झोंक दिये जायेंगे। स्पष्टतः लूथर के प्रयासों से महत्वपूर्ण परिणाम निकले जिनमें धर्म-सुधार भी एक था।

प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति का जनक: लूथर—मार्टिन लूथर का जन्म जर्मनी के सेक्सनी राज्य के छोटे से गांव आइवेन अथवा इजलेबन में 10 नवम्बर 1843 ई. को हुआ था। इसके पिता का नाम हान्स और माता का नाम मारगारेथी नी जेगलर था। इसके पिता खान श्रमिक थे। लूथर की प्रारम्भिक शिक्षा मैन्सफील्ड में हुई। इसके पश्चात् 1501 ई. में एफुर्ट विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन करने हेतु इसे भर्ती कराया गया किन्तु माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध मार्टिन लूथर धर्मशास्त्र

का अध्ययन करने लगा। 1505 ई. में धर्मशास्त्र में स्नातक बन जाने के पश्चात् वह सन्त अगस्टाइन के मठ में रहने लगा। यहां रहते हुए उसने महात्मा पाल और ऑगस्टाइन के विचारों का मनन किया। 1508 ई. में विटनबर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। 1511 ई. में एक धर्म यात्री के रूप में मार्टिन रोम गया—वहां रोम के वैभव, पादरी जीवन तथा पोप के आडम्बर को देखकर उसे विश्वास हो गया कि धर्म शास्त्र धर्म के संरक्षक ही हैं। 1517 ई. की पाप मोचन पत्र की घटना ने उसके मानसिक विद्रोह को स्पष्ट कर दिया किन्तु इस समय तक वह कैथोलिक धर्म के प्रति आस्था रखता रहा था। वह केवल इसमें सुधार का पक्षपाती था। परन्तु पोप द्वारा उस पर दबाव आदि की घटनाओं ने उसके विचारों को परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया।

लूथर का विश्वास था कि जो मनुष्य अपने पापों का पश्चाताप करता है और ईश्वर की दया में विश्वास रखता है तो ईश्वर उसे बगैर पाप मोचन पत्र खरीदे ही माफ कर देगा। इस तरह उसकी विचारधारा "ईश्वर में विश्वास द्वारा मुक्ति" परम्परागत कैथोलिक विचारधारा के विरुद्ध थी। कैथोलिकों के लिये विश्वास, संस्कार और सुकर्म आवश्यक थे जो कि पोप के माध्यम से ईश्वर तक पहुंचाते थे। लूथर ईश्वर और मनुष्य के मध्य पोप की मध्यस्थता का विरोधी था। विटनबर्ग चर्च के द्वार पर लटकाये गये 95 मान्यताओं का वक्तव्य लेटिन भाषा में लिखा हुआ था किन्तु इसको किसी ने जर्मन भाषा में अनुवाद कर सम्पूर्ण जर्मनी के लोक मानस तक पहुंचा दिया। उसके कई समर्थक जर्मनी में पैदा हो गये। पोप की सत्ता के विरोधी जर्मन शासकों ने भी लूथर का सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया। 1520 ई. तक लूथर ने अपने भाषणों से स्पष्ट किया कि पोप ईसाई विरोधी है, तलाक कानूनी है, पादरियों को शादी का अधिकार है, रोम एक बेबीलोन है। मार्टिन ने ईसाई जगत को एक खुला पत्र (एन ओपन लेटर टू दी क्रिश्चन स्टेट) लिखा जिसमें राजाओं से अपील की गई थी कि वे चर्च की बुराइयों को रोकें तथा धर्म सभा बुलाकर पादरियों को सद् धर्म पालन का आदेश दें। इसके अतिरिक्त दो अन्य लेख चर्च का बेबीलोनिया का कैदी और ईसाई स्वतन्त्रता लिखे। इन लेखों ने शासकों को प्रेरित किया कि चर्च की सम्पत्ति पर राज्य अधिकार कर लें तथा जर्मन विशपों की नियुक्ति जर्मन से ही की जावे। इन कार्यवाहियों से पोप अधिक क्रोधित हुआ और उसने लूथर को धर्म बहिष्कृत कर दिया। पोप के इस आदेश को सरेआम बाजार में आम जनता के सम्मुख लूथर ने जला दिया। 1521 ई. में रोमन सम्राट चार्ल्स पंचम ने वर्म्स में एक राज्य परिषद् का आयोजन कर लूथर को इसमें आमन्त्रित किया तथा उसे धर्म विरोधी विचार त्यागने का आदेश दिया। किन्तु लूथर ने प्रत्युत्तर दिया कि जब तक बाइबिल या तर्क से उसे गलत न सिद्ध किया

जाय तब तक वह अपनी आत्मा के विरुद्ध नहीं जायेगा । लूथर के इन्कार कर देने पर उसे न्याय विरुद्ध आचरण करने वाला ठहराते हुए उसकी जिन्दगी जब्त घोषित कर दी गई अर्थात उसे चाहे जो मार सकता था । लूथर के मित्र, समर्थक कम नहीं थे । वे उसे छुपाकर वार्टबुर्ग के दुर्ग में ले गये । सम्राट चार्ल्स पंचम फ्रांसीसियों से युद्ध में उलझे होने के कारण लूथर की ओर ध्यान नहीं दे सका । इसके पश्चात् तो लूथर इतना लोकप्रिय हो गया कि 1522 ई. में न्यूरेमबर्ग की डाइट ने पोप एड्रियन षष्टम से स्पष्ट कह दिया कि लूथर के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही जर्मनी में गृह युद्ध छेड़ देगी । वार्टबुर्ग के दुर्ग में रहते हुए लूथर ने बाइबिल का जर्मनी में अनुवाद किया । इस अनुदित कार्य ने लोगों को सच्चा मार्ग दिखलाने का कार्य किया ।

1523 ई. में अमीरों ने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो लूथर ने सामन्तों की निन्दा की । यद्यपि विद्रोह कुचल दिया गया तथापि अमीर और सामन्त लूथर के विरुद्ध हो गये । 1525 ई. में जब दक्षिणी जर्मनी में किसानों ने शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया तो लूथर ने शासकों का पक्ष लेते हुए शासकों को परामर्श दिया कि वे कृषक विद्रोह को निर्ममतापूर्वक दबा दे । इससे किसान लूथर के विरोधी बन गये व शासक भी विरुद्ध हुए । क्योंकि उन्हें यह अनुभव हो गया कि लूथर की शिक्षाओं से ही किसानों में विद्रोह की भावना पैदा हुई थी । फलतः दक्षिण-जर्मनी के शासकों ने लूथर के विरुद्ध कार्यवाही करने का प्रयत्न किया वहीं उत्तरी जर्मनी के शासकों ने लूथर को बचाने का यत्न किया । इससे जर्मन में शासकों का गृह युद्ध छिड़ गया । यह युद्ध रूक रूक कर 30 वर्ष तक चलता रहा । इसके मध्य 1526 ई. में स्पीयर की सभा में व 1529 ई. में दूसरी सभा कैथोलिक और लूथर सिद्धान्त के मध्य समझौते का प्रयत्न किया गया किन्तु दूसरी सभा में लूथर के समर्थकों ने चार्ल्स पंचम के निर्णयों का स्पष्ट विरोध (प्रोटेस्ट) किया अतः 1529 ई. के पश्चात लूथर के विचार **प्रोटेस्टेन्ट** धर्म के नाम से विख्यात हुए । कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट का धर्म विवाद और राजनीतिक संघर्ष सन् 1555 ई. की आग्सबर्ग की संधि द्वारा समाप्त किया गया । इस सन्धि के अनुसार जर्मनी के प्रत्येक शासक को अपना राज्य धर्म निश्चित करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई । फलतः उत्तरी जर्मनी के साथ साथ 1700 ई. तक नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय राज्य धर्म के रूप में स्थापित हो गया । इस सन्धि में राज्य की प्रजा को वही धर्म मानना होगा जो राज्य धर्म होगा अन्यथा राज्य छोड़ना होगा, 1552 ई. तक प्रोटेस्टेन्टों द्वारा अर्जित चर्च सम्पत्ति पर उन्हीं का अधिकार माना गया, कैथोलिक राज्य में रहने वाले लूथरनों को कैथोलिक धर्म मानने हेतु बाध्य नहीं किया जायेगा, लूथरनों के अतिरिक्त प्रोटेस्टेन्ट की अन्य शाखा को प्रश्रय नहीं दिया जायेगा, कैथोलिक चर्च का कोई व्यक्ति प्रोटेस्टेन्ट बनता है तो उसके अधिकृत

कैथोलिक चर्च की भूमि उसे छोड़नी होगी । इस प्रकार संधि में कई दोष विद्यमान थे फिर भी धर्म सहिष्णुता की दृष्टि से उसे स्वीकार कर लिया गया था । 17 वीं शताब्दी तक यह सभी झगड़े शांत होकर लूथरनवाद यूरोप का प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बन गया ।

लूथर के सिद्धान्त—(1) जो व्यक्ति हृदय से पश्चाताप करता है उसे पाप और यातना दोनों से मुक्ति मिल जाती है ।

(2) ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति द्वारा ही क्षमा प्राप्त हो सकती है न कि क्षमा-पत्रों द्वारा ।

(3) पोप सर्वोच्च शक्ति नहीं है अपितु उसकी शक्ति अज्ञानता का सूचक है ।

(4) राष्ट्रीय चर्च सबल होने चाहियें । धर्म ग्रन्थ सबके लिये खुले हैं, श्रद्धालु व्यक्ति स्वयं उसके ज्ञान द्वारा लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

(5) धर्म संस्था या धर्माधिकारी अपराध करे तो वह दण्ड योग्य है क्योंकि कोई भी कानून से ऊपर नहीं है ।

(6) चर्च के भ्रष्टाचार विवाह द्वारा दूर किये जा सकते हैं अतः पादरियों को विवाह की स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।

(7) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम केवल धर्म पर आधारित नहीं हो कर मानव विकास के दृष्टिकोण लिये हुए होने चाहियें ।

(8) पादरियों का कार्य केवल धर्मोपदेश है ।

(9) अभिषेक, विवाह, अनुमोदन आदि संस्कार समाप्त होने चाहिये तथा नामांकरण और प्रायश्चित के संस्कार रहने चाहियें ।

(10) ईसाई समाज में भीख मांगने, पोप के चरणों को चूमने, पोप को टेक्स भेजने आदि की प्रथा समाप्त कर देनी चाहिये ।

इन उपरोक्त सिद्धान्तो का प्रारूप ही प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के नियम बने । इस सम्प्रदाय के संलग्न ही इस सम्प्रदाय से प्रभावित किन्तु इससे भी अधिक मौलिक विचारों को कार्यरूप में बदलने हेतु यूरोप के अन्य देशों में भी धर्म सुधारक प्रयत्न कर रहे थे । इनमें ज्विगली (स्वीट्जरलैण्ड), काल्विन (स्वीट्जरलैण्ड), नॉक्स (स्कॉटलैण्ड) आदि मुख्य थे ।

ज्विगली (1484–1531 ई.) स्वीट्जरलैण्ड में लूथर का समकालीन धर्म सुधारक उलरीच ज्विगली जब 1518 ई. में ज्यूरिक के कैथेड्रल में पादरी नियुक्त हुआ तो उसने अपने मानस स्थित सुधारों को क्रियान्वित करने की सोची । 1519 ई. में उसने मुक्ति-पत्र विक्रेताओं को ज्यूरिक से निकाल दिया । वह पोप द्वारा स्वीस-नवयुवकों को सेना में भर्ती करने का विरोधी था । उसने 1529 ई. में पोप के विरुद्ध 67 मान्यताएं रखीं । इसमें उसने 'पोप के दोषों की आलो-

चना ही नहीं की अपितु पोप, पादरी और मठ का अन्त करने की बात भी लिखी। सामूहिक-पूजा, मूर्तिपूजा चर्चों में चित्र रखने की परम्परा का घोर विरोध करते हुए अपने कैथेड्रल से इनको हटा दिया। उसने 1524 ई. में अपना विवाह धूम-धाम के साथ कर पादरियों के अविवाहित जीवन पर प्रहार किया। ज्विगली पर यद्यपि लूथर का प्रभाव था किन्तु वह लूथर के उदारवाद से अधिक उग्र था। अतः दोनों में निरन्तर मतभेद रहा। यद्यपि लोगों ने दोनों के मतभेद दूर कराने के प्रयास किये किन्तु सफल नहीं हो सके। ज्विगली की शिक्षाओं का प्रसार 5 केन्टनों में खूब हुआ। शेष 13 केन्टनों के कैथोलिकों ने जब 11 अक्तूबर 1531 ई. में 5 केन्टनों पर आक्रमण कर दिया तो केपेल के युद्ध में ज्विगली शहीद हो गया। इस प्रकार इस युद्ध में कैथोलिकों की विजय हुई फिर भी स्वीट्जरलैण्ड में वैचारिक क्रांति की स्थापना हो गई।

जॉन काल्विन (1509–1564 ई.) लूथर के समान ही काल्विन उच्च कोटि का धर्म-प्रचारक था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ "इंस्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन" में उसके द्वारा प्रोटेस्टैन्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध और व्यापक विवेचन मिलता है। फ्रांस के पिकार्डी नामक नगर में 1509 ई. में उत्पन्न हुए कानून के पण्डित काल्विन का प्रारम्भ से ही धर्म और राजनीति शास्त्र की ओर झुकाव था। काल्विन ने धर्म के नाम पर प्रदर्शन की कटु आलोचना की, उसके चर्च की व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक थी। काल्विन के अनुसार चर्च का प्रशासन पादरियों और चर्च सम्बन्धित जनता के वयोवृद्धों (Presbyters) के हाथों में होना चाहिये। इसलिये उसने अपने चर्च में छः पादरी और उन पर बारह वयोवृद्ध की एक प्रशासक समीति नियुक्त की थी। ऐसी व्यवस्था वाले धर्म-सम्प्रदाय को "प्रेस्विटेरियन" कहा गया। काल्विन के विचार भी लूथर से अधिक उग्र किन्तु ज्विगली के समीप थे। काल्विन पुराने टेस्टामेन्ट को प्रमाणिक मानता था जबकि लूथर नये को। दोनों ही बाइविल की सर्वोच्चता और मोक्ष के लिये विश्वास पर बल देते थे। उसके विचारों में बाइबिल वर्णित आचार-विचार कठोरता से पालन किये जाने चाहियें, आमोद-प्रमोद (नाचना, गाना, ताश, शराब आदि) गैर कानूनी होना चाहिये, स्त्रियों को घुंघराले बाल तथा आकर्षक वस्त्र धारण करना गैर-कानूनी होना चाहिये वहाँ रविवार का दिन धर्म के लिये सुरक्षित कर इस दिन लोगों को अपना जीवन चर्च की सेवा में व्यतीत करना चाहिये। लूथरवाद का प्रभाव जहाँ जर्मनी और स्वीट्जरलैण्ड पर ही पड़ा वहाँ काल्विनवाद का प्रभाव उन सभी देशों पर पड़ा जो रोमन चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर नया धर्म अपनाने को उत्सुक थे। काल्विनवाद के प्रभाव में वृद्धि का एक कारण यह भी था कि इस समय तक लूथरवाद में कुछ कमजोरियाँ उत्पन्न होने लगी थीं वहाँ रोमन

कैथोलिक धर्म अपनी शक्ति का पुनः संचय कर रहा था। लूथरवाद ने जहां राजतंत्र की निरंकुशता को स्थापित कर धर्म को राजनीति से अलग किया, काल्विनवाद ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन कर शासक निरंकुशता का विरोध किया। इसलिए काल्विनवादियों ने धर्म के साथ-साथ राजनीति को भी प्रभावित कर प्रजातांत्रिक विचारधारा को आगे बढाया। क्योंकि काल्विन का कार्य क्षेत्र स्वीट्जरलैण्ड था। अतः धर्म प्रचार करते-करते 1564 ई. में वह वहीं स्वर्ग सिधार गया।

जॉन नॉक्स (1505-1572ई.)—काल्विनवाद को प्रेसबिटेरियन सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करने का कार्य स्काटलैण्ड निवासी जॉन नॉक्स ने किया था प्रारम्भ में वह लूथरनवादी जार्ज विशहर्ट के साथ था। 1546 ई. में विशहर्ट को विधर्मी के आरोप में जीवित जला दिये जाने के पश्चात वह 1549 ई में इंगलैण्ड गया और सन 1552 ई. में जिनेवा (स्वीट्जरलैण्ड) पहुंचा। वहां उसका सम्पर्क काल्विन से हुआ। सन 1555 ई. में वह स्काटलैण्ड लौट आया और वहां उसने नवीन प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार किया परन्तु अपना जीवन संकट में देख वह पुनः जिनेवा चला गया। 1559 ई. में स्काटलैण्डवासियों की प्रार्थना पर स्काटलैण्ड आया जहां वह धर्म प्रचार करते 1572 ई. में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय की यह उपशाखाएं इंग्लैण्ड में 'प्यूरिटन' (प्रोटेस्टेन्ट की शिक्षा व कैथोलिक सा आडम्बर होता था) फ्रांस में ह्यूजनाट कहलाई।

इंगलैण्ड में एंग्लीकनवाद की स्थापना—मार्टिन लूथर ने जब पोप के विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ किया तो उस समय इंग्लैण्ड में ट्यूडर वंश का शासक हेनरी षष्टम (1509-1547 ई.) था। वह पक्का कैथोलिक था। उसने मार्टिन लूथर के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी तो पोप लियो दशम ने प्रसन्न होकर उसे धर्म रक्षक की उपाधी से विभूषित किया। परन्तु 1526 ई में वह अपने पारीवारिक कारणों से पोप क्लीमेन्ट से झगड़ बैठा। वह अपनी रानी कैथरीन को तलाक देकर उसकी दासी एसीवेलिन (एन्नी) से विवाह करना चाहता था। पोप स्पेन के शासक फर्डिनान्ड का हितैशी था। कैथरीन फर्डिनान्ड की बहिन थी। अतः पोप ने इसकी स्वीकृति प्रदान नहीं की। परिणामस्वरूप हेनरी ने क्रुद्ध हो कर संसद से राजा को धर्म का सर्वोच्च अधिकारी घोषित करवा दिया। 1529 ई की इस घटना ने इंगलैण्ड के धर्म को रोमन कैथोलिक धर्म और पोप से अलग कर दिया वहां 1534 ई. में पारित सार्वभौमिकता के कानून ने इंगलैण्ड के शासक को धर्म की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया। इसके पूर्व 1533 ई. में संसद ने हेनरी के तलाक को कानूनी करार दे दिया था।

हेनरी के पश्चात् उसका नाबालिग लड़का एडवर्ड षष्टम् (1547-1553 ई.) गद्दी पर बैठा। उसके संरक्षक काल्विनवादी थे अतः इस काल में चर्च काल्विनवाद से प्रभावित रहा। एडवर्ड के बाद उसकी बहिन मेरी (1553-1558 ई.)

गद्दी पर बैठी । इसका विवाह स्पेन के फीलिप द्वितीय से हुआ जो रोमन कैथोलिक था । मेरी ने इंगलैंड में पुनः रोमन कैथोलिक स्थापना के लिए नृशंस अत्याचार और हत्याएँ आरम्भ कीं । इसीलिये इतिहास में इस रानी को 'खूनी मेरी' के नाम से जाना जाता है । 1558 ई. में जनता ने इसे बन्दी बनाकर प्राणदण्ड दिया । इसके पश्चात एसबोलिन की पुत्री एलीजाबेथ प्रथम (1558–1603 ई.) गद्दी पर बैठी । यद्यपि यह धर्म सहिष्णु नहीं थी फिर भी चाहती थी कि इंगलैण्ड का चर्च राज्य की जनता का आदर्श बने अतः उसने पोप से सर्वथा नाता तोड़ कर इंगलैंड में एंग्लिकन चर्च की नींव डाली । इसके सिद्धान्त न तो लूथरवादी थे न कालविनवादी अपितु रोमन कैथोलिक से अधिक प्रभावित थे अन्तर केवल पोप की सत्ता का इंगलैण्ड के चर्च से अन्त था । इंगलैण्ड में प्रार्थना के लिए नई पुस्तक "बुक ऑफ कॉमन प्रेयर" लिखी गई । आंग्ल-चर्च के अनुरूप अमेरिका में भी एपिस्कोपल चर्च बना ।

प्रोटेस्टेन्ट क्रांति का प्रभाव

प्रतिवादी-धर्म सुधार आन्दोलन : 1500 ई. में लगभग समस्त पश्चिमी यूरोप कैथोलिक था । 1600 ई. तक लगभग आधी जनसंख्या प्रोटेस्टेन्ट हो गई । परन्तु इसके उपरान्त प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रसार धीमा पड़ गया । स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इटली, पोलेंड, बेल्जियम, दक्षिण जर्मनी और आयरलैण्ड कैथोलिक ही रहे क्योंकि कैथोलिक चर्च के अन्दर ही सुधार आन्दोलन शुरू हो गया । प्रोटेस्टेन्ट धर्म का तीव्रता से प्रसार देखकर कैथोलिकों ने अपने धर्म की बुराईयों को दूर कर जन विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया । यही प्रयत्न प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन (प्रतिसुधार आन्दोलन) कहलाता है । 1545 ई. में इटली के ट्रेन्ट नगर में कैथोलिक धर्म में सुधार हेतु चर्च की परिषद् बुलाई गई । इस परिषद् की 1565 ई. (18 वर्ष) तक विभिन्न 254 बैठकों में सुधार लाने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये ।

परिषद् ने जिन सुधारों की घोषणा की उनमें—(1) चर्च के पदों की बिक्री पर प्रतिबन्ध (2) सभी बिशपों को अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए अपने पद से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह (3) पादरियों को सही ढग से शिक्षा हेतु नये स्कूलों की स्थापना (4) आवश्यकतानुसार जनभाषा में धार्मिक उपदेश (5) पाप मोचन पत्रों का दुरुपयोग नहीं होने देना (6) कैथोलिक चर्च की एकसी विधि व एकसी प्रार्थना-पुस्तक रखी गई ।

इसके साथ-साथ कैथोलिक चर्च के 'सप्त संस्कारों' को अनिवार्य बताया गया, पोप की प्रधानता को अनिवार्य सिद्ध किया गया, बाइबिल और लैटिन अनुवाद प्रमाणित ठहराया गया और मार्टिन लूथर के 'श्रद्धा' सिद्धान्त को असत्य घोषित किया गया ।

इस तरह ट्रेन्ट की सभा के कार्य द्विमुखी थे—प्रथम सैद्धान्तिक और द्वितीय सुधारात्मक। इस सभा में दोनों ही क्षेत्रों में अपूर्व सफलता मिली। प्रथम क्षेत्र में जहां कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों को स्पष्ट कर दिया गया वहां दूसरे क्षेत्र में धर्माधिकारियों के जीवन में आशानुरूप सुधार भी हुआ। इतिहासकार हेज के अनुसार ट्रेन्ट की कौन्सिल ने कैथोलिक चर्च में महान् सुधार कर मुख्य रूप से कैथोलिक धर्म के अस्तित्व की रक्षा में बड़ा योगदान दिया। साउथगेट के शब्दों में "कैथोलिक चर्च को निश्चित स्थिति प्रदान की।"

जैसुइट संगठन—कैथोलिक सम्प्रदाय को सुधारने तथा उसके नवीन स्वरूप को लोगों में प्रविष्ट कराने के लिए जिन नवीन संगठनों की स्थापना हुई उनमें जैसुइट संगठन मुख्य था। स्पेन के एक सैनिक इग्नेशियस लोयोला ने सोचा कि—किसी शासक के सैनिक रहने से अच्छा कार्य ईश्वर के सैनिक का है। अतः उसने धर्म को सैन्य प्रशिक्षण के रूप में देखा। अपने ज्ञान को विस्तृत करते वह पेरिस के विश्वविद्यालय में गया जहां कुछ वर्षों तक प्राचीन साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र का गूढ़ अध्ययन किया। यहीं उसने अपने 7 साथियों के साथ 1534 ई. में जैसुइट संघ की स्थापना की। 1540 ई. में पोप पाल तृतीय द्वारा इस संघ को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई। इसकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। इस संघ का संगठन बड़ा कठोर और रूढ़िवादी था। इसके सदस्य कट्टर कैथोलिक थे जो सैनिक के रूप में कार्य करते थे। 1542 ई. में पोप पाल तृतीय ने धर्म विरोधियों को दण्डित करने हेतु रोम में एक धर्म न्यायालय (इन्क्वीजिशन) की स्थापना की जो कि जैसुइट इन्क्वीजिशन का प्रतिरूप ही था। जैसुइटों ने धर्माधिकारियों के सादे जीवन तथा जन शिक्षा पर बल दिया। धर्म विरोधियों के प्रति इनका व्यवहार अत्यन्त कठोर होता था। इनके द्वारा प्राण दण्ड प्रदान करना मामूली बात थी। यह कैथोलिक धर्म प्रचार की सिद्धि के लिए किसी भी प्रकार का साधन अपनाने में नहीं चूकते थे। यद्यपि इस संगठन में आतंक द्वारा कैथोलिक धर्म को जीवित रखा वहां त्याग व तपस्या द्वारा कैथोलिक धर्म विश्व के अन्य भागों में फैलाया। चीन, जापान, भारत अफ्रीका और अमेरिका में कैथोलिक प्रचार का माध्यम जैसुइट लोग ही थे। इन्होंने स्कूलों, चिकित्सालयों, सेवाकेन्द्रों द्वारा मानवता की सेवा की तो इस सेवा के प्रभाव से प्रभावित कई आदिवासियों को जैसुइट सम्प्रदाय में सम्मिलित भी किया। इसके धर्म प्रचारक विश्व में नवीन प्रदेशों की खोज तथा यूरोप के साम्राज्यवाद विस्तार में सहयोगी रहे हैं उदाहरणार्थ एक धर्मप्रचारक जेक्यूस ने मिसीसिपी घाटी के ऊपरी भाग की खोज की तथा वहां के मूलवासियों को ईसाई (कैथोलिक) धर्म में दीक्षित किया था।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम (देन या महत्व)

1. रोमन चर्च में सुधार—धर्म सुधार आन्दोलन ने पोप की सर्वोत्तम प्रभुता की चुनोती देकर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया वहीं रोमन चर्च की आन्तरिक कमियों को दूर करने का प्रयास भी किया गया।

2. राष्ट्रीय भावना का विकास—आन्दोलन ने राष्ट्रीय चर्च को जन्म दिया। रोमन कैथोलिक चर्च अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लिये हुए था। परन्तु 'एक राज्य एक चर्च' के सिद्धान्त ने यूरोप के भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न चर्च स्थापित कर दिये। शासक ही धर्माध्यक्ष होने लगा और वह राज्यों में पादरियों, बिशपों व आर्क बिशपों की नियुक्तियां करने लगा। इससे राष्ट्रीय भावनाओं का उत्थान हुआ। राष्ट्रीय भाषाएं उन्नत होने लगीं क्योंकि धार्मिक साहित्य राष्ट्रीय भाषा में लिखा जाने लगा।

3. शासक शक्ति की स्वेच्छाचारिता—यूरोप में राज्यों का नवीन स्वरूप विकसित होने लगा। शासक अब राज्य में वैधानिक और धर्म का प्रधान था अतः एकतन्त्रीय स्वेच्छाचारी शासन को बल मिला। सामन्ती ढांचा टूटने लगा और पादरी राजनीति से पृथक् होने लगे। ल्यूकस के शब्दों में—प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन ने राष्ट्रीय संस्कृतियों को पनपाया न कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति को जो मध्य काल में पनप चुकी थी। इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलन ने मध्य युग का अन्त कर आधुनिक युग का सूत्रपात किया।

4. शिक्षण संस्थाओं का नया स्वरूप—धार्मिक आन्दोलन ने शिक्षण संस्थाओं में मात्र धार्मिक शिक्षा पर बल नहीं दिया अपितु मानव विकास के लिए अन्य विषयों को सम्मिलित करने पर जोर दिया। यद्यपि यह कार्य सम्प्रदाय विशेष में लोगों को जागृत करने का एक साधन था फिर भी लोगों की मानसिकता का विकास इनसे हुआ। शिक्षण संस्थाओं को चर्च से मुक्त करने तथा निशुल्क शिक्षा सिद्धान्त को प्रथमतः लूथर ने ही यूरोप में रखा था। इस प्रकार नवीन शिक्षा का प्रसार और स्वतन्त्र चिन्तन धर्म सुधार आन्दोलन के ही परिणाम थे। लूथर का चिन्तन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा स्वज्ञान उपार्जित तथ्यों को अंगीकार करने की प्रेरणा ने यूरोप में धार्मिक अंधकार को हटाया वहां आधुनिक चिन्तन मार्ग प्रशस्त किया।

5. मतभेदों की उत्पत्ति—धर्म सुधार आन्दोलन ने 18वीं शताब्दी में जहां सहिष्णुता का विकास किया वहां 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के अर्द्ध शतक (1684 ई. में वेस्टफेलिया की सन्धि) तक मतभेदों की भी सृष्टि की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप ईसाई धर्म की एकता छिन्न-भिन्न हो गई, अनेक सम्प्रदायों का विकास

का अध्ययन करने लगा। 1505 ई. में धर्मशास्त्र में स्नातक बन जाने के पश्चात् वह सन्त ग्रगस्टाइन के मठ में रहने लगा। यहां रहते हुए उसने महात्मा पाल और ऑगस्टाइन के विचारों का मनन किया। 1508 ई. में बिटनबर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। 1511 ई. में एक धर्म यात्री के रूप में मार्टिन रोम गया—वहां रोम के वैभव, पादरी जीवन तथा पोप के आडम्बर को देखकर उसे विश्वास हो गया कि धर्म शास्त्र धर्म के संरक्षक ही हैं। 1517 ई. की पाप मोचन पत्र की घटना ने उसके मानसिक विद्रोह को स्पष्ट कर दिया किन्तु इस समय तक वह कैथोलिक धर्म के प्रति आस्था रखता रहा था। वह केवल इसमें सुधार का पक्षपाती था। परन्तु पोप द्वारा उस पर दबाव आदि की घटनाओं ने उसके विचारों को परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया।

लूथर का विश्वास था कि जो मनुष्य अपने पापों का पश्चाताप करता है और ईश्वर की दया में विश्वास रखता है तो ईश्वर उसे बगैर पाप मोचन पत्र खरीदे ही माफ कर देगा। इस तरह उसकी विचारधारा "ईश्वर में विश्वास द्वारा मुक्ति" परम्परागत कैथोलिक विचारधारा के विरुद्ध थी। कैथोलिकों के लिये विश्वास, संस्कार और सुकर्म आवश्यक थे जो कि पोप के माध्यम से ईश्वर तक पहुंचाते थे। लूथर ईश्वर और मनुष्य के मध्य पोप की मध्यस्थता का विरोधी था। बिटनबर्ग चर्च के द्वार पर लटकाये गये 95 मान्यताओं का वक्तव्य लेटिन भाषा में लिखा हुआ था किन्तु इसको किसी ने जर्मन भाषा में अनुवाद कर सम्पूर्ण जर्मनी के लोक मानस तक पहुंचा दिया। उसके कई समर्थक जर्मनी में पैदा हो गये। पोप की सत्ता के विरोधी जर्मन शासकों ने भी लूथर का सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया। 1520 ई. तक लूथर ने अपने भाषणों से स्पष्ट किया कि पोप ईसाई विरोधी है, तलाक कानूनी है, पादरियों को शादी का अधिकार है, रोम एक बेबीलोन है। मार्टिन ने ईसाई जगत को एक खुला पत्र (एन ओपन लेटर टू दी क्रिश्चन स्टेट) लिखा जिसमें राजाओं से अपील की गई थी कि वे चर्च की बुराइयों को रोकें तथा धर्म सभा बुलाकर पादरियों को सद् धर्म पालन का आदेश दें। इसके अतिरिक्त दो अन्य लेख चर्च का बेबीलोनिया का कैदी और ईसाई स्वतन्त्रता लिखे। इन लेखों ने शासकों को प्रेरित किया कि चर्च की सम्पत्ति पर राज्य अधिकार कर ले तथा जर्मन बिशपों की नियुक्ति जर्मन से ही की जावे। इन कार्यवाहियों से पोप अधिक क्रोधित हुआ और उसने लूथर को धर्म बहिष्कृत कर दिया। पोप के इस आदेश को सरेआम बाजार में आम जनता के सम्मुख लूथर ने जला दिया। 1521 ई. में रोमन सम्राट चार्ल्स पंचम ने वर्म्स में एक राज्य परिषद् का आयोजन कर लूथर को इसमें आमन्त्रित किया तथा उसे धर्म विरोधी विचार त्यागने का आदेश दिया। किन्तु लूथर ने प्रत्युत्तर दिया कि जब तक बाइबिल या तर्क से उसे गलत न सिद्ध किया

जाय तब तक वह अपनी आत्मा के विरुद्ध नहीं जायेगा। लूथर के इन्कार कर देने पर उसे न्याय विरुद्ध आचरण करने वाला ठहराते हुए उसकी जिन्दगी जब्त घोषित कर दी गई अर्थात उसे चाहे जो मार सकता था। लूथर के मित्र, समर्थक कम नहीं थे। वे उसे छुपाकर वार्टबुर्ग के दुर्ग में ले गये। सम्राट चार्ल्स पंचम फ्रांसीसियों से युद्ध में उलझे होने के कारण लूथर की ओर ध्यान नहीं दे सका। इसके पश्चात् तो लूथर इतना लोकप्रिय हो गया कि 1522 ई. में नूरेमबर्ग की डाइट ने पोप अड्रियन षष्टम से स्पष्ट कह दिया कि लूथर के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही जर्मनी में गृह युद्ध छेड़ देगी। वार्टबुर्ग के दुर्ग में रहते हुए लूथर ने बाइबिल का जर्मनी में अनुवाद किया। इस अनुदित कार्य ने लोगों को सच्चा मार्ग दिखलाने का कार्य किया।

1523 ई. में अमीरों ने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो लूथर ने सामन्तों की निन्दा की। यद्यपि विद्रोह कुचल दिया गया तथापि अमीर और सामन्त लूथर के विरुद्ध हो गये। 1525 ई. में जब दक्षिणी जर्मनी में किसानों ने शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया तो लूथर ने शासकों का पक्ष लेते हुए शासकों को परामर्श दिया कि वे कृषक विद्रोह को निर्ममतापूर्वक दबा दे। इससे किसान लूथर के विरोधी बन गये व ां शासक भी विरुद्ध हुए। क्योंकि उन्हें यह अनुभव हो गया कि लूथर की शिक्षाओं से ही किसानों में विद्रोह की भावना पैदा हुई थी। फलतः दक्षिण-जर्मनी के शासकों ने लूथर के विरुद्ध कार्यवाही करने का प्रयत्न किया वहाँ उत्तरी जर्मनी के शासकों ने लूथर को बचाने का यत्न किया। इससे जर्मन में शासकों का गृह युद्ध छिड़ गया। यह युद्ध रूक रूक कर 30 वर्ष तक चलता रहा। इसके मध्य 1526 ई. में स्पीयर की सभा में व 1529 ई. में दूसरी सभा कैथोलिक और लूथर सिद्धान्त के मध्य समझौते का प्रयत्न किया गया किन्तु दूसरी सभा में लूथर के समर्थकों ने चार्ल्स पंचम के निर्णयों का स्पष्ट विरोध (प्रोटेस्ट) किया अतः 1529 ई. के पश्चात लूथर के विचार प्रोटेस्टेन्ट धर्म के नाम से विख्यात हुए। कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट का धर्म विवाद और राजनीतिक संघर्ष सन् 1555 ई. की आग्सबर्ग की संधि द्वारा समाप्त किया गया। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी के प्रत्येक शासक को अपना राज्य धर्म निश्चित करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। फलतः उत्तरी जर्मनी के साथ साथ 1700 ई. तक नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय राज्य धर्म के रूप में स्थापित हो गया। इस सन्धि में राज्य की प्रजा को वही धर्म मानना होगा जो राज्य धर्म होगा अन्यथा राज्य छोड़ना होगा, 1552 ई. तक प्रोटेस्टेन्टों द्वारा अर्जित चर्च सम्पत्ति पर उन्हीं का अधिकार माना गया, कैथोलिक राज्य में रहने वाले लूथरनों को कैथोलिक धर्म मानने हेतु बाध्य नहीं किया जायेगा, लूथरनों के अतिरिक्त प्रोटेस्टेन्ट की अन्य शाखा को प्रश्रय नहीं दिया जावेगा, कैथोलिक चर्च का कोई व्यक्ति प्रोटेस्टेन्ट बनता है तो उसके अधिकृत

कैथोलिक चर्च की भूमि उसे छोड़नी होगी। इस प्रकार संधि में कई दोष विद्यमान थे फिर भी धर्म सहिष्णुता की दृष्टि से उसे स्वीकार कर लिया गया था। 17 वीं शताब्दी तक यह सभी झगड़े शांत होकर लूथरनवाद यूरोप का प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बन गया।

लूथर के सिद्धान्त—(1) जो व्यक्ति हृदय से पश्चाताप करता है उसे पाप और यातना दोनों से मुक्ति मिल जाती है।

(2) ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति द्वारा ही क्षमा प्राप्त हो सकती है न कि क्षमा-पत्रों द्वारा।

(3) पोप सर्वोच्च शक्ति नहीं है अपितु उसकी शक्ति अज्ञानता का सूचक है।

(4) राष्ट्रीय चर्च सबल होने चाहियें। धर्म ग्रन्थ सबके लिये खुले हैं, श्रद्धालु व्यक्ति स्वयं उसके ज्ञान द्वारा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

(5) धर्म संस्था या धर्माधिकारी अपराध करे तो वह दण्ड योग्य है क्योंकि कोई भी कानून से ऊपर नहीं है।

(6) चर्च के भ्रष्टाचार विवाह द्वारा दूर किये जा सकते हैं अतः पादरियों को विवाह की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(7) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम केवल धर्म पर आधारित नहीं होकर मानव विकास के दृष्टिकोण लिये हुए होने चाहियें।

(8) पादरियों का कार्य केवल धर्मोपदेश है।

(9) अभिषेक, विवाह, अनुमोदन आदि संस्कार समाप्त होने चाहिये तथा नामांकरण और प्रायश्चित के संस्कार रहने चाहियें।

(10) ईसाई समाज में भीख मांगने, पोप के चरणों को चूमने, पोप को टैक्स भेजने आदि की प्रथा समाप्त कर देनी चाहिये।

इन उपरोक्त सिद्धान्तो का प्रारूप ही प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के नियम बने। इस सम्प्रदाय के संलग्न ही इस सम्प्रदाय से प्रभावित किन्तु इससे भी अधिक मौलिक विचारों को कार्यरूप में बदलने हेतु यूरोप के अन्य देशों में भी धर्म सुधारक प्रयत्न कर रहे थे। इनमें ज्विगली (स्वीट्जरलैण्ड), काल्विन (स्वीट्जरलैण्ड), नॉक्स (स्कॉटलैण्ड) आदि मुख्य थे।

ज्विगली (1484–1531 ई.) स्वीट्जरलैण्ड में लूथर का समकालीन धर्म सुधारक उलरीच ज्विगली जब 1518 ई. में ज्यूरिक के कैथेड्रल मे पादरी नियुक्त हुआ तो उसने अपने मानस स्थित सुधारों को क्रियान्वित करने की सोची। 1519 ई. में उसने मुक्ति-पत्र विक्रेताओं को ज्यूरिक से निकाल दिया। वह पोप द्वारा स्वीस-नवयुवकों को सेना में भर्ती करने का विरोधी था। उसने 1529 ई. में पोप के विरुद्ध 67 मान्यताएं रखीं। इसमें उसने पोप के दोषों की आलो-

चना ही नहीं की अपितु पोप, पादरी और मठ का अन्त करने की बात भी लिखी। सामूहिक-पूजा, मूर्तिपूजा चर्चों में चित्र रखने की परम्परा का घोर विरोध करते हुए अपने केथेड्रल से इनको हटा दिया। उसने 1524 ई. में अपना विवाह धूमधाम के साथ कर पादरियों के अविवाहित जीवन पर प्रहार किया। ज्विगली पर यद्यपि लूथर का प्रभाव था किन्तु वह लूथर के उदारवाद से अधिक उग्र था। अतः दोनों में निरन्तर मतभेद रहा। यद्यपि लोगों ने दोनों के मतभेद दूर कराने के प्रयास किये किन्तु सफल नहीं हो सके। ज्विगली की शिक्षाओं का प्रसार 5 केन्टनों में खूब हुआ। शेष 13 केन्टनों के कैथोलिकों ने जब 11 अक्तूबर 1531 ई. में 5 केन्टनों पर आक्रमण कर दिया तो केपेल के युद्ध में ज्विगली शहीद हो गया। इस प्रकार इस युद्ध में कैथोलिकों की विजय हुई फिर भी स्वीट्जरलैण्ड में वैचारिक क्रांति की स्थापना हो गई।

जॉन काल्विन (1509-1564 ई.) लूथर के समान ही काल्विन उच्च कोटि का धर्म-प्रचारक था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ "इंस्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन" में उसके द्वारा प्रोटेस्टैन्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध और व्यापक विवेचन मिलता है। फ्रांस के पिकार्डी नामक नगर में 1509 ई. में उत्पन्न हुए कानून के पण्डित काल्विन का प्रारम्भ से ही धर्म और राजनीति शास्त्र की ओर झुकाव था। काल्विन ने धर्म के नाम पर प्रदर्शन की कटु आलोचना की, उसके चर्च की व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक थी। काल्विन के अनुसार चर्च का प्रशासन पादरियों और चर्च सम्बन्धित जनता के वयोवृद्धों (Presbyters) के हाथों में होना चाहिये। इसलिये उसने अपने चर्च में छः पादरी और उन पर बारह वयोवृद्ध की एक प्रशासक समीति नियुक्त की थी। ऐसी व्यवस्था वाले धर्म-सम्प्रदाय को "प्रेस्बिटेरियन" कहा गया। काल्विन के विचार भी लूथर से अधिक उग्र किन्तु ज्विगली के समीप थे। काल्विन पुराने टेस्टामेन्ट को प्रमाणिक मानता था जबकि लूथर नये को। दोनों ही बाइबिल की सर्वोच्चता और मोक्ष के लिये विश्वास पर बल देते थे। उसके विचारों में बाइबिल वर्णित आचार-विचार कठोरता से पालन किये जाने चाहियें, आमोद-प्रमोद (नाचना, गाना, ताश, शराब आदि) गैर कानूनी होना चाहिये, स्त्रियों को घुंघराले बाल तथा आकर्षक वस्त्र धारण करना गैर-कानूनी होना चाहिये वहाँ रविवार का दिन धर्म के लिये सुरक्षित कर इस दिन लोगों को अपना जीवन चर्च की सेवा में व्यतीत करना चाहिये। लूथरवाद का प्रभाव जहाँ जर्मनी और स्वीट्जरलैण्ड पर ही पड़ा वहाँ काल्विनवाद का प्रभाव उन सभी देशों पर पड़ा जो रोमन चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर नया धर्म अपनाने को उत्सुक थे। काल्विनवाद के प्रभाव में वृद्धि का एक कारण यह भी था कि इस समय तक लूथरवाद में कुछ कमजोरियाँ उत्पन्न होने लगी थीं वहाँ रोमन

कैथोलिक धर्म अपनी शक्ति का पुनः संचय कर रहा था। लूथरवाद ने जहां राजतंत्र की निरंकुशता को स्थापित कर धर्म को राजनीति से अलग किया, काल्विनवाद ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन कर शासक निरंकुशता का विरोध किया। इसलिए काल्विनवादियों ने धर्म के साथ-साथ राजनीति को भी प्रभावित कर प्रजातांत्रिक विचारधारा को आगे बढ़ाया। क्योंकि काल्विन का कार्य क्षेत्र स्वीट्जरलैण्ड था। अतः धर्म प्रचार करते-करते 1564 ई. में वह वहीं स्वर्ग सिधार गया।

जॉन नॉक्स (1505-1572ई.)—काल्विनवाद को प्रेसबिटेरियन सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करने का कार्य स्काटलैण्ड निवासी जॉन नॉक्स ने किया था प्रारम्भ में वह लूथरनवादी जार्ज विशहर्ट के साथ था। 1546 ई. में विशहर्ट को विधर्मी के आरोप में जीवित जला दिये जाने के पश्चात वह 1549 ई में इंगलैण्ड गया और सन 1552 ई. में जिनेवा (स्वीट्जरलैण्ड) पहुंचा। वहां उसका सम्पर्क काल्विन से हुआ। सन 1555 ई. में वह स्काटलैण्ड लौट आया और वहां उसने नवीन प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार किया परन्तु अपना जीवन संकट में देख वह पुनः जिनेवा चला गया। 1559 ई. में स्काटलैण्डवासियों की प्रार्थना पर स्काटलैण्ड आया जहां वह धर्म प्रचार करते 1572 ई. में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय की यह उपशाखाएं इंग्लैण्ड में 'प्यूरिटन' (प्रोटेस्टेन्ट की शिक्षा व कैथोलिक सा आडम्बर होता था) फ्रांस में हूजनाट कहलाई।

इंगलैण्ड में एंग्लीकनवाद की स्थापना—मार्टिन लूथर ने जब पोप के विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ किया तो उस समय इंग्लैण्ड में ट्यूडर वंश का शासक हेनरी अष्टम (1509-1547 ई) था। वह पक्का कैथोलिक था। उसने मार्टिन लूथर के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी तो पोप लियो दशम ने प्रसन्न होकर उसे धर्म रक्षक की उपाधी से विभूषित किया। परन्तु 1526 ई में वह अपने पारीवारिक कारणों से पोप क्लीमेन्ट से झगड़ बैठा। वह अपनी रानी कैथरीन को तलाक देकर उसकी दासी एसीवेलिन (एन्नी) से विवाह करना चाहता था। पोप स्पेन के शासक फर्डिनान्ड का हितैशी था। कैथरीन फर्डिनान्ड की बहिन थी। अतः पोप ने इसकी स्वीकृति प्रदान नहीं की। परिणामस्वरूप हैनरी ने क्रुद्ध हो कर संसद से राजा को धर्म का सर्वोच्च अधिकारी घोषित करवा दिया। 1529 ई की इस घटना ने इंगलैण्ड के धर्म को रोमन कैथोलिक धर्म और पोप से अलग कर दिया वहां 1534 ई. में पारित सार्वभौमिकता के कानून ने इंगलैण्ड के शासक को धर्म की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया। इसके पूर्व 1533 ई. में संसद ने हेनरी के तलाक को कानूनी करार दे दिया था।

हेनरी के पश्चात् उसका नाबालिग लड़का एडवर्ड षष्टम् (1547–1553 ई.) गद्दी पर बैठा। उसके संरक्षक काल्विनवादी थे अतः इस काल में चर्च काल्विनवाद से प्रभावित रहा। एडवर्ड के बाद उसकी बहिन मेरी (1553–1558 ई.)

गद्दी पर बैठी। इसका विवाह स्पेन के फीलिप द्वितीय से हुआ जो रोमन कैथोलिक था। मेरी ने इंगलैण्ड में पुनः रोमन कैथोलिक स्थापना के लिए नृशंस अत्याचार और हत्याएँ आरम्भ कीं। इसीलिये इतिहास में इस रानी को 'खूनी मेरी' के नाम से जाना जाता है। 1558 ई. में जनता ने इसे बन्दी बनाकर प्राणदण्ड दिया। इसके पश्चात एसबोलिन की पुत्री एलीजाबेथ प्रथम (1558–1603 ई.) गद्दी पर बैठी। यद्यपि यह धर्म सहिष्णु नहीं थी फिर भी चाहती थी कि इंगलैण्ड का चर्च राज्य की जनता का आदर्श बने अतः उसने पोप से सर्वथा नाता तोड़ कर इंगलैण्ड में एंग्लिकन चर्च की नींव डाली। इसके सिद्धान्त न तो लूथरवादी थे न काल्विनवादी अपितु रोमन कैथोलिक से अधिक प्रभावित थे अन्तर केवल पोप की सत्ता का इंगलैण्ड के चर्च से अन्त था। इंगलैण्ड में प्रार्थना के लिए नई पुस्तक "बुक ऑफ कॉमन प्रेयर" लिखी गई। आंग्ल-चर्च के अनुरूप अमेरिका में भी एपिस्कोपल चर्च बना।

प्रोटेस्टेन्ट क्रांति का प्रभाव

प्रतिवादी-धर्म सुधार आन्दोलन : 1500 ई. में लगभग समस्त पश्चिमी यूरोप कैथोलिक था। 1600 ई. तक लगभग आधी जनसंख्या प्रोटेस्टेन्ट हो गई। परन्तु इसके उपरान्त प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रसार धीमा पड़ गया। स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इटली, पोलैंड, बेल्जियम, दक्षिण जर्मनी और आयरलैण्ड कैथोलिक ही रहे क्योंकि कैथोलिक चर्च के अन्दर ही सुधार आन्दोलन शुरू हो गया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म का तीव्रता से प्रसार देखकर कैथोलिकों ने अपने धर्म की बुराईयों को दूर कर जन विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यही प्रयत्न प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन (प्रतिसुधार आन्दोलन) कहलाता है। 1545 ई. में इटली के ट्रेन्ट नगर में कैथोलिक धर्म में सुधार हेतु चर्च की परिषद् बुलाई गई। इस परिषद् की 1565 ई. (18 वर्ष) तक विभिन्न 254 बैठकों में सुधार लाने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

परिषद् ने जिन सुधारों की घोषणा की उनमें—(1) चर्च के पदों की बिक्री पर प्रतिबन्ध (2) सभी बिशपों को अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए अपने पद से सम्बधित कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह (3) पादरियों की सही ढंग से शिक्षा हेतु नये स्कूलों की स्थापना (4) आवश्यकतानुसार जनभाषा में धार्मिक उपदेश (5) पाप मोचन पत्रों का दुरुपयोग नहीं होने देना (6) कैथोलिक चर्च की एकसी विधि व एकसी प्रार्थना-पुस्तक रखी गई।

इसके साथ-साथ कैथोलिक चर्च के 'सप्त संस्कारों' को अनिवार्य बताया गया, पोप की प्रधानता को अनिवार्य सिद्ध किया गया, बाइबिल और लैटिन अनुवाद प्रमाणिक ठहराया गया और मार्टिन लूथर के 'श्रद्धा' सिद्धान्त को असत्य घोषित किया गया।

इस तरह ट्रेन्ट की सभा के कार्य द्विमुखी थे—प्रथम सैद्धान्तिक और द्वितीय सुधारात्मक। इस सभा में दोनों ही क्षेत्रों में अपूर्व सफलता मिली। प्रथम क्षेत्र में जहां कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों को स्पष्ट कर दिया गया वहां दूसरे क्षेत्र में धर्माधिकारियों के जीवन में आशानुरूप सुधार भी हुआ। इतिहासकार हेज के अनुसार ट्रेन्ट की कौन्सिल ने कैथोलिक चर्च में महान् सुधार कर मुख्य रूप से कैथोलिक धर्म के अस्तित्व की रक्षा में बड़ा योगदान दिया। साउथगेट के शब्दों में "कैथोलिक चर्च को निश्चित स्थिति प्रदान की।"

जेसुइट संगठन—कैथोलिक सम्प्रदाय को सुधारने तथा उसके नवीन स्वरूप को लोगों में प्रविष्ट कराने के लिए जिन नवीन संगठनों की स्थापना हुई उनमें जेसुइट संगठन मुख्य था। स्पेन के एक सैनिक इग्नेशियस लोयोला ने सोचा कि—किसी शासक के सैनिक रहने से अच्छा कार्य ईश्वर के सैनिक का है। अतः उसने धर्म को सैन्य प्रशिक्षण के रूप में देखा। अपने ज्ञान को विस्तृत करने वह पेरिस के विश्वविद्यालय में गया जहां कुछ वर्षों तक प्राचीन साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र का गूढ़ अध्ययन किया। यहीं उसने अपने 7 साथियों के साथ 1534 ई. में जेसुइट सघ की स्थापना की। 1540 ई. में पोप पाल तृतीय द्वारा इस संघ को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई। इसकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। इस संघ का संगठन बड़ा कठोर और रूढ़िवादी था। इसके सदस्य कट्टर कैथोलिक थे जो सैनिक के रूप में कार्य करते थे। 1542 ई. में पोप पाल तृतीय ने धर्म विरोधियों को दण्डित करने हेतु रोम में एक धर्म न्यायालय (इन्क्वीजिशन) की स्थापना की जो कि जेसुइट इन्क्वीजिशन का प्रतिरूप ही था। जेसुइटों ने धर्माधिकारियों के सादे जीवन तथा जन शिक्षा पर बल दिया। धर्म विरोधियों के प्रति इनका व्यवहार अत्यन्त कठोर होता था। इनके द्वारा प्राण-दण्ड प्रदान करना मामूली बात थी। यह कैथोलिक धर्म प्रचार की सिद्धि के लिए किसी भी प्रकार का साधन अपनाने में नहीं चूकते थे। यद्यपि इस संगठन में आतंक द्वारा कैथोलिक धर्म को जीवित रखा वहां त्याग व तपस्या द्वारा कैथोलिक धर्म विश्व के अन्य भागों में फैलाया। चीन, जापान, भारत अफ्रीका और अमेरिका में कैथोलिक प्रचार का माध्यम जेसुइट लोग ही थे। इन्होंने स्कूलों, चिकित्सालयों, सेवाकेन्द्रों द्वारा मानवता की सेवा की तो इस सेवा के प्रभाव से प्रभावित कई आदिवासियों को जेसुइट सम्प्रदाय में सम्मिलित भी किया। इसके धर्म प्रचारक विश्व में नवीन प्रदेशों की खोज तथा यूरोप के साम्राज्यवाद विस्तार में सहयोगी रहे हैं उदाहरणार्थ एक धर्मप्रचारक जेक्यूअस ने मिसीसिपी घाटी के ऊपरी भाग की खोज की तथा वहां के मूलवासियों को ईसाई (कैथोलिक) धर्म में दीक्षित किया था।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम (देन या महत्व)

1. **रोमन चर्च में सुधार**—धर्म सुधार आन्दोलन ने पोप की सर्वोत्तम प्रभुता को चुनोती देकर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया वहीं रोमन चर्च की आन्तरिक कमियों को दूर करने का प्रयास भी किया गया।

2. **राष्ट्रीय भावना का विकास**—आन्दोलन ने राष्ट्रीय चर्च को जन्म दिया। रोमन कैथोलिक चर्च अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लिये हुए था। परन्तु 'एक राज्य एक चर्च' के सिद्धान्त ने यूरोप के भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न चर्च स्थापित कर दिये। शासक ही धर्माध्यक्ष होने लगा और वह राज्यों में पादरियों, बिशपों व आर्क बिशपों की नियुक्तियां करने लगा। इससे राष्ट्रीय भावनाओं का उत्थान हुआ। राष्ट्रीय भाषाएं उन्नत होने लगीं क्योंकि धार्मिक साहित्य राष्ट्रीय भाषा में लिखा जाने लगा।

3. **शासक शक्ति की स्वेच्छाचारिता**—यूरोप में राज्यों का नवीन स्वरूप विकसित होने लगा। शासक अब राज्य में वैधानिक और धर्म का प्रधान था अतः एकतन्त्रीय स्वेच्छाचारी शासन को बल मिला। सामन्ती ढांचा टूटने लगा और पादरी राजनीति से पृथक् होने लगे। ल्यूकस के शब्दों में—प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन ने राष्ट्रीय संस्कृतियों को पनपाया न कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति को जो मध्य काल में पनप चुकी थी। इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलन ने मध्य युग का अन्त कर आधुनिक युग का सूत्रपात किया।

4. **शिक्षण संस्थाओं का नया स्वरूप**—धार्मिक आन्दोलन ने शिक्षण संस्थाओं में मात्र धार्मिक शिक्षा पर बल नहीं दिया अपितु मानव विकास के लिए अन्य विषयों को सम्मिलित करने पर जोर दिया। यद्यपि यह कार्य सम्प्रदाय विशेष में लोगों को जागृत करने का एक साधन था फिर भी लोगों की मानसिकता का विकास इनसे हुआ। शिक्षण संस्थाओं को चर्च से मुक्त करने तथा निशुल्क शिक्षा सिद्धान्त को प्रथमतः लूथर ने ही यूरोप में रखा था। इस प्रकार नवीन शिक्षा का प्रसार और स्वतन्त्र चिन्तन धर्म सुधार आन्दोलन के ही परिणाम थे। लूथर का चिन्तन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा स्वज्ञान उपार्जित तथ्यों को अंगीकार करने की प्रेरणा ने यूरोप में धार्मिक अंधकार को हटाया वहां आधुनिक चिन्तन मार्ग प्रशस्त किया।

5. **मतभेदों की उत्पत्ति**—धर्म सुधार आन्दोलन ने 18वीं शताब्दी में जहां सहिष्णुता का विकास किया वहां 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के अर्द्ध शतक (1684 ई. में वेस्टफेलिया की सन्धि) तक मतभेदों की भी सृष्टि की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप ईसाई धर्म की एकता छिन्न-भिन्न हो गई, अनेक सम्प्रदायों का विकास

हुआ तथा धर्म के गूढ़ तत्वों को लेकर उन सम्प्रदायों में भी आन्तरिक मतभेद खड़े हो गये। रोमन कैथोलिक धर्म के जैसुइट सम्प्रदाय के आन्तरिक सुधार द्वारा भी मतभेदों का अन्त नहीं हुआ। चर्च और राज्य पारस्परिक मतभेद भी इस आन्दोलन की देन है। इस प्रकार जहां इस आन्दोलन ने मैथोडिज्म, बैपिटज्म व कोंग्रिगेशनलिज्म आदि मत-मतान्तरों को उत्पन्न किया वहां परस्पर शासक और शासक को युद्धरत कर, जनता के मध्य पारस्परिक संघर्षों को उत्पन्न कर धर्मसहिष्णु राज्य, धर्म राज्य, धर्म विरोधी जन-धर्म भीरू जन आदि खण्ड बना दिये।

6. **असहिष्णुता का वातावरण**—मतभेदों की उग्रता ने धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता को जन्म दिया। यूरोप धर्म युद्धों में संलग्न हो गया। इन धर्मयुद्धों का नेता स्पेन था। स्पेन के अधीन नीदरलैंड में जब काल्विनवाद का प्रभाव बढ़ने लगा तो स्पेनी सम्राट फिलिप ने नीदरलैण्ड में धर्म न्यायालय स्थापित किये। फलतः नीदरलैण्ड की जनता ने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जो लगभग 37 वर्ष तक चला। अन्ततः डचों ने स्पेन से स्वाधीनता प्राप्त की। इसी प्रकार फ्रांस में नौ गृहयुद्ध हुए। 1568 ई. में हैनरी चतुर्थ ने समझौता नीति द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। इंगलैंड और स्पेन में कई वर्षों तक सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसका अन्त ग्रेवालिन्स के युद्ध में हुआ। जर्मनी का तीस वर्षीय (1618–1648 ई.) युद्ध भी प्रसिद्ध है जिसमें भीषण रक्तपात और नरसंहार के पश्चात् समझौता हुआ। यद्यपि इन संघर्षों के कारण शुद्धतः धार्मिक ही नहीं थे फिर भी धर्म को माध्यम बनाकर अवश्य लड़े गये। इस स्थिति ने यूरोप में असहिष्णुता का वातावरण बनाया वहां छोटे-छोटे राज्य की उत्पत्ति कर यूरोप की संयुक्त शक्ति का पतन भी किया।

7. **प्रजातन्त्री भावना का उदय**—काल्विनवाद ने धर्म संगठन में जिस प्रजातन्त्री प्रशासन भावना को रखा था कालान्तर में वह राज्य सत्ता के अन्तर्गत भी प्रस्फुटित होने लगी। इंगलैंड में सम्राट और संसद के मध्य संघर्ष और संसद की विजय धर्म सुधार आन्दोलन के नवीन विचारों की प्रेरणा से संभव हुए। पोप जब ईश्वरीय दूत नहीं रहा तो शासक के दैविक-अधिकार कब तक जीवित रहते? वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना का मार्ग सुधार आन्दोलन ने ही प्रशस्त किया था।

8. **पूंजीवाद का समर्थन**—विद्वानों में अब भी यह विवाद का विषय है कि प्रोटेस्टेन्टवाद ने पूंजीवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया अथवा नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि मध्ययुग में चर्च ऋणों पर ब्याज लेने का विरोधी नहीं था अपितु अनुचित तरीकों से अधिक धन कमाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध था। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि प्रोटेस्टेन्टों ने खासकर काल्विनवादियों ने ब्याज लेने की तरफ उदार

दृष्टिकोण अपनाया और मितव्ययता, संयम और कठोरश्रम पर जोर दिया, जो कि व्यवसाय की वृद्धि और पूंजीवाद के विकास के लिये आवश्यक गुण थे।

निष्कर्षतः धर्म सुधार आन्दोलन ने मात्र धर्म को ही प्रभावित नहीं किया अपितु समाज के वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी प्रभावित किया। साथ ही साथ विश्व अपने-अपने में सम्प्रदाय प्रसार की होड़ ने मानव-कल्याण और विश्व बन्धुत्वता की राह को आगे बढ़ाया वहां नये युग की औपनिवेश विस्तार की भूमिका को भी स्थापित कर दिया।

———

4. अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम

अमेरिका की खोज करने वाले लोगों में प्रथम स्थान फोनिशयनों का था, जो एटलांटिक महासागर आते-जाते थे। यदि वे भूमध्य सागर पार कर अमेरिकन महाद्वीप तक पहुँचे हों असम्भव नहीं लगता फिर आधुनिक इतिहास के अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोलम्बस अमेरिका का प्रथम खोजकर्त्ता नहीं था। टर्की के इतिहासकार यह दावा करते हैं कि ईसा से 5000 वर्ष पूर्व टर्की प्रदेश के निवासियों का सम्पर्क अमेरिकन आदिवासियों से था। किन्तु इस मत को अभी तक मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। 874 ई. के लगभग नार्वे के वाईकिंगों ने आइसलैण्ड में अपना उपनिवेश स्थापित किया था। एरिक द रेड ने आइसलैण्ड से आगे बढ़ कर 986 ई. में ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर कुछ व्यक्तियों को बसाया था। इस वर्ष में एक जहाज तूफान के कारण मार्ग से भटक गया और उसके कप्तान ने उत्तरी अमेरिका के तट को देखा था। 1000 ई. के लगभग एरिक के पुत्र एरिसन ने उत्तरी अमेरिका के तट का पता लगाया था। 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ग्रीनलैण्ड में वाईकिंग उपनिवेश के नष्ट हो जाने के पश्चात् उनका उत्तरी अमेरिका से सम्पर्क टूट गया। तत्पश्चात् 15वीं शताब्दी में कोलंबस ने उस नई दुनिया का विस्तृत परिचय लोगों को दिया।

आधुनिक युग में भौगोलिक अनुसन्धान के लिए समुद्री यात्राओं को सर्वाधिक प्रोत्साहन देने वाला हेनरी नेवीगेटर (नाविक) था। वह पुर्तगाल के सम्राट जॉन प्रथम का तीसरा लड़का था। उसने पश्चिमी अफ्रीका के समुद्री तट की खोज हेतु कई अभियान भेजे। 1488 ई. में डियाज नामक व्यक्ति कप्तान केप ऑफ गुड होप पर पहुँचने में सफल हुआ। 1492 ई. में स्पेन की महारानी ईसाबेला ने, कोलम्बस नामक एक इटालियन नाविक को, भारत का जलमार्ग खोजने के लिए धनराशि प्रदान की। कोलम्बस ने अपने भौगोलिक ज्ञान के आधार पर यह विश्वास प्रकट किया कि स्पेन के पश्चिम की ओर समुद्र की यात्रा द्वारा वह पूर्व के देशों में पहुँच सकता है। अतः 3 अगस्त 1492 ई. को वह अपने 90 साथियों सहित तीन जहाजों में केडीज के निकट स्थित पालोस के बन्दरगाह से चला। 12 अक्तूबर को वह वेस्ट इंडीज के बहामा द्वीप पर पहुँच गया। यहां से आगे उसने क्यूबा के उत्तर-पश्चिमी तट की खोज की। 1493 ई. में वह बारह सौ

व्यक्तियों के साथ सत्रह जहाज लेकर पुनः उसी ओर बढ़ा। परन्तु वह सफल नहीं हुआ। उसकी तीसरी यात्रा 1498 ई. में आरम्भ हुई जिसमें वह दक्षिण अमेरिका के त्रिनिदाद के तट पर उतरा। 1502 ई. में वह अन्तिम यात्रा पर निकला। इस यात्रा में कोलम्बस क्यूबा से मध्य अमेरिकन तट पर जा पहुँचा और उसने वहाँ से मध्य पनामा के तट का अन्वेषण किया। 1506 ई. मे कोलम्बस की मृत्यु हो गई फिर भी इन आरम्भिक यात्राओं में कोलम्बस ने वहाँ के निवासियों को देख कर कोलम्बस ने अनुमान लगाया कि वह एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि के समीपवर्ती द्वीपों में पहुँच गया है, इसीलिए उसने वहाँ के निवासियों को रेड इण्डियन का नाम दिया। यद्यपि कोलम्बस ने अमेरिका की धरती पर पैर रखे थे किन्तु इस द्वीप का नाम अन्य यात्री के नाम पर पड़ा। 1497 ई. में पुर्तगाल की वित्तीय सहायता प्राप्त कर एक अन्य इटालियन नाविक अमेरिकस वैस्पीसियस अमेरिका की ओर गया। 1501 ई. तक उसने इस महाद्वीप की तीन यात्राएं कीं और अपने यात्रा-संस्मरणों में उसने प्रकट किया वह एशिया के स्थान पर नये महाद्वीप में पहुँचा है। उसके संस्मरणों के आधार पर एक जर्मन भूगोलवेत्ता ने विश्व के मानचित्र में अमेरिका की स्थिति निर्धारित करते हुए इस महाद्वीप का नाम अमेरिकस के नाम पर अमेरिका रखा।

कोलम्बस को इसका श्रेय अवश्य है कि उसने यूरोप का ध्यान इस नये महाद्वीप की ओर आकर्षित किया। फलस्वरूप पुर्तगाल के सम्राट फर्नान्डिस ने कई अभियान अमेरिका की ओर भेजे और न्यू फाउण्डलैण्ड के दक्षिणी तट, ब्राजील आदि का पता लगाया। इस यात्रा से प्रभावित इंगलैण्ड के सम्राट हेनरी सप्तम ने भी 1501 ई. में तीन अंग्रेज व तीन पुर्तगाली व्यापारियों को अतलान्त महासागर में यात्रा के लिए भेजा। ये व्यापारी मध्य अमेरिका तक गये। 1509 ई. में केबट नामक एक इटालियन को इंगलैण्ड ने और भेजा जो कि इसके पूर्व भी दो बार न्यू फाउण्डलैण्ड और अमेरिका के तटीय प्रदेशों की यात्रा कर चुका था।

1524 ई. में फ्रांस के सम्राट ने भी वेरात्सानो नामक एक इटालियन नाविक को एशिया के लिए पश्चिमी मार्ग खोजने भेजा किन्तु वह भी नई दुनियां पहुँच गया और नार्थ कैरालिना से लेकर न्यूयार्क तक के क्षेत्र की खोजबीन की। उसके बाद एक फ्रांसिसी जाक कार्त्या अमेरिका पहुँचा और उसने सेंट लारेन्स नदी के मार्ग से यात्रा करते हुए एक व्यापारिक चौकी स्थापित की जो धीरे-धीरे विशाल नगर में परिवर्तित हो गई। आज इसे 'मांट्रियल' नगर के नाम से जाना जाता है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक अमेरिका में यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों ने अपने-अपने उपनिवेश स्थापित

किये। इंगलैण्ड ने 1583 ई. (एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल) में सर हम्फ्रे गिलबर्ट को उत्तर-पश्चिमी अमेरिका में उपनिवेश बसाने के लिए आज्ञा पत्र दिया। इसके बाद 1584 ई. में गिलबर्ट की मृत्यु के पश्चात् उसके सोतेले भाई सर वाल्टर रेले ने राल्फ लेन तथा सर रिचर्ड ग्रेन विल्ले के नेतृत्व में एक दल अमेरिका भेजा। उन्होंने उत्तरी अमेरिका में उपनिवेश के लिए उपयुक्त स्थान चुनकर उसका नाम इंगलैण्ड की कुमारी (>Virgin) रानी के नाम पर वर्जीनिया रखा। 1585 ई. में लेन अंग्रेज बस्ती का प्रथम अधिकारी नियुक्त किया गया। अमेरिका के मूल निवासियों के लगातार आक्रमणों में इस बस्ती के सभी अंग्रेज मारे गये। 1606 ई. में लंदन की साउथ वर्जीनिया कम्पनी और प्लाईमाउथ की नार्थ वर्जीनिया कम्पनी को सम्राट जेम्स प्रथम ने एक आज्ञा पत्र द्वारा उपनिवेश बसाने और व्यापार की स्वतन्त्रता प्रदान की। इस आज्ञा-पत्र में अमेरिका में बसने वाले अंग्रेजों को भी उन्हीं अधिकारों का वचन दिया गया जो ब्रिटेन अथवा उसके साम्राज्य के किसी भी भाग में रहने वाले व्यक्तियों को प्राप्त थे। 1606 ई. के आज्ञा-पत्र की इसी धारा को अमेरिकनों द्वारा प्रजातन्त्रीय अधिकारों का मूलमन्त्र माना गया। 1763 ई. तक (फ्रांस को सात वर्षीय युद्ध में परास्त कर पेरिस की सन्धि में) इंगलैण्ड ने अमेरिका में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस काल में इंगलैण्ड ने सर्व प्रथम वर्जीनिया प्रान्त को उपनिवेश बनाया जिसकी राजधानी जेम्स टाउन थी। 1619 ई. में वर्जीनिया के गवर्नर ने विभिन्न नगरों के प्रतिनिधियों के साथ जेम्स टाउन की एक चर्च में अपने सलाहकारों के साथ वर्जीनिया की व्यवस्था आदि के बारे में विचार-विमर्श किया। प्रतिनिधियों के इस सदन को हाउस ऑफ़ बरगेसस कहा जाने लगा और इसे स्थानीय कानून बनाने के अधिकार दिये गये। अमेरिका के इतिहास में इस संस्था को कानून बनाने वाली प्रथम प्रतिनिधि संस्था कहा जा सकता है। गवर्नर द्वारा मनोनीत परिषद् उच्च सदन और हाउस ऑफ बरगेसस प्रतिनिधि सदन का कार्य करती थी। ब्रिटेन के अन्य अमेरिकन उपनिवेशों में भी इसी शासन-पद्धति का अनुसरण किया गया था। वर्जीनिया के पश्चात् मैरीलैण्ड, न्यूयार्क, न्यू हैम्पशायर, मेसाचूसेट्स, रोड आईलैण्ड, कनेक्टिकट, न्यूजर्सी, पेनसिलवेनिया, डेलावेयर, उत्तरी वर्जीनिया, दक्षिणी कैरोलाईन और जार्जिया ब्रिटिश उपनिवेश बने जो स्वतन्त्रता के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका के अंग बने।

उपनिवेशों की जनता—उपरोक्त तेरह उपनिवेशों में अंग्रेजों की संख्या सर्वाधिक थी। अंग्रेजों के अतिरिक्त फ्रांसीसी, जर्मन, स्काट, डच, स्विस, पुर्तगाली, स्पेनिश यहूदी और नीग्रो भी इन उपनिवेशों में आकर बस गये थे। 1630 ई. में चार्ल्स प्रथम की धार्मिक स्वेच्छाचारिता से तंग लोग तथा ओलीवर क्रामवेल के समय में राजा के सरदार अनुयाई भाग्य आजमाने इंगलैण्ड से भाग कर अमेरिका

आये थे। इसके अतिरिक्त व्यापारी, किसान, तथा यूरोप से निर्वासित चोर-डाकू व क्रूर अपराधी भी काले पानी के रूप में सजा काटने अमेरिका भेजे गये थे जो सजा के पश्चात वहीं बस गये। फ्रांस के लुई चतुर्दश के धार्मिक अत्याचारों और भारी करों से तंग आकर फ्रांसिसी ह्यूजोनोट्स, जर्मन व स्वीट्ज़रलैण्ड के भूमिहीन कृषक व बेकार श्रमिकों के साथ प्रोटेस्टेण्ट धर्म के विभिन्न मतानुयायी भी अपनी मातृभूमि छोड़ कर अमेरिका में चले आये थे। 18वीं शताब्दी में उत्तरी आयरलैण्ड में रहने वाले स्काच भी अमेरिका में आने लगे। इस प्रकार अमेरिका की जनता यूरोप का प्रतिनिधित्व करती थी, जहाँ एक अलग प्रकार के समाज का निर्माण हो चुका था—प्रगतिशील, धर्म सहिष्णु और नस्लमिश्रित। फ्रांसीसी लेखक क्रेवेस्योर ने अमेरिका के लोगों के बारे में इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि—अमेरिका के निवासियों में ऐसा रक्त का अनोखा सम्मिश्रण देखने को मिलता है जो किसी अन्य देश में नहीं मिलता। इसी सन्दर्भ में उसने ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया जिसका पितामह अंग्रेज, दादी डच, माता फ्रांसीसी, और उसके चारों पुत्रों ने भिन्न-भिन्न यूरोपियन देशों से आने वाले प्रवासियों की कन्याओं से विवाह किया था।

ऐसे समाज से आशा करना व्यर्थ था कि वह अपनी मातृभूमि से किंचित् भी मोह प्रदर्शित करे। फिर भी अमेरिका के लोग राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से इंगलैण्ड से जुड़े हुए थे।

अमेरिका में प्रशासनिक व्यवस्था—इंगलैंड के अधीन भिन्न-भिन्न उपनिवेशों में तीन प्रकार की सत्ताएं स्थापित थीं—(1) स्वशासित् (2) प्रोपाइटर्स द्वारा शासित तथा (3) सम्राट द्वारा शासित। स्वशासित प्रदेशों में परिषद् का चुनाव होता था। शेष उपनिवेशों में सम्राट के अनुमोदन से गवर्नर परिषद् के सदस्यों को मनोनित करता था। सभी उपनिवेशों में परिषद् उच्च सदन व गवर्नर के परामर्शदाता-संस्था के रूप में कार्य करती थी। स्वशासित प्रदेशों में गवर्नर का चुनाव जनता द्वारा होता था जबकि अन्य में सम्राट या प्रोपाईटर गवर्नर की नियुक्ति करते थे। सम्राट या प्रोपाईटर नियुक्त गवर्नरों को असीमित अधिकार प्राप्त थे। वह अपने उपनिवेश की न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का अध्यक्ष होता था। उसे किसी भी कानून बनाने की सिफारिश करने और दोनों सदनों द्वारा पारित किसी भी बिल को अन्तिम स्वीकृति देने का अधिकार प्राप्त था। प्रतिनिधि-सभा को बुलाने, स्थगित करने और भंग करने का अधिकार भी उसे था। महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ भी गवर्नर करता था एवं वह किसी सरकारी अधिकारी को पद से हटा सकता था। वह नये निर्वाचक जिले बना सकता था। अमेरिका की जनता द्वारा निर्वाचित् प्रतिनिधि हाउस ऑफ बरगेसस का सदस्य होता था। सभी उपनिवेशों में मतदाता का वयस्क होना आवश्यक था।

मताधिकार सम्पत्ति की मात्रा द्वारा सीमित था। कुछ उपनिवेशों में सम्पत्ति के साथ-साथ ईसा की श्रद्धा द्वारा ही मताधिकार प्राप्त होता था। गवर्नर द्वारा नियुक्त न्यायाधीश साधारण मुकदमों की सुनवाई करता था। उसके फैसले की अपील काऊण्टी के न्यायाधीश सुनते थे। उसके ऊपर गवर्नर और उसकी परिषद् तत्पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय इंगलैण्ड की प्रिवी कौंसिल थी।

1688 ई. की इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने अमेरिका के जनमत को प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड की संसद के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों के निर्वाचित प्रतिनिधि-सदन भी संघर्ष करने लगे। इस समय तक प्रतिनिधि सदनों को केवल विचार करने की स्वतन्त्रता, स्वयं की प्रक्रिया का नियन्त्रण और विरोधपूर्ण निर्वाचनों के निर्णय का अधिकार ही था। किन्तु अब उन्होंने गवर्नर की शक्तियों को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया फलतः सदन और गवर्नर में संघर्ष उत्पन्न होने लगा। इसी का परिणाम हुआ कि इंगलैण्ड के समान अमेरिकन जनता के प्रतिनिधियों ने भी गवर्नर के वित्तीय अधिकारों को सीमित कर अपनी शक्ति में वृद्धि की। गवर्नर का वेतन बढ़ाना या कम करना प्रतिनिधियों के अधिकारों में आ गया। इस प्रकार वित्त-नियन्त्रण द्वारा सदन ने गवर्नर-शक्ति पर कुछ अंकुश स्थापित कर लिया था।

आर्थिक जीवन—औपनिवेशिक काल में अमेरिकन समाज तीन वर्गों में विभक्त रहा था—(1) उच्च वर्ग—प्रशासक, बड़े-बड़े बागानों के स्वामी, धनी व्यापारी, सफल वकील व डॉक्टर, बड़े पादरी, न्यायाधीश और प्राध्यापक इस वर्ग में आते थे। उपनिवेशों के प्रशासन, खेती, व्यवसाय और व्यापार पर इनका नियन्त्रण था। इनकी संख्या दक्षिण व मध्य के उपनिवेशों में अधिक थी। धनी और प्रभावशाली होने के कारण यह वर्ग इंगलैण्ड के अमीरों की दिनचर्या और आदतों की नकल करता था। (2) मध्यम वर्ग—छोटे-छोटे भूमिपति और साधारण व्यापारी, जिनकी संख्या उत्तर व मध्य उपनिवेशों में अधिक थी इस वर्ग में सम्मिलित थे। और अन्त में निम्न वर्ग—इसमें श्वेत-सेवक थे। इन सेवकों की भी तीन श्रेणियाँ विद्यमान थीं—(अ) वे व्यक्ति जो यूरोप से अमेरिका में अन्य के पैसों से आये थे तथा अपना किराया चुकाने भू-स्वामी या धनी व्यापारी की सेवा कर मुक्त हो जाते थे (आ) ऐसे अपराधी, जिन्हें यूरोप से निर्वासित कर दिया गया था और (इ) इस श्रेणी में अनाथ और भिखारी लोग थे। इनकी संख्या दक्षिण में अधिक थी। अन्त में काले-सेवकों के अन्तर्गत हब्शी या नीग्रो दास थे। इन्हें मुक्ति का और राजनीतिक आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं था। दक्षिणी उपनिवेशों में इनकी संख्या बहुत अधिक थी।

अमेरिकन उपनिवेशों में 90% जनता का मुख्य व्यवसाय कृषि था। भूमि की अमेरिका में कोई कमी नहीं थी अतः निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी कठोर परिश्रम

द्वारा बड़े-बड़े बागानों का स्वामी बन सकता था। दक्षिण के उपनिवेशों में अनुकूल जलवायु और उपजाऊ जलवायु और उपजाऊ भूमि होने के कारण तम्बाकू, चावल और नील के बड़े-बड़े बागानों में खेती होने लगी थी फिर भी नीग्रोदास और श्वेतदासों की बन्धुआ-श्रमिकी की सहायता से उपज भी अच्छी और सस्ती होती थी। मध्य के उपनिवेशों में गेहूं, व अन्य अनाज फल तथा सब्जियाँ उगाई जाती थी। इन प्रदेशों से खाद्य सामग्री अन्य उपनिवेशों और वेस्ट-इण्डीज को भेजी जाती थीं। खेती के साथ-साथ पशुपालन भी उपनिवेशों में मुख्य व्यवसाय था। इन व्यवसायों के उन्नत दशा में होते हुए भी अधिकतर बागान मालिकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी—वे अंग्रेज व्यापारियों के माध्यम से अपना माल इंगलैण्ड या अन्य स्थानों पर भेजते थे और वहाँ से कच्चा माल मंगाते थे। इस माल का भुगतान वे हुँडियों में करते थे अतः इंगलैण्ड के व्यापारी इस आदान-प्रदान में अच्छा लाभ अर्जित कर लेते थे वहाँ बागान मालिकों को नुकसान होता था। इस नुकसान की पूर्ति हेतु अंग्रेज व्यापारियों का ऋण बागान स्वामियों पर बढ़ता जाता था। यद्यपि किसानों को ऋणदाताओं से बचाने हेतु भूमि बैंक स्थापित किये गये पर यह सुविधा सभी उपनिवेशों में नहीं थी। दूसरी समस्या भूमि के सट्टेबाजों द्वारा भूमि के मूल्य में असाधारण वृद्धि थी फलतः छोटे-छोटे परिश्रमी किसानों की आशा पर तुषारापात होने लगा और वे असन्तोष की ओर बढ़ने लगे यद्यपि 1663 ई. में इंगलैण्ड की सरकार ने एक कानून द्वारा सम्राट की स्वीकृति के बगैर उपनिवेशों की सीमा के बाहर की भूमि-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाकर ऐसे अनाधिकृत विक्रय पर रोक लगा दी थी परन्तु वह सफल नहीं हो सकी। इसीलिए कई उदारवादी बागानों के स्वामियों और साधारण कृषकों ने प्रतिनिधि सदनों में अपने प्रतिनिधि भेजने के अधिकार प्राप्त करने, भूमि-कर की दर कम करने और धार्मिक कर समाप्त करने की मांग भी की—इनमें पेट्रिक हेनरी, रिचर्ड हेनरी ली, थामस जेफरसन जैसे उदारवादी धनी भी सम्मिलित थे।

कृषि के पश्चात् वाणिज्य-व्यवसाय में फर के व्यापार का महत्व था। उपनिवेशों की सीमा पर रहने वाले निवासी रेड इण्डियनों से कम्बल, शराब, शस्त्र और अन्य वस्तुओं के बदले फर प्राप्त होता था। यह फिर महंगे दामों पर यूरोप में बेचा जाता था। अमेरिकन वनों में अच्छी ईमारती लकड़ी सस्ते मूल्यों पर प्राप्त हो जाती थी अतः यूरोप में यहाँ से लकड़ी भेजने के साथ-साथ जहाज बनाने के व्यवसाय ने भी अमेरिका में उन्नति की जो कि यूरोप के जहाजों से सस्ते और अच्छे होते थे। अमेरिका के बड़े-बड़े बागानों में ऊन के लिए भेड़ों को काफी संख्या में पाला जाने लगा, सन और कपास की खेती ने कपड़ों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि की, और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में टोप का व्यवसाय उन्नति करने लगा। इस प्रकार ऊनी, सूती वस्त्र तथा टोप के उद्योग ने अमेरिका के

निर्यात में असाधारण वृद्धि की, फलस्वरूप इंगलैण्ड के मिल-मालिकों को इंगलैण्ड की सरकार पर दवाव द्वारा कानून पारित कराने पड़े ।

इसी प्रकार उत्तर व मध्य के उपनिवेशों से लोहे की वस्तुओं का निर्यात वेस्ट-इण्डीज से गुड़ का आयात कर अच्छी शराव को बनाने के पश्चात् इसका यूरोप में निर्यात होता था । गुड़ के बदले वेस्ट-इण्डीज को गेहूं, गोश्त, और कच्चा माल भेजा जाता था । 1733 ई. में ब्रिटिश सरकार ने गुड़ के आयात को नियन्त्रित करने हेतु एक कानून बनाया था किन्तु उपनिवेश के व्यापारियों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया ।

उपनिवेशों का अन्य उद्योग मछली पकड़ना भी था । यूरोप में सूखी मछलियों को निर्यात किया जाता था । कनाडा के फ्रांसिसियों ने अमेरिकन मछली उद्योग की निरन्तर उन्नति को अपने हितों के विरुद्ध माना । इस सम्बन्ध में अंग्रेजों से उनकी प्रतिद्वन्द्विता सप्तवर्षीय युद्ध (1756-1763 ई.) के अन्त तक चलती रही थी । 18वीं शताब्दी के आरम्भ में आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में अमेरिकन उपनिवेश आत्म निर्भरता प्राप्त कर चुके थे । उनका व्यापारिक सम्बन्ध पहले इंगलैण्ड से ही था परन्तु उन्नति के साथ-साथ यूरोप और इंगलैण्ड के अन्य एशियाई उपनिवेशों से अमेरिकनों ने आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था ।

18वीं शताब्दी के सातवें दशक (अप्रेल 1775 ई.) तक अमेरिकन उपनिवेशों में अमेरिकन समाज, अमेरिकन राष्ट्र, अमेरिकन प्रशासन, और अमेरिकन अर्थ व्यवस्था की भावना का उदय हो चुका था । किसी भी राष्ट्र में स्वव्यवस्था के प्रति आकर्षण इस राष्ट्र के लोगों को स्वराज्य स्थापित करने की कल्पना को प्रेरित करने लगता है । अमेरिका में भी इन्हीं स्थितियों ने क्रांति को जन्म दिया । अमेरिकन क्रांति की इन परिस्थितियों की उत्पत्ति के अन्य कई कारण थे जिनको समझना क्रांति की उत्पत्ति के विकास के लिये आवश्यक है ।

अमेरिकन-स्वतन्त्रता-संग्राम के कारण

अमेरिकन-स्वतन्त्रता-संग्राम से कारणों को हम-सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सप्तवर्षीय युद्ध और सामयिक भागों में विभक्त कर सकते हैं ।

(1) सामाजिक कारण :—

इंगलैण्ड को छोड़ कर अधिकांश अप्रवासी ने अमेरिका में कठोर परिश्रम द्वारा जीवन को प्रारम्भ किया था । यह आप्रवासी धार्मिक प्रताड़ना, सामाजिक शोषण, राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध इंगलैण्ड से भागे थे अत: इन्होंने अमेरिका में नये और स्वच्छन्द समाज को स्थापित करने का प्रयत्न किया । इस

प्रकार विकसित होने वाला समाज स्वाभाविक रूप में इंगलैण्ड के रूढ़िवादी समाज से भिन्न प्रगतिशील और नये विचारों वाला समाज था। ट्रेवेलियन के अनुसार इंगलैण्ड के समाज में पेचीदगियाँ, दिखावा और अतिव्ययता की विशेषताएं थीं वहां अमेरिकन समाज सादगी की विशेषता लिये हुए था। इस प्रकार दो भिन्न प्रकार के समाज में सामंजस्य की आशा लम्बे काल तक व्यर्थ थी। फिर इंगलैण्ड से ऐसे अपराधी अमेरिका में आये जो इंगलैण्ड की सामाजिक व्यवस्था के आलोचक थे। इन्हें अपनी मातृभूमि के प्रति कोई सद्भावना नहीं थी। इंगलैण्ड में एंग्लीकन चर्च का प्रभुत्व था जबकि उपनिवेशवासी या तो धर्म के मामले में उदार थे या प्यूरिटन धर्म के अनुयायी थे अतः धार्मिक विश्वास की दृष्टि से भी इंगलैण्ड और उपनिवेशों के लोगों की मान्यताओं मे बड़ा अन्तर था।

(i) **नवीन विचार :**—स्वतन्त्र प्रकृति के उपनिवेशवासी समानता और स्वायत्तता का शासन चाहते थे। इस प्रकार की अमेरिकी भावनाओं का प्रदर्शन समकालीन पत्र, पत्रिकाओं तथा राजनीतिक लेखों में प्राप्त होता है। रूसो और लॉक के राजनीतिक विचारों का प्रभाव भी तात्कालीक समाज में व्याप्त हो रहा था। रूसो के अनुसार स्वतन्त्रता, समानता, और भ्रातृत्व पर राज्य का हस्तक्षेप हो तो उसे बदल देना चाहिये क्योंकि यह अधिकार प्राकृतिक है फिर राज्य तो मात्र शासन और जनता के मध्य समझौता है। समझौता भंग होने की अवस्था में शासन का कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार लॉक के अनुसार जीवन, स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति का अधिकार जनता को जन्मजात प्राप्त है यदि कोई इनमें हस्तक्षेप करता है तो ऐसी व्यवस्था को हटा देना चाहिये। इस प्रकार यूरोपीय दार्शनिकों के साथ-साथ अमेरिकन विचारकों में **टोम पेन** प्रमुख है। इसने 1776 ई. में एक चौपन्ना (पेम्फलेट) प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था 'कामनसेन्स'। पेन ने सरल व प्रभावशाली भाषा में यह प्रचार किया कि "उपनेशवासी ब्रिटीश शासको की तुलना में अपने प्रशासन को अच्छी तरह चला सकने हैं और उनके लिये यह स्वर्ण अवसर आ गया है कि जबकि वे एक ऐसे नये समाज की रचना कर सकते हैं जिसमें यूरोपीयन पृष्ठभूमि वाला शोषण तथा अत्याचार नहीं हो। ऐसी रचना का कार्य अवैध नहीं माना जा सकता क्योंकि उपनिवेशवासियों को अपने उदार आदर्शवाद तथा प्रबुद्ध स्वार्थों के अनुसार जीवित रहने का अधिकार है। पेन का विचार शिक्षित देशभक्तों के दिल में घर कर गया। अन्य व्यक्तियों में जेम्स आटिस, पेट्रिक हेनरी तथा सेम्यूअल एडम्स नामक व्यक्ति प्रमुख थे। जेम्स ने खोज वारन्ट अधिनियम का तो पेट्रिक ने स्टाम्प अधिनियम का प्रतिरोध किया। पेट्रिक हेनरी एक युवक था उसने युवकों में नई जान फूंक दी। वह कहता था—या तो मुझे स्वतन्त्रता दो वरना मृत्यु दो। सेम्युअल एडम्स ने—"प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं" का नारा बुलन्द किया था। वहां कुछ उदारवादी

नेता भी थे जिनमें बेंजामिन-फ्रेन्कलीन, जोसेफ गैलावे आदि मुख्य थे जो सम्राट के अधीन स्वायत्तता में विश्वास रखते थे। अमेरिका में इस नई विचारधारा के दो दल बन गये—स्वामीभक्त (लोयलीस्ट), और देशभक्त (पेट्रोटीस्ट)। पेट्रोटीस्ट में भी उग्रक्रान्तीकारी लोगों ने 'स्वतन्त्रता के पुत्र' नामक संस्था का गठन किया जिसमें इज्जेक सीयर्स, जान लेम्ब, चार्ल्स थामसन आदि मुख्य नेता थे। उदारवादी देशभक्तों में सेम्युअल एडम्स ने 1772 ई. में 'पत्र व्यवहार समिति' की स्थापना की। इसके अनुसरण पर सभी राज्यों में ऐसी समितियाँ गठित् हुईं। इन समितियों का प्रचार था-"प्रकाश के स्वामी ने हमको अत्याचारी के पास भेजने के लिये एक संदेश दिया है, वह है-हाथ बराबर कटार उसके पेट में घुसेड़ देना। प्रत्येक व्यक्ति जो देश का कल्याण चाहता है वह इसका संदेशवाहक बने।" इस संदेश ने उपनिवेशों को एक सूत्र में बांधने का कार्य किया।

अमेरिका के साथ-साथ इंगलैण्ड में भी ऐसे विचारक थे जो इंगलैण्ड के राजनीतिक-आर्थिक अत्याचारों के विरुद्ध उपनिवेशों के प्रति सहानुभूति रखते थे और समय-समय पर उन्होंने इंगलैण्ड की संसद में अपनी अभिव्यक्ति द्वारा अमेरिकन-उपनिवेशों के नवयुवकों में अप्रत्यक्षतः स्वाधीनता की आकांक्षा को उग्र किया। इनमें जार्ज तृतीय के काल में प्रधानमंत्री अर्ल ऑफ चैथम तथा सांसद एडमन्ड वर्क थे।

(ii) **सामाजिक वर्गों की अभिवृत्ति**—उत्तरी उपनिवेशों के व्यापारी सोचने लगे थे कि इंगलैण्ड द्वारा नियंत्रित् 'व्यापार नियंत्रण' उनकी व्यापारिक क्षमता पर अंकुश लगा देगा। साथ ही उनकी रूष्ठता का एक अन्य कारण यह भी था कि उपनिवेशों में नीति के आधार पर उत्पादन करने की सम्भावनाओं का गला घोटा जा रहा है। दक्षिणी उपनिवेशों के प्लांटस अथवा बड़े किसान इंगलैण्ड के महाजनों के ऋण से दबे हुए थे। अतः वह सोचते थे कि इंगलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद होने पर वे अपने ऋण के भुगतान से बच जायेंगे। इसके अतिरिक्त वे दक्षिण के निकटवर्ती उपजाऊ भू-भागों में प्रसार के लिये उत्सुक थे किन्तु उनको गृह-सरकार की बाधा का भय था।

उपरोक्त धनी वर्गों के साथ-साथ साधारण मध्यम वर्ग के लोग, जिनमें नगरों के व्यवसायी तथा गाँवों के छोटे किसान आते थे। धनी स्वार्थों से अलग हट कर कुछ सिद्धान्तों से प्रेरित थे। यह लोग मनोवृत्ति में अत्यन्त उदार और प्रगतिशील थे। इनमें राजनीतिक-आर्थिक चेतना की पूर्ण जागृति थी। अतः यह वर्ग उपनिवेशों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रजातंत्र का पक्षपाती और इंगलैण्ड के शासकों के विशेषाधिकारों और सुविधाओं से घृणा करता था। इस वर्ग में श्री प्रेमनारायण के अनुसार "सामाजिक समानता, आर्थिक अवसर एवं

राजनीतिक अधिकार की प्रवल आकांक्षा थी किन्तु इसके अभाव में इसमें निराशा व असंतोष की भावना व्याप्त थी जिसे वह संघर्ष करके मिटाना चाहता था।" इस लक्ष्य की प्राप्ति में इस वर्ग ने उपनिवेशी अधिकारियों, शासकों, तथा स्वार्थी वर्गों के विनाश की कल्पना की। अमेरिकी क्रांति मूलतः इसी वर्ग की उपलब्धि थी।

(2) राजनीतिक कारण—

उपनिवेशों के अप्रवासी प्रारंभ से ही जनतंत्र शासन पद्धति से परिचित थे। उनकी शासन प्रतिनिधित्व शैली (हाऊस ऑफ बरगेसस), और सामान्य विधि द्वारा आश्वासित व्यक्तिगत अधिकारों की मान्यता थी। उनकी विधान सभाएं अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती थीं। वे उपनिवेशों के आन्तरिक मामलों पर बड़ा ध्यान देती थीं। इसी प्रकार नगरों और बड़े गाँवों में स्थानीय शासन स्थापित था। इन स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता था। इसके सदस्य अपने-अपने क्षेत्र की सम्पूर्ण समस्याओं पर विचार करते और कहीं-कहीं पर वे प्रतिनिधि सदन के चुनाव में खड़े होने वाले प्रतिनिधि का निर्णय भी करते थे। इंगलैण्ड के राजा ने भी स्वेच्छा से उनकी शासन पद्धति को मान्यता प्रदान कर रखी थी। परन्तु जब इंगलैण्ड की संसद ने अमेरिकी उपनिवेशों के साम्राज्यवादी नीति और व्यापारिक लाभ के अनुरूप ढालने की ओर ध्यान दिया तब तक अमेरिकी उपनिवेश भी शक्तिशाली और सम्पन्न हो चुके थे। ऐसी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता के विरुद्ध अन्य देश की संसद द्वारा पारित कानूनों को वे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे।

(i) दोषपूर्ण शासन व्यवस्था—उपनिवेशों की शासन व्यवस्था संतोषजनक नहीं थीं। गवर्नर और उसकी परिषद् सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे जबकि प्रतिनिधि सदन जनता के प्रति। कानून निर्माण और कर लगाने का अधिकार प्रतिनिधि सदन को था। इसके साथ-साथ गवर्नर और अन्य ब्रिटिश अधिकारियों का वेतन निर्धारण और घटाने-बढ़ाने का भी उसे अधिकार था। इस विस्तृत सदन अधिकार और कार्यपालिका के नियंत्रण के मध्य निरन्तर विरोध बना रहता था। गवर्नर के प्रशासनिक-दायित्व तो बहुत थे किन्तु अधिकार कुछ भी नहीं थे वहाँ विधायिका को अधिकार बहुत थे पर उसका दायित्व कुछ भी नहीं था। इन स्थितियों से शासक और शासित दोनो असंतुष्ट थे।

(ii) इंगलैण्ड की आन्तरिक राजनीति—1760 ई. के पूर्व इंगलैण्ड की वास्तविक सत्ता ऐसे मंत्रीमंडलों के हाथ में थी जिनका कॉमन सभा में बहुमत था। परन्तु 1760 ई. में जार्ज तृतीय इंगलैण्ड की गद्दी पर बैठा तो उसने इंगलैण्ड की संसद को अपनी कठपुतली बनाये रखने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। इसलिए उसने अपने व्यक्तिगत समर्थकों की संख्या बढ़ाने हेतु, संसद में अपने मनोनीत सदस्यों का निर्वाचन करवाया। 1770 ई. तक जार्ज ने अपना स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर अपने समर्थक लोगों को ऊंचे-ऊंचे पद देना प्रारम्भ किया। इनमें से अनेक

अधिकारी उपनिवेशों से लाभ उठाने के लिये उपनिवेशों में नौकरियाँ तथा अन्य सेवाएं प्राप्त करने में सफल हुए। इन लोगों ने अंग्रेज-व्यापारियों से भी सांठ-गांठ की जो कि उपनिवेशों में शोषण करते थे। इस प्रकार जार्ज तृतीय के स्वेच्छाचारी शासन तथा सम्राट के मित्रों ने उन परिस्थितियों के विकास में सहयोग दिया जिसके फलस्वरूप अमेरिका में क्रांति हुई।

(*iii*) **कठोर नीतियां**—1763 ई. के पूर्व भी 1651, 1660 तथा 1689 ई. में नेवीगेशन एक्टों (नौ संचालन अधिनियम) द्वारा उपनिवेशों के व्यापार और उत्पादन पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाये हुए थे किन्तु इसका पूर्णत: पालन न तो उपनिवेशवासियों ने किया और न इंगलैण्ड की सरकार ने इनकी ओर ध्यान दिया। 1763 ई. में ग्रेनवाइल इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री बना तो उसने अपने से पूर्व प्रधानमंत्रियों द्वारा अपनाई नीति को छोड़ कर (जो कि उपनिवेशों से आये पत्रों को खोलने तक के पक्ष में नहीं थे), उपनिवेशों के पत्रों को खोलना प्रारम्भ किया। फलत: उसने पाया कि उपनिवेशों की सम्पूर्ण व्यवस्था में गड़बड़ी मची हुई है। उसने व्यवस्था को सुधारने के लिए करों में ऐसा परिवर्तन किया कि उपनिवेशों में उत्पादन के प्रति लोगों का उत्साह बढ़े। चुंगी की चोरी रोकने हेतु चुंगी-दर कम कर दी। अत: ग्रेनवाइल का उद्देश्य इंगलैण्ड और उपनिवेश दोनों के लाभ को देखते हुए व्यवस्था को बदलना था। वह कानूनों को बदलने के लिये भी तैयार था परन्तु पारित कानूनों का पालन करवाने में बड़ा कठोर था। उपनिवेश वर्षों से अवेहलना किये जाने वाले कानूनों को पालन करने को तैय्यार नहीं थे। अत: दोनों में संघर्ष होना निश्चित् था।

इसी प्रकार ग्रेनवाइल ने 10 हजार ब्रिटिश सेना में भाड़े पर रखे गये जर्मन सैनिक, उत्तरी उपनिवेशों में भेजे। इस सेना का उद्देश्य रेड इन्डियन तथा फ्रांसीसी आक्रमण से उपनिवेशों की रक्षा करना था। यह सेना क्योंकि उपनिवेश सुरक्षार्थ भेजी गई अत: यह निर्णय किया गया कि इस पर होने वाले व्यय का आंशिक भुगतान उपनिवेश भी करे। अत: इस व्यय-भार की पूर्ति हेतु ग्रेनवाइल ने विभिन्न व्यापारिक अधिनियम घोषित् किये। अमेरिका के लोगों ने इस सेना को उनके स्वतन्त्र विचारों को कुचलने का माध्यम मानते हुए इसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप सेना को भेजने का प्रयोजन परिवर्तित होते हुए क्रांति विरोधी और दमन में बदल गया।

(*iv*) **वाणिज्यवाद**—17वीं और 18वीं शताब्दी में यूरोप के अन्य देशों की भांति इंग्लैण्ड की नीतियों का दृष्टिकोण भी वाणिज्यवाद पर आधारित् था। बढ़ती हुई जनसंख्या को खपानें कृषि, व्यापार उद्योग के लिये क्षेत्र तथा कच्चे माल की पूर्ति, तैय्यार माल के लिये बाजार तथा इन सभी व्यवस्थाओं को सुरक्षित् रूप

से संचालित करने हेतु शक्तिशाली नौ-सेना और व्यापारी बड़े परम आवश्यक थे। इसके लिये उपनिवेश की उपयोगिता मुख्य थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इंग्लैण्ड ने अमेरिकी उपनिवेशों में उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाये ताकि अपना तैय्यार माल अमेरिका में बेच सके। उपनिवेशों को कच्चामाल (जिसमें फर तथा लोहा मुख्य था) तैय्यार करने के लिये प्रोत्साहन दिया गया। वाणिज्यवाद के अन्तर्गत इंग्लैण्ड में नौ-संचालन कानून (1651 ई.) पारित किये गये। इनमें ब्रिटिश-व्यापार के एकाधिकार को स्थापित करने का प्रयास किया गया, उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड की आवश्यकता वाले कच्चे माल को बिना इंग्लैण्ड के बन्दरगाहों पर लाये उपनिवेशों से दूसरे स्थानों पर निर्यात नहीं किया जा सकता था। इससे जहां इंग्लैण्ड को कच्चे माल की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती थी वहां इंग्लैण्ड के व्यापारियों को दलाली का लाभ भी प्राप्त हो जाता था। शेष कच्चे माल को इंग्लैण्ड से निर्यात करने पर सरकार को राजस्व मिल जाता था। स्पष्टतः लाभ पर लाभ कमाने की यह व्यवस्था उपनिवेशों के प्रति अन्यायपूर्ण थी क्योंकि अमेरिकन उत्पादकों का लाभ नगण्य था। इसी प्रकार 1663 ई. में एक अन्य कानून द्वारा उपनिवेशों को निर्यात किये जाने वाला माल भी पहले इंग्लैण्ड के बन्दरगाहों पर लाना आवश्यक कर दिया गया। परिणामस्वरूप इस दलाली के लाभ के प्रति अमेरिका के उपनिवेशों में असंतोष बढ़ने लगा था।

(3) आर्थिक कारण—

व्यापारवाद से प्रभावित इंग्लैण्ड की सरकार ने आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने के लिये समय-समय पर कानून बनाये, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—प्रथम नौ संचलान कानून, द्वितीय व्यापारिक अधिनियम तथा तृतीय औद्योगिक अधिनियम। प्रथम प्रकार के कानूनों द्वारा निश्चित किया गया कि उपनिवेशों से आयात-निर्यात होने वाला माल केवल इंग्लैण्ड के जहाजों द्वारा ही किया जायेगा और जहाजों के संचालक भी अंग्रेज ही होंगे। चूंकि उपनिवेशियों को भी अंग्रेज मान लिया गया अतः उस समय इससे उपनिवेशियों का लाभ ही पहुँचा और उनके जहाज-निर्माण उद्योग में आशातीत उन्नति भी हुई। द्वितीय वर्ग के अधिनियमों से उपनिवेशों में उत्पादित (चांवल, तम्बाकू, लोहा, लकड़ी, चमड़ा, नील आदि) वस्तुओं का निर्यात इंग्लैण्ड के माध्यम से ही किया जायेगा, जबकि डच और फ्रांसीसी इस माल पर ज्यादा दाम देते थे पर इस अधिनियम से उपनिवेशियों के लाभ पर अंकुश लगाने से तस्करी अधिक बढ़ गई। तृतीय श्रेणी के अधिनियमों में उपनिवेशियों के उद्योगों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। उदाहरणार्थ—1689 ई. में ऊनी माल के निर्यात को बन्द कर दिया गया तो 1732 ई. में तैय्यार अथवा आधे तैय्यार टोपों (हैट्स) का निर्यात बन्द कर दिया

गया। 1750 ई. में उपनिवेशों में लोह-कारखानें स्थापित करने पर रोक लगा दी गई। फलतः इसके पश्चात् उपनिवेशी लोहे की छड़ें नहीं बना सकते थे।

यह सभी कानून यद्यपि उपनिवेशियों के लिये हानिकारक थे फिर भी इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा कठोरता नहीं बरतने के कारण उपनिवेश के व्यापारी और उद्योगी अन्य देशों से व्यापार करते रहे और उद्योग-प्रतिबन्धों को उपेक्षित करते रहे। परन्तु ग्रेनवाइल ने अमेरिकी उपनिवेशों को मध्ययुगीन जागीरों के समकक्ष समझा जिन पर राजनीतिकार्थिक नियंत्रण स्थापित करना, उसकी समझ में आवश्यक था। इसीलिये उसने व्यापार के अधिनियमों को लागू करने और करों के माध्यम से राजस्व की वृद्धि करने की नीति की घोषणा की।

(i) **नई आर्थिक नीति**—1733 ई. का **शीरा-अधिनियम** इसकी (ग्रेनवाइल) पहल थी। इसके अनुसार फ्रांसीसी और स्पेनीश वेस्ट इंडिज से आयात किये जाने वाले शीरे के एक गेलन पर 6 पेन्स चुंगी लागू कर दी गई। इसका उद्देश्य था कि उपनिवेश शीरे का आयात केवल ब्रिटिश वेस्टइंडिज से करे जिसका लाभ इंग्लैण्ड के व्यापारियों को मिल सके। इसकी भी अमेरिकी व्यापारियों ने अवहेलना की फलतः 1764 ई. में **शक्कर अधिनियम** द्वारा शीरा अधिनियम संशोधित किया गया 6 पेन्स के स्थान पर चुंगी 3 पेन्स कर दी गई किन्तु शक्कर पर चुंगी की वृद्धि की गई और शराब, रेशम, व अन्य प्रकार के वस्त्रों पर कर लगाया गया। कस्टम सेवा का विस्तार करते हुए कस्टम अधिकारियों को विस्तृत क्षेत्राधिकार प्रदान किये गये। 1764 ई. में अंग्रेज देनदारों की प्रार्थना पर **मुद्रा अधिनियम** पारित कर भविष्य में उपनिवेशों में पत्र-मुद्रा के प्रचलन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लेनदारों द्वारा मुद्रा के गिरे हुए मूल्य पर ऋणों के भुगतान पर रोक लगा दी गई। इसके परिणाम-स्वरूप उपनिवेशियों का आर्थिक बोझ बढ़ गया क्योंकि उनके पास नकद रुपयों की कमी थी। 1765 ई. में **स्टाम्प-अधिनियम** द्वारा समाचार-पत्रों, आलोचना-पत्रिकाओं, व्यापारिक और कानूनी दस्तावेजों पर स्टाम्प ड्यूटी का भुगतान अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार यह प्रथम अवसर था जबकि उपनिवेशों पर प्रत्यक्ष-कर लगाये गये थे। इन करों को वसूल करने, तथा तस्कर व्यापार रोकने के लिये ब्रिटिश अधिकारियों को "रिट्स ऑफ असिस्टेन्स" (विस्तृत अधिकार-युक्त वारन्ट) द्वारा संदिग्ध स्थानों की तलाशी लेने के अधिकार दिये गये। साथ ही "कोर्ट ऑफ एडमिरेल्टी" नामक विशेष न्यायालय की स्थापना कर नियमोल्लंघन करने वालों पर अभियोग चलाने की व्यवस्था की गई। ग्रेनवाइल की इस आर्थिक नीति और कठोर नियंत्रण का विरोध सभी उपनिवेशों की वस्तियों में हुआ। तेरह में से नौ वस्तियां (राज्य) वर्जीनिया में स्टाम्प एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन करने के विचार से एकत्रित हुई। उनका कहना था कि यह कार्य वस्तियों में आन्तरिक हस्तक्षेप है। जब

बस्तियों का कोई प्रतिनिधि इंगलैण्ड की संसद में नहीं तो फिर संसद को बगैर प्रतिनिधित्व के कर लगाने का भी अधिकार नहीं है। राजनीतिज्ञों के भाषणों और लेखों से जनता अधिक विरोधी बन गई, स्वतन्त्र-पुत्रों की संस्था ने गड़बड़ उत्पन्न करनी प्रारम्भ कर दी, व्यापारियों ने संगठित होकर 'आयात बहिष्कार संघ' संगठित किया और अंग्रेजी माल के बहिष्कार का निश्चय किया। जगह-जगह दंगे भड़क उठे, ब्रिटिश अधिकारी असुरक्षित वातावरण में नियमों के प्रति अधिक जागरूक हो गये वहां 1765 ई. में अंग्रेज व्यापारियों का माल रुकने से बुरा हाल हो गया अतः उन्होंने सरकार पर इस अधिनियम को वापिस लेने हेतु दबाव डालना प्रारम्भ किया। यह कर न्यायोचित् थे अथवा नहीं, इनको देने का कर्त्तव्य और लेने का अधिकार था अथवा नहीं, इसका प्रत्युत्तर प्रोफेसर हन्ट के शब्दों में "अमेरिकी दृष्टिकोण से अंग्रेजी सरकार को उन पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था जबकि सिद्धान्ततः उनकी व्यवस्था पर होने वाले व्यय को बनाये रखने हेतु आय का एक साधन था।"

1766 ई. में राकिन्घम के मन्त्रिमण्डल ने स्टाम्प एक्ट रद्द कर दिया परन्तु संसद के अधिकार को उपनिवेशों पर वैद्य घोषित् करने हेतु **डिक्लेरेटरी एक्ट** (घोषणा-अधिनियम) पारित किया। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं था यद्यपि राकिन्घम उपनिवेश के साथ समझौते के पक्ष में था। राकिन्घम इसमें असफल रहा। राकिन्घम के स्थान पर अर्ल ऑफ चैथम प्रधान मन्त्री बना। उसके काल में वित्तमन्त्री टाउनशेड ने इंग्लैण्ड में तो संसद द्वारा कर घटवा दिये किन्तु इस राजस्व की पूर्ति के लिये उसने उपनिवेशों में व्यापार अधिनियमों को कठोरता से पालन हेतु कार्यवाही शुरू की। फलस्वरूप जो असंतोष कुछ दबने लगा था वह पुनः भड़क उठा।

(ii) **टाउनशेड-प्रोग्राम**—1767 ई. में टाउनशेड ने सीसे, कांच, रंग, चाय और कई अन्य आयात होने वाली वस्तुओं पर चुंगी लगा दी। इस चुंगी का उद्देश्य था कि उपनिवेशों में इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नरों व अन्य राज्य कर्मचारियों के वेतन का भुगतान तथा अन्य व्यवस्था-व्यय, इसकी आय द्वारा पूर्त किया जायेगा। इसका स्पष्ट अर्थ उपनिवेशों की प्रतिनिधि सभा के अधिकारों पर अंकुश स्थापित कर गवर्नरों पर से उनका नियंत्रण हटाना था। इससे उपनिवेशवासी अपने प्रतिनिधित्व के अधिकारों पर चोट समझ कर अधिक क्रुद्ध हुये। फिर अन्य कानून द्वारा उपनिवेशों में उत्पादित् समस्त वस्तुओं की चुंगी-वसूली का अधिकार इंग्लैण्ड सरकार द्वारा वेतनभोगी और नियुक्त कमिश्नरों को सौंपा गया। यह भी उपनिवेशों के नियंत्रण से मुक्त रखे गये। तीसरे कानून द्वारा ईस्ट इन्डिया कम्पनी द्वारा भेजी जाने वाली चाय पर अमेरिका में चुंगी समाप्त कर दी गई फलतः अमेरिकन तस्कर व्यापारियों की अपेक्षा ईस्ट इन्डिया कम्पनी की चाय सस्ती दरों पर उपलब्ध होने लगी। टाउनशेड-प्रोग्राम का भी विरोध होने लगा।

1767 ई. में ही न्यूयार्क की प्रतिनिधि सभा को **क्वार्टरिंग अधिनियम** के उल्लंघन करने पर भंग कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश सैनिकों के आवास तथा रसद का प्रबन्ध-दायित्व वहां की बस्ति का था जहां सेना रहती थी। मैसेचूसैट्स ने इस नियम का कठोर विरोध किया और यह विरोध पत्र समस्त उपनिवेशों में भी भेजा। 1768 ई. में बोस्टन में तस्कर व्यापार रोकने हेतु दो रेजीमेंट रखी गई जिनका स्वतन्त्रता-पुत्रों ने सशक्त विरोध किया। 5 मार्च, 1770 ई. को बोस्टन के नगरवासियों और इन सैनिकों में झगड़ा हो गया फलस्वरूप कुछ व्यक्ति (3/4/5) मारे गये। अमेरिका के इतिहास में यह घटना **बॉस्टन काण्ड** के नाम से प्रसिद्ध है। अमेरिका के ओजस्वी वक्ताओं ने इसे बॉस्टन हत्याकांड की संज्ञा देते हुए सैम एडम्स ने तो सैनिकों पर शील भंग करने के आरोप भी लगाये। इससे अमेरिकनों के हृदय में इंग्लैण्ड के प्रति घृणा की भावना प्रबल हो गई।

(iii) **लार्ड नार्थ की उदार नीति**—लार्ड नार्थ नें (जो कि तत्काल इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री था) 5 मार्च, 1770 ई. को ही टाउनशेड अधिनियमों को निरस्त करने को संसद में प्रस्ताव रखा था। केवल चाय पर चुंगी को संसद की सर्वोच्चता के संकेत के रूप में लगा रहने दिया गया। इस प्रकार लार्ड नार्थ अपनी उदार नीति द्वारा उपनिवेशों से समझौते के पक्ष में था किन्तु उपनिवेश के लोग स्वतन्त्रता के प्रति अधिक जागरूक हो चुके थे। 1773 ई. में जब ईस्ट इन्डिया कम्पनी पर वित्तीय संकट आया तो उसे उबारने नार्थ नें कम्पनी की चाय पर चुंगी हटा दी फलतः तस्कर भी स्वतन्त्रता-पुत्रों के संगठन में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार ईस्ट इन्डिया कम्पनी की चाय का बहिष्कार करने हेतु एक आन्दोलन बनने लगा। फिलेडेल्फिया तथा न्यूयार्क ने चाय से लदे जहाजों को बन्दरगाह पर खाली नहीं करने दिया परन्तु बोस्टन में जनता बहुत उत्तेजित थी। वहां के गवर्नर के रिश्तेदार के जहाज में चाय भरी हुई थी अतः वह उसे किसी न किसी प्रकार खाली कराना चाहता था। 16 दिसम्बर, 1773 ई. की रात को लगभग 50 व्यक्ति रेड इन्डियन का वेश धारण कर सेम एडम्स के नेतृत्व में जहाज पर चढ़ गये और 343 चाय की पेटियां बन्दरगाह में फेंक दीं। इस घटना को **बॉस्टन-टी-पार्टी** कहा जाता है। इस घटना की अमेरिका में सर्वत्र-प्रशंसा हुई वहां इंगलैण्ड में लार्ड नार्थ की उदार-नीतियों पर आक्षेप किया जाने लगा।

(iv) **इंगलैण्ड का दंडात्मक-व्यवहार**—लार्ड नार्थ पर विरोधियों के आक्षेपों ने उसे उपनिवेशों को दण्ड देने की नीति की ओर उन्मुख कर दिया। परिणामस्वरूप उसने इसका प्रत्युत्तर **'इनटोलेरेबल एक्ट'** (असहनशील-अधिनियम) द्वारा दिया। इसमें **बॉस्टन पोर्ट बिल** के अनुसार बॉस्टन बन्दरगाह उस समय तक बन्द कर दिया गया जब तक कि उपनिवेश चाय की क्षति का भुगतान नहीं कर देते। इससे स्पष्ट आशय था कि इंगलैण्ड बॉस्टन का आर्थिक विनाश चाहता है।

बॉस्टन नगर का जन जीवन इस बिल से प्रभावित हुआ और वहां के मजदूर क्रांति पर उतारू हो गये। **मेसाचूसेट्स अधिनियम** द्वारा सभासद का निर्वाचन जनता से छीन कर राजा को इनकी नियुक्ति का अधिकार प्रदान किया गया। गवर्नर को न्यायाधीश नामांकित करने का अधिकार दिया गया और बगैर गवर्नर की अनुमति के नगर सभाओं पर रोक लगा दी गई। **न्याय-प्रशासन अधिनियम** के अन्तर्गत व्यवस्था की गई कि अंग्रेज अधिकारी दंगों को दबाने में हत्या आदि से उत्पन्न मुकदमों की सुनवाई के लिये मुकदमें इंग्लैण्ड भेज दें। अब अंग्रेज अधिकारियों पर मुकद्दमें की सुनवाई अमेरिका में नहीं हो सकती थी। **क्यूबेक अधिनियम** द्वारा कनाडा में रहने वाले कैथोलिकों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और क्वीबेक की सीमा ओहियो नदी तक बढ़ा दी गई। फलतः मध्यमवर्ग के किसानों के भूमि विस्तार को इस कानून द्वारा रोक दिया गया। वहां अमेरिकन प्रोटेस्टेन्टों की धार्मिक भावना पर चोट भी पहुँचाई गई। **क्वार्टरिंग एक्ट** को कठोरता से पालन करवाने हेतु स्थानीय अधिकारियों को विशेष आदेश दिये गये। इस प्रकार इंगलैण्ड की सरकार के इन आर्थिक व्यवहारों ने अमेरिका के सभी वर्ग को किसी न किसी रूप में क्रांति की ओर प्रेरित किया। 5 सितम्बर, 1774 ई. की प्रथम महाद्वीप-कांग्रेस इसी का परिणाम थी।

(4) सप्तवर्षीय युद्ध—

अंग्रेज और फ्रांसीसियों के मध्य उपनिवेशवादी युद्ध सप्तवर्षीय युद्ध कहलाता है। यह भारत और अमेरिका में (1757-1763 ई.) में लड़ा गया था। विभिन्न युद्धों में फ्रांस की पराजय तथा 1763 ई. की पेरिस की संधि के पश्चात् अमेरिका में भी भारत की तरह (1760 ई. में पराजय) विस्तृत क्षेत्र इंग्लैण्ड के हाथ लगा। कनाडा इस विजय से अंग्रेजों को मिला था। इस नवीन प्रदेश की व्यवस्था ने भी अमेरिका को क्रांति के प्रति उकसाया। केनाडा में मुख्यतः कैथोलिक और आदिवासी रेड इन्डियन बसे हुए थे अतः इनका विश्वास प्राप्त करने इंगलैण्ड की सरकार ने क्यूबेक एक्ट 1774 ई. लागू किया। वहां रेड इन्डियनों को आश्वस्त करने हेतु उनका क्षेत्र सुरक्षित घोषित कर दिया। यद्यपि इंगलैण्ड की सरकार धीरे-धीरे उपनिवेश के भूमिपतियों और व्यापारियों की इच्छा के प्रति ध्यान देती किन्तु तत्काल यह संभव नहीं था। फिर जार्ज तृतीय को उग्र नीति अंग्रेज व्यापारियों के चंगुल व क्रांतिकारियों के व्यवहार से रुष्ट होकर अमेरिका के दमन की होती जा रही थी। फलतः अमेरिकन इस युद्ध के परिणाम की आशा, उनके हित में करते थे, वह पूर्ण नहीं हुई और वे इंगलैण्ड की सरकार द्वारा थोपे गये करों के औचित्य को झुठलाने लगे। अमेरिकी लोगों का कहना था कि जब सप्तवर्षीय युद्ध अमेरिकन हित के लिये नहीं लड़ा गया तो सैनिक-व्यय की पूर्ति अमेरिकनों से क्यों? वहां इंगलैण्ड की सरकार का तर्क इनके विरोध में था। इस स्थिति ने भी इंगलैण्ड

के विरुद्ध रोष भावना को उग्र किया। फ्रांस और स्पेन जो कि इंगलैण्ड से हार चुके थे, इन्होंने भी अपरोक्षतः अमेरिकन भावना को भड़काने में सहायता की।

(5) सामयिक कारण—

पेरिस की संधि (1763 ई.) से अमेरिका में फ्रांस की शक्ति का पतन होने के पश्चात अमेरिकन उपनिवेशों में यूरोपीय शक्ति का भय समाप्त हो गया था। अब उनके सम्मुख एक ही शक्ति इंगलैण्ड थी जिसे उपनिवेशों से बाहर निकालना था। फिर फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में औपनिवेशिक सेना ने भी सहयोग किया था अतः उपनिवेश-वासी अपनी शक्ति का अनुभव भी करने लगे। ऐसी परिस्थितियों में उल्लेखित दण्डात्मक व्यवहार ने आग में घी का काम कर दिया और वर्जीनिया के नागरिकों ने सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों का फिलेडेलफिया में एक सम्मेलन आमंत्रित करने का प्रस्ताव रखा। फलतः प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस का अधिवेशन 5 सितम्बर, 1774 ई. को प्रारम्भ हुआ जिसमें जार्जिया के अतिरिक्त अन्य सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

(i) **प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस**—इस कांग्रेस में 56 प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। यह सदस्य आरम्भ से ही दो गुटों में विभक्त हो गये। एक दल उग्रवादियों का था जिनकी मान्यता थी कि अब शक्ति प्रयोग का समय आ गया है। इस दल के प्रमुख सदस्य जान एडम्स, सेम एडम्स, पेट्रिक हेनरी तथा रिचार्ड हेनरी थे। दूसरी ओर कुछ उदारवादी थे जिनकी मान्यता थी कि अब भी समझौता हो सकता है। इसमें उदारवादी सदस्यों के प्रस्ताव पर "अधिकारों और शिकायतों का घोषणा पत्र" पारित किया गया और सम्राट के प्रति निष्ठा दिखलाते हुए शिकायतें दूर करने हेतु एक याचना पत्र इंगलैण्ड भेजा गया। उग्रवादियों के प्रस्ताव पर स्वीकार किया गया कि ब्रिटेन के साथ होने वाले सभी प्रकार के व्यापार को रोक दिया जाय। प्रत्येक नगर में एक "सुरक्षा व निरीक्षण समिति" का गठन यह देखने के लिये किया जाये कि व्यापारी कांग्रेस के प्रस्ताव का पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। अन्त में इस बैठक की समाप्ति पर निर्णय लिया गया कि इंगलैण्ड की सरकार फिर भी ध्यान नहीं देती है तो मई, 1775 ई. को यह सम्मेलन पुनः आयोजित किया जाय।

(ii) **लेक्सिंगटन और कनकार्ड काण्ड**—इंग्लैण्ड की सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया उल्टे लार्ड नार्थ ने 1775 के प्रारम्भ में घोषित किया कि जो उपनिवेश समाज की सुरक्षा में अनुदान देगा उसे संसदीय करों से मुक्त कर दिया जायेगा। मेसाचुसेट्स में तनाव गम्भीर था। वहां के स्वयं सेवकों ने कनकार्ड में गोला बारूद एकत्रित कर रखा था। 19 अप्रेल, 1775 ई. को ब्रिटिश जनरल गेज ने इस युद्ध सामग्री के संग्रह करने का दोषी जॉन हेनकाक और सेम एडम्स को मानते हुए

उनके गिरफ्तारी के आदेश दे दिये। साथ ही बॉस्टन से 24 कि.मी. दूर कनकार्ड में एकत्रित शस्त्रों को नष्ट करने हेतु सैनिक टुकड़ी भेज दी। ब्रिटिश सैनिक लेक्सिंगटन पहुँचे तो वहाँ उनका विरोध सशस्त्र प्रवासियों द्वारा किया गया। इस मुठभेड़ में 8 स्वयं सेवक मारे गये। कनकार्ड शस्त्र भण्डार समाप्त कर लौटती सेना पर अमेरिकनों द्वारा आक्रमण किया गया। जिसमें 200 व्यक्ति मारे गये। इसके पश्चात् 20 हजार लोग केम्ब्रिज में एकत्रित हुए और बॉस्टन में सेना को घेर लिया जिन्हें तितर-बितर करने हेतु सेना ने गोलियां चलाईं जिससे कई घायल हुए। इन मुठभेड़ों के समाचार सम्पूर्ण उपनिवेशों में फैल गये और लोग अंग्रेजों के विरोध की तैय्यारियों में जुट गये। एक प्रकार से स्वतन्त्रता संग्राम का यह प्रथम चरण था।

(iii) **द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस**—10 मई 1775 ई. को ऐसे उग्र-वातावरण में द्वितीय कांग्रेस की बैठक फिलाडेलफिया में आयोजित हुई। बॉस्टन के धनी व्यापारी जॉन हैनकाक की अध्यक्षता में काफी वाद-विवाद के पश्चात् एक घोषणा पत्र तैयार किया गया। इस सम्मेलन में टॉमस जैफरसन और बेंजामिन फ्रैंकलिन जैसे महान नेता भी उपस्थित थे। घोषणा पत्र में स्पष्ट किया गया कि अमेरिकी जनता का उद्देश्य न्याय संगत है, हम दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होकर मरने का एकमत से संकल्प कर चुके हैं। इसके लिए शस्त्र भी उठाना पड़ा तो विवश होकर हम स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह भी करेंगे। इस उद्देश्य में हमारे आन्तरिक साधन और बाह्य सहायता दोनों ही सबल हैं।

इस घोषणा के पश्चात् कांग्रेस ने स्वतन्त्र सेना के गठन की योजनाओं पर कार्य शुरू कर दिया और जार्ज वाशिंगटन को इस सेना का प्रधान सेनापति मनोनित किया गया। 23 अगस्त 1775 ई. को जार्ज तृतीय ने भी एक घोषणा द्वारा अमेरिकी उपनिवेशों को विद्रोही घोषित कर संघर्ष का सूत्रपात कर दिया।

(vi) **स्वतन्त्रता की घोषणा**—जार्ज तृतीय की घोषणा और उसके द्वारा 20 हजार जर्मन सैनिकों को किराये पर नियुक्ति तथा ब्रिटिश उदारवादी नेताओं की समझौता नीति की उपेक्षा ने अमेरिकी उदारवादी नेताओं के विचार भी बदल दिये और वे भी इंगलैण्ड से पृथक होने की विचारधारा के समर्थक बन गये। 4 जुलाई 1776 ई. को कांग्रेस ने सर्वसम्मति से स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र स्वीकार कर लिया। अमेरिकन स्वतन्त्रता का जन्म उसी दिन से माना जाता है। इस घोषणा पत्र को थामस जैफरसन की अध्यक्षता में तैयार किया गया था; जिसके अनुसार—हम इन सत्यों को स्वयं सिद्ध मानते हैं कि—(1) ईश्वर ने सभी मनुष्यों की रचना समान रूप से की है अतः उन्हें स्वतन्त्रता और समानता का उपयोग करने का प्राकृतिक अधिकार है। (2) इन्हीं अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरकार बनाई जाती है। (3) यदि सरकार इन्हें देने में असमर्थ है तो जनता नई

सरकार की स्थापना कर सकती है। (4) नई सरकार की स्थापना जनता की सुरक्षा और सुख के लिए होनी चाहिये।

स्वतन्त्रता की घोषणा ने जहां उपनिवेशों को ब्रिटेन के शासन से व्यवहारतः पृथक् कर दिया वहां अमेरिकी लोगों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वशासन और सामाजिक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने हेतु अदम्य जोश जगा दिया। इंग्लैण्ड ने भी विरोध को दबाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। छः वर्ष के निरन्तर युद्ध के बाद इंग्लैण्ड को झुकना पड़ा तथा 1783 को स्वतन्त्रता को मान्यता देनी पड़ी।

इंग्लैण्ड और अमेरिका का संघर्ष

इंग्लैण्ड और अमेरिका का संघर्ष का प्रारम्भ लैक्सिंगटन के स्थान पर (1775 ई. में) प्रारम्भ हुआ जिसमें उपनिवेशियों की जीत हुई। इसके बाद बोस्टन का घेरा डाला गया जहाँ वाशिंगटन ने अधिकार कर लिया किन्तु बंकर्ज हिल के स्थान पर उसे हार खानी पड़ी। 1776 ई. में वाशिंगटन ने अपूर्व युद्ध कौशल का परिचय देते हुए ट्रेण्टन के युद्ध में ब्रिटिश सेना को परास्त किया। इसके बाद प्रिन्सटन के युद्ध में पुनः अंग्रेजों की पराजय हुई फलतः अमेरिकी सैनिक नये जोश से भर कर लड़ने लगे। 1777 ई. में अमेरिकी सेनायें हारने लगीं परन्तु वाशिंगटन की अदम्य इच्छा तथा अमेरिकी सैनिकों के त्याग ने जो कि जाड़ों में असुरक्षित आश्रय और साधनों के अभाव में भी लड़ते रहे थे, पुनः विजय की ओर पग बढ़ाये। 1777 ई. के अक्टूबर माह में सारटोगा की पराजय अंग्रेजों के लिए महंगी पड़ी।

युद्ध के इस निर्णयात्मक प्रहार ने फ्रांस को अमेरिका की सहायता करने को प्रेरित कर दिया। बैंजामिन फ्रैंकलिन को कांग्रेस ने फ्रांस से सहायता मांगने भेजा था। उसके प्रयत्नों से फ्रांस गुप्त रूप से युद्ध सामग्री अमेरिका पहुँचा रहा था। उसके स्वयं सेवक भी सेना की सेवा कर रहे थे। परन्तु 1778 ई. में फ्रांस ने अमेरिका की स्वतन्त्रता को मान्यता देते हुए खुले रूप में अमेरिका की सैन्य सहायता प्रारम्भ कर दी। फ्रांस की देखा देखी 1779 ई. में स्पेन ने, 1780 ई. में हालैण्ड ने भी इंगलैण्ड के विरुद्ध अमेरिकी सहायतार्थ युद्ध घोषणा कर दी। फलतः इंगलैण्ड को विभिन्न मोर्चों पर युद्ध लड़ना पड़ा। रूस, प्रशा, डेनमार्क तथा स्वीडन ने भी इंग्लैण्ड के विरुद्ध संगठन कर 'आर्मड न्यूट्रेलिटी' का समझौता किया। इनके अनुसार अंग्रेजों के जहाजों को इन तटस्थ राष्ट्रों के जहाजों की तलाशी लेने से रोकना था।

1778 ई. में फ्रांसीसी बेड़े की कार्यवाही से घबरा कर अंग्रेजों ने फिलाडेलफिया खाली कर दिया। उसी वर्ष ओहायो की घाटी में उनकी पराजय ने उत्तर-पश्चिम क्षेत्रों में इंगलैण्ड का नियन्त्रण और प्रभाव समाप्त कर दिया।

दक्षिण क्षेत्र में युद्ध जारी रहा। ब्रिटेन ने जनरल कार्नवालिस को सेना देकर भेजा जिसने बड़ी वीरता से कई स्थानों पर विजय पाई किन्तु 1781 में यार्क टाउन (वर्जिनिया) के स्थान पर वाशिंगटन के सम्मुख आत्म समर्पण करना पड़ा। इस आत्म सर्मपण ने इंगलैण्ड की संसद में लार्डनार्थ की सरकार का विरोध प्रखर कर दिया और उसे मजबूर होकर त्याग पत्र देना पड़ा। किन्तु जार्ज तृतीय अभी भी अपनी हठ पर अड़ा हुआ था अतः छुट-पट युद्ध 1783 ई. तक होते रहे। पर युद्ध बन्द करने की मांग संसद में जोरों से उठने लगी थी। अमेरिका भी युद्ध बन्द करना चाहता था किन्तु फ्रांस और स्पेन अपने हितार्थ युद्ध को लम्बा करना चाहते थे फलस्वरूप अमेरिका ने इंगलैण्ड से गुप्त बातचीत शुरू कर दी। इस नये गठजोड़ से फ्रांस ने घबरा कर अप्रेल 1782 ई. को शान्ति-वार्ता की स्वीकृति प्रदान कर दी। शान्तिवार्ता देशों की निजी स्वार्थों की पूर्ति अथवा निपूर्ति के मध्य लम्बे समय तक चली और अन्त में 3 सितम्बर 1783 ई. को पेरिस की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

1783 ई. की पेरिस की संधि (वर्साय की संधि) के अनुसार अमेरिका के 13 उपनिवेशों की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया गया। स्पेन को माईनार्का और फ्लोरिडा के प्रान्त वापस मिल गये। सेंट लुसिया, टोबैगो और सेनीगल के प्रांत फ्रांस को दे दिये गये। इंग्लैण्ड ने हालैण्ड की तत्कालीन स्थिति को स्वीकार कर लिया। न्यूफाउण्डलैंड, नोवास्कोशिया और कनाडा इंग्लैण्ड के पास ही रहने दिये गये। यह संधि इंग्लैण्ड की ओर से शेलबर्न (प्रधानमन्त्री) के दूत रिचार्ड ओस-वाल्ड, फ्रांस के विदेशमन्त्री वरजेन्स तथा अमेरिका के प्रतिनिधि फ्रैंकलिन तथा उसके साथी जॉन जे और जॉन एडम्स द्वारा की गई थी। इसमें फ्रैंकलिन को कनाडा और न्यूफाउन्डलैंड नहीं मिलने से निराशा ही हुई फिर भी फ्रांस की स्वार्थ नीति को देखते हुए यह समझौता ठीक ही हुआ था। इस संधि के फलस्वरूप संसद की आलोचना से शेलबर्न को भी त्यागपत्र देना पड़ा वहां अमेरिका के सम्बन्ध फ्रांस और स्पेन से अधिक अच्छे नहीं बने। इंग्लैण्ड के प्रति अमेरिकी उदारवादियों की नीति ने इंग्लैण्ड को अधिक राजी नहीं किया तो नाराज भी नहीं किया और शीघ्र ही दोनों के मध्य व्यापारिक संधि द्वारा मित्रता के सम्बन्ध बढ़ने लगे।

अमेरिका की सफलता के कारण :

इंग्लैण्ड ने युद्ध को बड़ी अनुकूल परिस्थितियों में आरम्भ किया था। उपनिवेशों का इंग्लैण्ड की शक्ति के सामने कोई अस्तित्व नहीं था। इंग्लैण्ड एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था, उसकी जल-सेना अजेय थी, उसके पास आधुनिक अस्त्र-शस्त्र प्रशिक्षित सेना और अनुभवी सेनानायक थे। इसके विपरीत उपनिवेश की सेना की बड़ी-बुरी अवस्था थी। उसके पास हथियार नहीं थे और भूखी मर

रही थी। वाशिंगटन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "बहुत कम व्यक्तियों के पास एक से अधिक कमीज थी। बहुतों के पास तो केवल आधी कमीज थी और कईयों के पास एक भी नहीं थी। सेना के बहुत बड़े भाग के पैर नंगे थे जिससे युद्ध के लिए आगे बढ़ते समय उनके पैरों के रक्त के निशान धरती पर पड़ रहे थे। उनके पास कभी भी खाने के लिए पर्याप्त सामान नहीं रहा।" उपनिवेशों में जल-सेना का अभाव था। इंग्लैंड के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों की भी उपनिवेशों में कमी नहीं थी। ऐसी स्थिति में उपनिवेशों की विजय हुई, इसके लिये कई कारण उत्तरदायी थे :—

(1) उपनिवेशों की शक्ति का भ्रामक अनुमान—इंग्लैंड को अपनी शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास था। वह समझता था कि बड़ी सरलता से बिना किसी प्रयत्न के उपनिवेशों की ताकत को समाप्त कर देंगे। कहा जाता है कि इंग्लैण्ड के जनरल गेज ने तो यहाँ तक कहा कि अमेरिका को जीतने के लिए केवल चार रैजिमैन्ट पर्याप्त होंगी। फलस्वरूप अंग्रेजों ने युद्ध के लिए आवश्यक तैयारी न की और युद्ध में हार गये।

(2) इंग्लैण्ड के युद्ध संचालकों की अयोग्यता—युद्ध के नाजुक समय में अंग्रेजों का युद्ध मन्त्री लार्ड जर्म अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति था। युद्धमन्त्री के साथ-साथ इंग्लैण्ड के उपनिवेशों की देखभाल का भी वही मन्त्री था। उसने उपनिवेशों से और युद्ध स्थल से आने वाले पत्रों को पढ़ने का यत्न कभी नहीं किया। इसका परिणाम यह होता था कि युद्ध स्थल में काम करने वाले जनरैल आदि अपना कार्य अच्छी प्रकार उत्साह से नहीं करते थे। बहुत से ऐसे अवसर आये जबकि जनरैलों की उदासीनता ने शत्रु पक्ष को फिर से शक्ति एकत्रित करने का अवसर प्रदान किया। यही नहीं, युद्ध भी किसी विशेष योजना के साथ नहीं चलाया जा रहा था। इसीलिए अंग्रेजी सेना का अच्छी प्रकार से प्रयोग भी नहीं किया जा रहा था। कहा जाता है कि जनरल हाउस उस समय फिलाडेलफिया में युद्ध कर रहा था जिस समय उसे उत्तर में जाकर जनरल वरगायन की सहायता करनी चाहिये थी। यदि वह ऐसा करता तो शायद अंग्रेजों को सारागोटा के स्थान पर हार नहीं खानी पड़ती। सबसे बढ़कर बुरा तो यह हुआ कि अंग्रेजी सरकार ने पिट द्वारा प्रस्तुत योजना कि फ्रांस के बन्दरगाहों को रोकने और अटलांटिक महासागर में इंगलैण्ड के जहाजों को पहरेदारों के रूप में छोड़ने के प्रति ध्यान नहीं दिया। इस उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि फ्रांस का जहाजी बेड़ा बचकर उत्तरी अमेरिका में जा पहुँचा और इसके कारण अंग्रेजों को यार्कटाउन में हथियार डालने पड़े।

(3) जार्ज तृतीय के प्रति असन्तोष—जार्ज तृतीय अपनी स्वेच्छाचारी-नीति के फलतः किसी पर भरोसा नहीं करता था। फिर उसके प्रशासन में ईर्ष्या-द्वेष अधिक फैला हुआ था फलतः युद्ध संचालन का कार्य भी विशेष योग्य व्यक्तियों

के हाथ में नहीं दिया गया। वुल्फ के एक योग्य सहायक क्लेरटाउन को राजनीतिक कारणों से नौकरी से हटा दिया गया। उसके स्थान पर जनरल बरगायन को नियुक्त किया गया। विलियमसन के अनुसार इंग्लैण्ड की हार का कारण राजा के शत्रु नहीं अपितु राजा के मित्र ही थे। इंग्लैण्ड के बहुत से बुद्धिजीवी जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन से रुष्ट थे अतः वे भी चाहते थे कि अमेरिका जीत जाये ताकि इंग्लैण्ड में जार्ज की शक्तियों पर नियन्त्रण लगाना सम्भव हो जावे।

(4) राष्ट्रीय भावना से प्रेरित युद्ध—अंग्रेजों की असफलता का कारण यह भी था कि इंग्लैण्ड भाड़े के जर्मन सैनिकों के भरोसे लड़ रहा था वहां अमेरिकी अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व बलिदान करने की भावना धारण किये लड़ रहे थे। जब किसी देश की सारी जनता शस्त्र उठा ले तो उस समय उस देश के साथ लड़ना दुष्कर हो जाता है। यह भी सत्य है कि अंग्रेजों की सेना जहाँ भी पहुँचती उपनिवेश के लोगों को हरा देती परन्तु नगरों से आगे बढ़ते ही लोग पुनः विद्रोह कर देते। परिणाम यह होता कि अंग्रेजी सेनाओं के भिन्न-भिन्न दस्तों के पास पारस्परिक संचार का माध्यम टूट जाता और उन्हें विवशता में आत्म-समर्पण करना पड़ता।

(5) अमेरिका की भौगोलिक स्थिति—इंग्लैण्ड को अपने घर से लगभग 4800 कि. मी. दूरी पर अमेरिका से लड़ना पड़ा। इतनी दूरी से युद्ध को चालू रखना भी कठिन कार्य था। यातायत के उन्नत साधनाभाव में इतनी दूरी से समय पर सैनिक सहायता पहुँचाना बहुत ही मुश्किल काम था। इसके अलावा, अमेरिका में युद्ध के केन्द्र लगभग 1600 कि. मी. के घेरे में फैले हुए थे। सब जगह घने जंगल थे। फलस्वरूप अंग्रेजी सेना को बहुत कठिनाई से युद्ध करना पड़ता था वहाँ अमेरिकी जंगल के चप्पे-चप्पे से परिचित थे इसलिए उनका बच निकलना आसान हो जाता था। इंग्लैण्ड के लिए अपने सैनिकों को रसद सामग्री पहुँचाना बड़ा कठिन था वहाँ अमेरिका के गाँव क्रान्तिकारी सेवा की पूर्ति शीघ्र कर दिया करते थे।

(6) वाशिंगटन का योग्य नेतृत्व—वाशिंगटन उच्च लक्ष्य रखने वाला चरित्रवान नेता था जिसने अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में अमेरिकी क्रान्ति का सफल नेतृत्व किया। उपनिवेशवासियों का उसमें दृढ़ विश्वास था और उसने भी अथक् प्रयासों से देशवासियों का मनोबल बनाये रखा। कई बार ऐसे अवसर आये जबकि अमेरिकन सेना, नेता और कांग्रेस भी घबरा गये परन्तु वाशिंगटन ने हार कर भी अपनी इच्छा शक्ति को नहीं खोया बल्कि अपनी सेना के साथ मोर्चों पर भी डटा। अपने सैनिक नेतृत्व से राष्ट्र के आत्मविश्वास को सुरक्षित रखा। अन्त में युद्ध विजय का सेनानी कहलाया।

(7) यूरोपीय शक्तियों का सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी अमेरिका की सफलता में योगदान किया। फ्रांस, स्पेन, डच आदि देशों का

उपनिवेशों को सहयोग देना भी उपनिवेशों के लिए लाभदायक रहा। जल सेना विहीन उपनिवेश फ्रांस के बेड़े की सहायता से अंग्रेजों पर काबू पा सके थे।

स्वतन्त्रता संग्राम का परिणाम और महत्व—अमेरिका की क्रान्ति आधुनिक विश्व के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस क्रान्ति के अनेक महत्वपूर्ण प्रभाव थे जो अन्य देशों पर भी पड़े। आयरलैण्ड और फ्रांस के लोगों को इससे विशेष प्रेरणा मिली। फ्रांसीसी क्रान्ति के मुख्य सिद्धान्तों स्वतन्त्रता, समानता और वन्धुत्व का मूल अमेरिकी संघर्ष में ही निहीत था। इस संघर्ष से प्रेरणा प्राप्त कर दक्षिणी अमेरिका के लोग भी स्पेन तथा पुर्तगाल के शासन से मुक्त होने में सफल रहे। फ्रांस द्वारा अमेरिका को सहयोग ने भारत में विपरीत प्रभाव डाला और इंग्लैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध लड़ाई जोरों से शुरू कर दी फलतः भारत में इंग्लैण्ड का साम्राज्य विस्तार सुलभ हो गया। यह भी कहा जाता है कि 20वीं शताब्दी में विश्व के अनेक देशों में जो स्वतन्त्रता संग्राम हुए उनमें अमेरिका का आदर्श भी सम्मिलित था।

इस क्रान्ति के फलस्वरूप नई दुनियां में न केवल एक नवीन राष्ट्र का जन्म हुआ वलिक मानव जाति की दृष्टि से एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। इस संग्राम ने दैवी सिद्धान्तों का खण्डन किया, कुलीनतन्त्रीय अधिकारों को समाप्त किया और आधुनिक विश्व में प्रथम वार जनतन्त्र स्थापित किया। मानव के मौलिक अधिकारों के प्रति इस क्रांन्ति की देन अमूल्य है। इस क्रान्ति के पश्चात् ही विश्व में लिखित संविधानों की परम्परा का विकास हुआ। संघीय शासन-व्यवस्था का प्रयोग भी इस क्रान्ति द्वारा सम्भव हुआ। धर्म-निरपेक्ष राज्य के रूप में अमेरिका आधुनिक काल का प्रथम देश था। इस क्रान्ति ने साम्राज्यवाद की पराजय कर मानव समाज के सम्मुख राष्ट्रीयता का सिद्धान्त स्थापित किया।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली का विकास अमेरिका में इस क्रान्ति द्वारा सम्भव हुआ तो इंग्लैण्ड की राजनीति में भी परिवर्तन हुआ। इंग्लैण्ड में निरंकुशवाद को आघात पहुँचा तथा सम्राट के अधिकारों को सीमित करने के प्रयास किये गये ताकि भविष्य में व्यक्तिगत शासन की सम्भावनाएं नहीं हों।

अमेरिका में इंग्लैण्ड की औपनिवेशिक क्षति ने उसे अन्य प्रदेशों में साम्राज्यवाद की ओर प्रेरित किया अतः उसने अफ्रीका की ओर ध्यान दिया। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में वस्तियों का विस्तार किया गया। अमेरिका के कटु अनुभव को ध्यान में रखते हुए नये उपनिवेशों को ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स की स्थापना कर समान स्थान प्रदान किया गया।

स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् इंग्लैण्ड और अमेरिका के मध्य व्यापार की उन्नति को देखते हुए इंग्लैण्ड को अपनी वाणिज्यवादी नीति में परिवर्तन

चुका था। अठारहवीं सदी के मध्य तक इंग्लैंड की 77 प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षतः कृषि से अपनी जीविका चलाती थी। कृषि की स्थिति अधिक संतोषजनक नहीं थी। कृषि के प्राचीन तरीकों, खुले खेतों की प्रणाली तथा छोटे-छोटे खेत उत्पादन की दृष्टि से लाभकारी नहीं थे। देश में कुटीर व्यवसायों का जाल था। किसान अतिरिक्त समय में कपड़े बुनने अथवा रस्सी बंटने का कार्य करते थे। उनका गृह उद्योग उनकी आय का पूरक था। औरतें घर में सूत कातती थीं किन्तु मांग की पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती थी। इंग्लैण्ड में यातायात के साधन अत्यन्त अविकसित अवस्था में थे। सड़कों की दशा दयनीय थी। स्थल-यातायात काफी खर्चीला, धीमा और खतरों से आच्छादित था। इंगलैण्ड की जनसंख्या के निरन्तर विकास ने देश में आर्थिक दबाव उत्पन्न करना शुरू कर दिया था। भूमिपतियों का संसद में बहुमत होने से व्यापारी; उद्योगपति तथा महाजनों को राजनीतिक उपेक्षित वर्ग में देखा जाता था। 16 – 17 वीं शताब्दी में लोह-उद्योग, जहाज-निर्माण उद्योग, कागज, शीशा और तांबा उद्योग, तथा छपाई आदि के उद्योग विकसित हो चुके थे फिर भी इनका लाभ नगण्य था। प्रोफेसर कोल के अनुसार "औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंग्लैण्ड एक व्यापारिक दृष्टि से उन्नत तथा औद्योगिक प्रगति में प्रेरणास्पद था, न कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत एवं व्यापारिक खोज करने वाला राष्ट्र।"

क्रान्ति प्रेरक इंग्लैण्ड :

औद्योगिक क्रांति का जनक इंग्लैंड ही माना जाता है जबकि राजनीतिक दृष्टि से तत्कालीन यूरोप में फ्रांस समृद्धिशाली और शक्तिशाली देश था। हम ऐसी स्थिति में इंग्लैण्ड की औद्योगिक प्रगति के कारणों का अवलोकन करते हैं तो हमें निम्न परिस्थितियां स्पष्ट होती हैं।

(अ) औद्योगिक क्रान्ति होने से पूर्व ही इंग्लैण्ड; अन्य देशों की अपेक्षा, औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति कर चुका था। इंलैण्ड में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, अधिक उत्पादन और विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति विकास की ओर थी। उसके सूती और ऊनी वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में थे। आश्चर्यकारी आविष्कारों के प्रारम्भ होने से पूर्व ही इंग्लैण्ड में संयुक्त कम्पनी प्रणाली, बैंक व्यवस्था, निर्यात आदि को सरकार द्वारा प्रोत्साहित किया जा रहा था। ऐसी अवस्था में इंग्लैण्ड यूरोप का औद्योगिक नेता बन गया।

(आ) किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के लिये राजनीतिक एवं वित्तीय स्थायित्व आवश्यक हैं। दोनों तत्व इंग्लैण्ड में विद्यमान थे। यूरोप के अन्य देश जहां राजनीतिक उथल-पुथल से पीड़ित थे वहां इंग्लैण्ड में आन्तरिक शान्ति थी। ब्रिटिश संविधान दृढ़ परम्पराओं पर स्थापित किया जा चुका था। वालपोल की

बुद्धिमतापूर्ण नीति ने देश में राजनीतिक शांति और वित्तीय स्थायित्व प्रदान किया फलतः अंग्रेज व्यापारियों ने बड़े उद्योगों में बड़ी मात्रा में पूंजी लगाने में हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। सामाजिक स्तर पर विलियम पिट ने 10 हजार पौंड वार्षिक आय वाले किसान को पीयर बनने का अधिकार प्रदान कर इंग्लैण्ड के जनसाधारण को धन-अर्जित करने की ओर उन्मुख कर दिया। इस प्रकार इंग्लैण्ड की सरकारी नीति ने भी देश को औद्योगिक क्रान्ति का अगुवा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

(इ) इंग्लैण्ड की भौगोलिक स्थिति ने इसे बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखा। इसके चारों ओर समुद्र होने से युद्ध ब्रिटेन की भूमि पर नहीं होकर यूरोप की भूमि पर लड़े गये। अतः ब्रिटेन युद्धजन्य हानियों से अधिकतर सुरक्षित रहा जिससे उसको अपने औद्योगिक स्थायित्व में बहुत सहायता मिली। सौभाग्यवश इंग्लैण्ड की समुद्रिक शक्ति भी प्रायः सभी यूरोपीय देशों से श्रेष्ठ थी। इस शक्ति के बल पर वह औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा परिणामस्वरूप उसका व्यापार विश्वव्यापी हो गया।

(ई) इंग्लैण्ड में व्यक्ति पर राज्य और चर्च का नियंत्रण अन्य देशों की तुलना में अधिक उदार था। अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आलोक में इंग्लैण्ड वासी इच्छानुसार व्यापार की ओर अग्रसर हुए। यूरोप के अधिकांश देशों में दास प्रथा विद्यमान थी अतः बहुत से कार्य क्षम लोग इंग्लैण्ड के उन्मुक्त वातावरण की ओर प्रेरित होकर इंग्लैण्ड में आकर बस गये और इन्होंने औद्योगिक-प्रगति के क्षेत्र में प्रचुर योगदान दिया।

(उ) इंग्लैण्ड में प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से कोयला और लोहा प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध था। इन दोनों पदार्थों की खाने भी पास-पास थीं। अतः यातायात सम्बन्धी कठिनाईयों के बगैर कारखाने आसानी से स्थापित हो गये। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड में औद्योगिक प्रगति की निरन्तरता के लिये श्रमिकों का अभाव था। इसकी पूर्ति के लिये वहां यन्त्रों के अधिकाधिक अविष्कार और प्रयोगों को प्रोत्साहित किया गया।

(ऊ) 1750 ई. के आसपास फ्रांस का विदेशी व्यापार 20 करोड डालर प्रति वर्ष पहुंच गया था जबकि इंग्लैण्ड का व्यापार 16 करोड डालर प्रति वर्ष था। इतिहासकार बर्नस के अनुसार फ्रांस इस अवस्था में अपनी पराकाष्टा पर था जबकि इंग्लैण्ड शुरूआत की ओर अग्रसर हो रहा था। इन परिस्थितियों में सप्त वर्षीय युद्ध द्वारा इंग्लैण्ड ने फ्रांस को हराकर केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी विजय प्राप्त कर यूरोप का अग्रणी देश बन गया।

अतः उपरोक्त कारणों के संदर्भ में स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि इंग्लैण्ड में तैयार थी और वह इसका लाभ उठा कर औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ कर्त्ता बन गया।

में शक्ति के प्रयोग से, कारखानों के व्यावसायिक तरीके के निर्माण से, ऐक सनसनी पैदा करने वाले यातायात के साधनों के विकास से और आर्थिक गतिविधियों में पूंजी के विकास से सफल हुई थी।" इसी बात को इतिहासकार सेवाइन ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि "व्यापार का विकास, यातायात के साधनों में उन्नति, बैंकिंग प्रथा का आरम्भ, नये प्रायः द्वीपों की खोज और मध्यम वर्ग का विकास, 18 वीं शताब्दी के इन सभी परिवर्तनों ने मध्य युग के अध्याय को समाप्त कर दिया और एक आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया जिसे औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं।" इन उल्लेखित विद्वानों की दृष्टि से औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ पूंजी और व्यापार का विकास, उत्पादन की आशातीत प्रगति और आर्थिक विकास है। इस दृष्टि से परिवर्तन के स्थान पर औद्योगिक क्रान्ति एक विकास के रूप में दिखाई देती है। यदि औद्योगिक क्रान्ति एक विकास है तो प्रसिद्ध विद्वान टायनबी के अनुसार "औद्योगिक क्रान्ति एक आकस्मिक घटना नहीं है। उसका सूत्रपात आज से कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था और वह क्रमशः अपनी गति पर चलती रही और आज भी चल रही है।" इस औद्योगिक विकास को इतिहासकार एच. जी. वेल्स. ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "सामाजिक और आर्थिक विकास को औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं।" वे आगे लिखते हैं कि". वैसे आमतौर पर यांत्रिक क्रांति को इतिहासकार औद्योगिक क्रान्ति मान लेते हैं किन्तु दोनों में अन्तर है; प्राचीन रोमन गणराज्य का प्रभाव पुनः सजीव हुआ और मजदूरों के समूह, बड़ी-बड़ी जागीरें, मुद्रा कृषि और पूंजी की उपलब्धि ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। हम देखते हैं कि टायनबी जहां औद्योगिक क्रान्ति को निरन्तर विकास की प्रक्रिया मानते हैं वहां वेल्स इसका जन्म 19 वीं शताब्दी के स्थान पर रोमन गणराज्यों में बतलाते हैं। फिर भी उपरोक्त सभी विद्वान किसी न किसी रूप में औद्योगिक क्रान्ति को आर्थिक विकास से अवश्य सम्बन्धित करते हैं तो क्या औद्योगिक क्रान्ति मात्र आर्थिक विकास थी? सामन्तों के जमाने से लेकर फ्रांस के लुई 14 वें और इंगलैण्ड के जार्ज प्रथम तक मानव और उसके रहन-सहन में अनेक परिवर्तन आये किन्तु उसका खेती का तरीका मिश्र के 'फराहों' के समय का ही था। हल में जो कुछ सुधार हुआ वह नहीं के बराबर था। क्योंकि पहले कुत्ते हल खींचते थे फिर गधे और बैल खींचने लगे किन्तु 18 वीं शताब्दी के तीन-चौथाई समय बीत जाने पर वास्तविक परिवर्तन एक क्रान्ति के रूप में आया। इतिहासकार एलिस और जोन के अनुसार "यह परिवर्तन हाथ से काम लेने की जगह मशीन से काम लेने का परिवर्तन था। यह घरेलु प्रणाली से फैक्ट्री प्रणाली का परिवर्तन था।" इस रूप में औद्योगिक क्रान्ति आर्थिक विकास ही नहीं अपितु एक आर्थिक परिवर्तन भी था। इतिहासकार डेविस का कहना है कि "औद्योगिक क्रान्ति का अभिप्राय उन परिवर्तनों से है जिन्होंने यह सम्भव कर दिया है कि मनुष्य उत्पादन के प्राचीन उपायों

को त्याग कर बड़े पैमाने पर विशाल कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन कर सके।" इस रूप में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाने का नाम औद्योगिक क्रान्ति है। परन्तु इतिहासकार स्ट्रांग औद्योगिक क्रान्ति को केवल आर्थिक परिवर्तन नहीं मानते वरन् "इस प्रक्रिया से आगे चलकर इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में जो उन्नति हुई और उनके जो महान सामाजिक व राजनीतिक परिणाम हुए उन सबको इसमें (क्रान्ति) में सम्मिलित करते हैं।" स्ट्रांग का दृष्टिकोण जहां आर्थिक क्रान्ति में विकास का समर्थन करता है वहां मात्र आर्थिक के स्थान पर सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन को भी औद्योगिक क्रान्ति में देखता है। इसीलिए औद्योगिक क्रान्ति निष्कर्षत: मानव जीवन के समग्र क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन की वह दिशा थी जिसके प्रभाव से मानव आज भी अछूता नहीं है।

औद्योगिक क्रान्ति की अवधि :

औद्योगिक क्रान्ति जहां एक परिवर्तन है वहां विकास की निरन्तर प्रक्रिया भी है। विकास की दृष्टि से औद्योगिक क्रान्ति किसी न किसी रूप में प्रारम्भ से आज तक चल रही है किन्तु परिवर्तन के आश्चर्यकारी प्रभाव की दृष्टि से इसका काल निर्धारण विद्वानों के मध्य मतमतान्तर का विषय रहा है। प्रोफेसर हेफ औद्योगिक क्रान्ति का काल 1550 ई. से 1890 ई. बतलाते हैं जबकि अर्नाल्ड टायनबी इसका समय 1760–70 ई. से 1830–40 ई के मध्य निर्धारित करते हैं। अनेक अर्थशास्त्री इसकी अवधि 1760 ई. से 1914 ई. स्वीकार करते हुए क्रान्ति को दो भागों में वर्गीकृत करते हैं—(अ) पुरातन औद्योगिक क्रान्ति (1760 ई. से 1830 ई.) तथा (ब) नवीन औद्योगिक क्रान्ति 1830 ई. से 1914 ई.); श्रीमती नोवेल्स भी 1760 ई. से 1941 ई. को स्वीकार करती है।

क्रान्ति के पूर्व यूरोप की दशा :

क्रान्ति के पूर्व यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला था। भूमि के स्वामी सामन्त होते थे जो मनमानी दरों पर कृषि हेतु भूमि किसानों को देते थे। किसान भू-मालिकों के बेगारी होते थे। गृह उद्योगों के प्रचलन स्वरूप मनुष्य की आर्थिक आवश्यकता आत्म-निर्भर थी। समाज में बेरोजगारी का अभाव था। व्यापार-वाणिज्य का क्षेत्र अन्तर्देशीय था। बाह्य-व्यापार बहुत कम मात्रा में होता था वह भी गिल्डस् (संघों) के नियन्त्रण में था। शिक्षा धर्म और पैतृक व्यवसाय से जुड़ी हुई व्यवहारिक अधिक थी। एक प्रकार से औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व यूरोप कृषि-अर्थ व्यवस्था पर आधारित था।

1760 ई. में जबकि कृषक जार्ज (तृतीय) ने अपना शासन प्रारम्भ किया तब इंगलैण्ड किसानों का देश था और जब वह मरा (1820 ई.) तो इंग्लैण्ड कारीगरों का राष्ट्र मुख्यत: फैक्ट्री के मजदूरों और मेकेनिकों का राष्ट्र बन

करना पड़ा। अब उसकी उपनिवेश-नीति मात्र वाणिज्यवाद पर आधारित नहीं रही अपितु उसने उपनिवेशों में सुधारों की ओर ध्यान दिया। भारत में ब्रिटिश प्रशासन के सुधार इसी नीति के परिणाम थे।

इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था और अमेरिका की अर्थव्यवस्था इस आन्दोलन से प्रभावित हुई और संग्राम के पश्चात् दोनों ने औद्योगिक क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की। इसीलिए कहा जाता है कि क्रान्ति ने अमेरिका ही नहीं अपितु इंग्लैण्ड का भी उदय किया।

अमेरिकन स्त्रियों को इस आन्दोलन से पैतृक उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त हुआ। वहाँ कृषक और मजदूरों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुआ, इसके पूर्व राजनीति में अभिजात वर्ग का बोलबाला था।

अन्त में इस क्रान्ति ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति को जन्म दिया जिसका वर्णन फ्रांस की राज्य क्रान्ति प्रकरण के अन्तर्गत करेंगे।



5

औद्योगिक क्रान्ति

फ्रांस क राज्य क्रान्ति और नेपोलियन के युद्धों से जब राजनीतिक ढांचा बदल रहा था, तभी आर्थिक क्षेत्र में बड़े दूरगामी परिवर्तन हो रहे थे। यह आर्थिक परिवर्तन यद्यपि राज्य क्रान्ति के पूर्व भी हो रहे थे किन्तु जिस तेज गति से इन परिवर्तनों ने क्रांति के पश्चात् मानव जीवन को प्रभावित किया वह एक आश्चर्यकारी व्यापकता को लिए हुए था। इस परिवर्तन ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में उथल-पुथल मचा दी कि इसे औद्योगिक क्रान्ति कहा जाने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ :

क्रान्ति का अर्थ मात्र रक्तपात नहीं है और न ही किसी आकस्मिक घटना को क्रान्ति कहा जा सकता है। अपितु यदि किसी स्थिति का विकास आश्चर्यजनक और लाभदायक हो तो यह भी एक क्राति ही है। नोवेल्स के शब्दों में 'औद्योगिक क्रान्ति को क्रान्ति इसीलिए नहीं कहा जाता कि जो परिवर्तन हुए वे बड़ी शीघ्रता से हुए, वल्कि इसलिए कि जो परिवर्तन हुए वे महत्वपूर्ण या क्रांतिकारी थे।"

पुनर्जागरण, धार्मिक आन्दोलन, अमेरिका का स्वतन्त्रता आन्दोलन, फ्रांस की राज्यक्रान्ति तथा यूरोप का साम्राज्यवाद आदि परिस्थितियों में व्यापारवाद और पूंजीवाद की प्रवृतियों को पनपाया था अतः अमीरों का प्रलोभन दिन प्रति दिन पूंजी के विस्तार की ओर बढ़ाता गया इसीलिए प्लैट और जीन ड्रमंड लिखते हैं कि अनेक पूंजीपतियों ने बहुत बढ़िया माल बनाने के लिये, जिससे कि उन्हें अधिक अच्छी ख्याति मिले अत्यन्त कठोर परिश्रम किया। नई मंडियाँ ज्ञात करने के लिए निरन्तर सतर्क रहे। जो नये औद्योगिक संगठन इस युग में बने उनसे पूंजी और व्यापार का विकास हुआ वही औद्योगिक क्रान्ति है। प्लैट और जीन ड्रमंड की परिभाषा को हम बर्स के शब्दों में देखें तो "औद्योगिक क्रान्ति केवल व्यापार का दैत्याकार विकास ही नहीं था वरन् उत्पादन के क्षत्र में भी आशा से अधिक प्रगति थी। यह क्रांति उद्योग और कृषि के मशीनीकरण से, उद्योग

औद्योगिक क्रान्ति के सामान्य कारण

(1) **व्यावसायिक क्रान्ति का विस्तार** – व्यावसायिक क्रान्ति ने एक नवीन आर्थिक संगठन तैयार कर दिया था। इस संगठन के मूल तत्व थे – (अ) पूंजी (ब) कच्चा माल तथा (स) विदेशी बाजार। इन तत्वों ने उपनिवेशवादी प्रवृत्ति का विस्तार द्रुतगति से किया। उपनिवेशों से जहां कच्चा माल प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाता था वहां यह उपनिवेश निर्मित माल के ग्राहक भी बन जाते थे। इस प्रकार विश्व में आवश्यकता की पूर्ति तथा कच्चे माल को निर्मित माल में परिवर्तन करने के लिए यूरोपीय देशों में व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना की गई जिन्होंने व्यापार का अधिक से अधिक विकास किया। परिणामस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति आवश्यक हो गई।

(2) **साम्राज्यवाद का विकास** – व्यावसायिक क्रान्ति और भौगोलिक खोजों ने शनैःशनैः यूरोप में साम्राज्यवाद की भावना को भरना शुरू कर दिया था। एशिया, अफ्रिका और अमेरिका में यूरोपीय देशों ने अपने-अपने उपनिवेश स्थापित करने के पश्चात अपने-अपने माल को बेचने के लिये वहाँ बाजार तथा मंडिया खोल दी थी। इन स्थानों पर शीघ्रातिशीघ्र माल पहुंचाने तथा वहां से कच्चा माल लाने यातायात के साधनों को विकसित और परिष्कृत किया गया। अतः साम्राज्यवाद के विकास और नवीन तकनीक (वाष्प चालित जलपोत, सुधरी सड़कें, छापाखाना आदि) के आविष्कारों ने भी औद्योगिक क्रान्ति को आगे बढ़ाया।

(3) **कोयले और भाप का प्रयोग** – कोयले की उपलब्धि के पूर्व लोहा गलाने और मशीनों के निर्माण का कार्य लकड़ी की भट्टियों पर किया जाता था। इससे कार्य शैथिल्यता के साथ-साथ मशीनों का निर्माण बड़ी मन्द गति से होता था। पत्थर के कोयले ने इस कमी को दूर कर औद्योगिक उत्पादन को गति प्रदान की। वहां 18 वीं शताब्दी के पूर्व तक मशीनों को घोड़ों या बैलों द्वारा चलाया जाता था। किन्तु 1769 ई. मे जेम्स वाट के वाष्प इंजिन ने औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। वाष्प एंजिन के आविष्कार और कोयले ने बड़े कारखानों की निर्माण-प्रक्रिया का प्रारम्भ किया और उत्पादन की क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि का मार्ग दिखलाया।

(4) **शिक्षा का प्रसार** – पुनर्जागरण के फलस्वरूप यूरोप के सभी देशों में शिक्षा का प्रसार तेजी से हुआ। भौतिक विज्ञान के साथ-साथ बौद्धिक वर्ग में प्राकृतिक रहस्यों को जानने की उत्कण्ट इच्छा जागृत हुई। इससे वैज्ञानिक आविष्कारों को बल मिला। साथ ही मुद्रित पुस्तकों, समाचार पत्रों आदि के अध्ययन से अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान ने शिक्षित लोगों को व्यापार की ओर अग्रसर किया। इस प्रकार शिक्षा ने विज्ञान को बढ़ाया तो वैज्ञानिक आविष्कारों ने विश्व को एक ही

राजनीतिक और आर्थिक सूत्र में बांधने की चेष्टा के साधन उपलब्ध किये फलतः शिक्षा औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग दर्शक बन गई ।

(5) **फ्रांस की राज्य क्रान्ति** – फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने भी औद्योगिक क्रान्ति को आगे बढ़ाया । इस क्रान्ति के कारण पड़ौसी राष्ट्रों के उद्योगों को हानि उठानी पड़ी । नैपोलियन बोनापार्ट ने बर्लिन की आज्ञा और मिलान की घोषणा द्वारा फ्रांस तथा उसके अधीन राज्यों के लिये इंग्लैण्ड से सामान आयात करने पर रोक लगा दी थी । अतः विवश होकर इन राज्यों को अपने औद्योगिक विकास की ओर ध्यान देना पड़ा परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्रों में विभिन्न राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा ने औद्योगिक क्रान्ति को पंख लगा दिये ।

आविष्कार और औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति :

उपरोक्त कारणों की विवेचना के पश्चात उन वैज्ञानिक आविष्कारों का संक्षिप्तालेखन आवश्यक है जिनके द्वारा औद्योगिक क्रान्ति मे प्रगति और प्रसार हुआ—

(1) **कृषि की उन्नति हेतु आविष्कार**—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व कृषि का ढंग रूढीवादी था । पशुओं की बीमारी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, पशुओं की नस्ल के प्रति लोग लापरवाह थे, चरागाह गन्दे व रोगील थे, भूमि की उर्वरा शक्ति के प्रति लोगों मे कोई रूचि नहीं थी और बीजों व फसलों की उत्पादक शक्ति पर कोई ध्यान नहीं था । कृषि सुधार का सिलसिला टल नामक वैज्ञानिक (1674–1741 ई.) के आविष्कारों से प्रारम्भ होता है । इस वैज्ञानिक ने सिद्ध किया कि खेत को बार-बार जोतने के पश्चात बीज बोने से अधिक उपज होती है । इसी प्रकार निरोगी बीज, उनका समान तथा क्रमिक रूप से बोना भी पैदावार की क्षमता को बढ़ाता है आदि सिद्धान्त टल द्वारा सुझाये गये । टल के अनुयायी टाउनशैड (1674–1738 ई.) ने भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलों को बो कर उपज शक्ति की अक्षुणता बनाये रखने का सिद्धान्त पुष्ट किया । शनैः शनैः लकड़ी के हल्के हलों के स्थान पर लोहे के भारी हलो का और अनाज व भूसा अलग करने के लिये मशीनों का उपयोग होने लगा । स्वस्थ पशुओं का महत्व समझा जाने लगा । राबर्ट बेकवल (1725–1765 ई.) ने पशु नस्ल-सुधार तथा पशु धन के लाभ पर महत्वपूर्ण शोध किये । इस प्रकार कृषि व्यवस्था के सुधार की दृष्टि से 1836 ई. में रायल एग्रीकल्चर सोसायटी की स्थापना की गई । कृषि सम्बन्धी अनेक विचारों का प्रचार आर्थर यंग (1740–1820 ई.) ने लेख लिख-लिख कर किया । इन सबका परिणाम हुआ कि कृषि में क्रान्ति पनपने लगी । छोटे छोटे कृषक अपने खेतों को बेच कर शहरों की व्यावसायिक क्रान्ति की ओर आकर्षित होने लगे तो छोटे-छोटे खेत अब पूंजीपति कृषकों के फार्म में परिवर्तित होने लगे ।

रूप में व्यक्ति दर व्यक्ति, वर्ग और वर्ग तथा कई अन्य नियंत्रणात्मक, शोषणात्मक आर्थिक जटिलताओं ने जटिल अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। एक प्रकार से इस क्रांति ने विश्व को पूंजीवादी अर्थतन्त्र के मध्य खड़ा कर दिया है।

(8)जीवन स्तर में अन्तर – औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन की अधिकता ने वस्तुओं के मूल्य को सस्ता किया। सस्ती वस्तुओं की उपलब्धि ने मनुष्य की आवश्यकता को बढ़ा दिया। विकास की दर एवं उत्पादन की अधिकता ने राष्ट्रीय आय एवं व्यक्ति की आय को भी प्रभावित किया। अतः अब मानव बढ़िया रहन-सहन सुसज्जित मकान, कार्यालय या कारखानों में आने-जाने के लिए साईकिल-स्कूटर, रेडियो, चलचित्र, टेलीफोन आदि आवश्यक वस्तुएं मानते हुए इन पर आश्रित होने लगा।

सामाजिक परिणाम

(1) पारिवारिक जीवन पर प्रभाव—क्रान्ति से पूर्व पुरुषों केसाथ स्त्रियां और बालक घर पर ही कार्य में सहायता देते थे किन्तु अब ये कारखानों में काम करने लगे। इस प्रकार स्त्री, पुरुष और बच्चों को पारस्परिक मिलने जुलने में काम की अलग-अलग अवधि बाधक बनने लगी। माता-पिता के प्रति बच्चों का आदर तथा बच्चों के प्रति मां-बाप का स्नेह क्षीण होना प्रारम्भ हुआ। अब घर प्रायः भोजनशाला या शयनगृह के पर्याय बनने लगे। इसका प्रभाव पारिवारिक जीवन के सुख पर पड़ा एवं परिवार का महत्व कम होने लगा। परिवार के सदस्यों की आर्थिक स्वतन्त्रता ने 'कुटुम्ब' भावना के स्थान पर 'कटुक' वातारण का निर्माण करने में सहयोग दिया।

(2) नैतिक मूल्यों का पतन—औद्योगिक क्रान्ति ने जहां भौतिक समृद्धि प्रदान की वहीं बेकारी, और निर्धनता, जनसंख्या की वृद्धि, गन्दी बस्तियां आदि कई जटिल समस्याओं को भी पनपाया। इसके फलतः समाज के नैतिक मूल्यों का पतन होने लगा। शराब, जुआ, वैश्यावृति, स्वार्थ परायणता, आदि प्रवृतियां समाज में व्याप्त होने लगी। भौतिकवादी विकास ने छीना-झपटी लूट-मार हिंसा, शंका-भय, संकीर्णता को बढावा दिया अतः मानव पूर्व की अपेक्षा एकाग्र और अनुदार बनता गया। इससे मानव जाति की सभ्यता पर संकट के बादल मन्डराने लगे।

(3) गन्दी बस्तियों का अभिशाप – कारखानों के आस पास सटे हुए झोपड़ों, शहरों में बढ़ती आबादी के दबाव के कारण अव्यवस्थित बस्तियों का निर्माण हुआ। ऐसी बस्तियों मे हवा, पानी, रोशनी आदि के बारे में कतिपय भी ध्यान नही रखा गया। इसका असर बस्तियों में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर पड़ा। लोग तपेदिक तथा छूत की बीमारियों से ग्रसित होने लगे। गन्दी बास्तियों के वातावरण ने इनमें रहने वाले बच्चों को भी प्रभावित किया और उनमें बाल-अपराध की प्रवृत्तियां बढ़ने लगी।

(4) **जन संख्यात्मक असंतुलन** – औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक केन्द्रों और शहरों को प्रोत्साहन दिया। इससे ग्रामीण जन रोजगार की आशा में शहरों की ओर आकर्षित हुए। परिणामस्वरूप गांव उजड़ने लगे और नगरों का महत्व बढ़ गया। इस प्रकार गांव और नगरों की जनसंख्या का वितरण असमान होता गया। जहां इंगलैण्ड में 1700 ई. में 80 प्रतिशत लोग गांवों में रहते थे वहाँ 1900 ई. में गाँवों की आबादी 20 प्रतिशत रह गई।

(5) **जनस्वास्थ्य पर प्रभाव** – औद्योगिक क्रान्ति ने केवल मजदूरों के स्वास्थ्य को ही प्रभावित नहीं किया अपितु कारखानों की चिमनियों से उठते हुए, पेट्रोल, डीजल आदि से चलने वाली गाड़ियों के कोलाहल और दिन रात की भागदौड़ ने प्रदूषण की समस्या को पनपाया। खानों और कारखानों के बारे में डेन्स लिखता है कि "कारखाने प्रायः सीलनयुक्त, गन्दे और स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होते थे। भारी भारी मशीनों से युक्त कारखानों की छतें और दीवारें प्रायः कमजोर बनी होने के कारण गिर जाती थीं। इससे कई मजदूर घायल हो जाते थे।" किन्तु मजदूरों को मालिकों की ओर से कोई राहत नहीं थी। गर्द और गन्दे कारखानों में मजदूरों से 16–18 घन्टे कार्य लिया जाता था। ऐसी अवस्था में मानसिक तनाव युक्त बीमारियाँ आम बात थीं। फिर पौष्टिक भोजन के अभाव में निरन्तर परिश्रम उनकी आयु को समय से पहले ही काल-ग्रसित कर देता था।

(6) **वर्ग भेद में परिवर्तन**--मध्यकाल में समाज के तीन वर्ग–सामन्त, पादरी एवं सामन्यजन में विभाजित था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज में उक्त वर्गों के स्थान पर–पूंजीपति वर्ग सामन्तों से अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली था। मध्यम वर्ग जिसेकि बौद्धिक या शिक्षित वर्ग भी पुकारा जाता है, पूंजीपतियों के समान प्रभावशाली नहीं था। फिर भी औद्योगिक क्रान्ति की गति के ज्ञान-विज्ञान का बल उसके मस्तिष्क में था। मजदूर वर्ग निर्बल, कठोर परिश्रमी तथा दोनों वर्गों के शोषण का प्रतीक था। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने नवीन वर्ग भेद को उत्पन्न कर समाज में श्रेणियों के पुनंगठन की भूमिका का निर्वाह किया।

(7) **मध्यम वर्ग का उत्थान**--पूंजीपतियों को अपने अन्य कार्यों के लिए विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता के फलतः विभिन्न विषयों के वैज्ञानिक, इन्जीनियर, अलग अलग क्षेत्रों के प्रबन्धकों, कानूनविदों, लेखाकारों, लिपिकों आदि का आश्रय लेना पड़ा। इन लोगों के पास बुद्धि तो थी ही धीरे-धीरे इन्होंने व्यवसाय में कदम रखते हुए पूंजी एकत्रित कर अपने जीवनस्तर को प्रभावशाली और शक्तिशाली बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रभाव के फलस्वरूप सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से मध्यम वर्ग उन्नति करता चला गया।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव और परिणाम—इतिहासकार विलड्यूरेन्ट के अनुसार "मानव-समाज के इतिहास में दो प्रसिद्ध क्रान्तियां हुई है। प्रथम क्रान्ति उस समय हुई जबकि उत्तर पाषाण-युग में मानव ने आखेट छोड़ कर कृषि और पशुपालन का व्यवसाय अपनाया एवं द्वितीय क्रान्ति यह है जबकि आधुनिक युग में मनुष्य ने औद्योगिक व्यवसाय को प्रधानता दी।" मानव इतिहास इन्हीं दोनों क्रान्तियों से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। शान्तिपूर्ण, शोर रहित, शतत आयामी औद्योगिक क्रान्ति ने मानव के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में जो परिवर्तन किये उनके परिणामों में से कतिपय निम्न हैं—

(अ) आर्थिक परिणाम: (1) कुटीर उद्योगों का पतन—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व लोग अपने घर के अन्दर ही अपने परिवार के साथ अपनी सीमित पूंजी से माल उत्पादन कर लिया करते थे। किन्तु कल-कारखानों के विकास ने कुटीर उद्योगों को निर्बल कर दिया। कम समय में मशीनों द्वारा अधिक माल के उत्पादन ने जहां बाजार मे वस्तुओं को सस्ता कर दिया वहाँ हाथ द्वारा उत्पादित माल की कारीगरी और महगा मूल्य बड़ी-बड़ी मशीनों में चूर-चूर होता चला गया। आजिविका के लिए कुटीर-उद्यमियों को कारखानों में मजदूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार कुटीर-उद्योगों का पतन, शिल्पियों की कुशलता और उनके कोशल का व्यक्तित्व औद्योगिक क्रान्ति से प्रभावित हुए।

(2) औद्योगिक-नगरों का विकास—कोयला, लोहा और पानी की सुविधा वाले स्थानों पर कारखानों की स्थापना के फलस्वरूप इनके आस-पास नवीन नगरों का विकास होता चला गया। गांव के कृषक, शिल्पी तथा खेतीहर श्रमिक पैसे और काम की आशा में अपना पैतृक व्यवसाय छोड़ कर औद्योगिक केन्द्रों की ओर उन्मुख हुए। इस प्रकार गांव उजड़ने लगे और नगरों की जनसंख्या दिन-दूनी बढ़ने लगी। क्रान्ति से पूर्व लंकाशायर, लिवरपूल मेनचेस्टर आदि इंगलैण्ड के नगण्य नगर थे। जर्मनी में कोई बड़ा नगर नहीं था। भारत में अहमदाबाद और बम्बई का स्वरूप एक बड़े गांव जैसा था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने इनकी काया पलट कर इनका स्वरूप ही बदल दिया। औद्योगिक नगरों के इस विकास ने लोगों के शान्त जीवन में अस्तव्यस्तता, जनसंख्या की अधिकता ने बेढगी बस्तियां और छोटे-छोटे घर, स्वास्थ्य, सफाई की चिन्ता, प्रदूषण आदि कई समस्याओं को भी जन्म दिया।

(3) बेकारी में वृद्धि—गृह उद्योग-धन्धों के निर्बल हो जाने से असंख्य लोग बेकार होने लगे। कल-कारखानों में सभी बेकारों को स्थान मिलना सम्भव नहीं था। क्योंकि जो कार्य अधिक समय में हजारों मनुष्य अपने हाथ से करते थे, अब वही कार्य मशीनों द्वारा कुछ व्यक्ति अल्प समय में ही करने लगे। फिर कारखानों में कुशल श्रमिकों की आवश्यकता रहती थी और सभी श्रमिक एक समान कुशल

ही सम्भव भी नहीं था। अतः गांव छोड़ कर जीविका की खोज में आये कई लोग नगरों में बेकार डोलने लगे। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने बेकारी की विकराल समस्या को उत्पन्न कर समाज में असामाजिक तत्वों में वृद्धि की। बेकार लोगों ने अपना पेट भरने के लिए घृणित कार्यों को करना प्रारम्भ कर दिया।

(4) **यातायात एवं संचार साधनों का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति में वर्णन किया जा चुका है कि सड़क निर्माण तथा सुधार, जल मार्ग के लिए नहरों, स्टीम की नावों, जल-पोतों, रेल-विकास आदि द्वारा उत्पादित माल भेजने एवं मंगाने में व्यापार-वाणिज्य अधिक विकसित होने लगा। किन्तु अधिक से अधिक व्यापारिक विस्तार की इच्छाओं ने यातायात के क्षेत्रो में तीव्र विकास को पनपाया। इसी के फलस्वरूप मोटर-ट्रकें, बड़े-बड़े जहाज, हवाई जहाज आदि व्यापार की प्रगति का साधन बन गये। यातायात के साथ-साथ समाचार भेजने के साधनों में डाक व्यवस्था, तार, टेलीफोन बेतार का तार, रेडियो, दूरदर्शन आदि भी औद्योगिक क्रान्ति के माध्यम बन गये।

(5) **वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति**—औद्योगिक क्रान्ति ने कृषि, उद्योग, व्यापार आदि क्षेत्रों को उन्नत किया। नये-नये तरीकों के प्रयोग से उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई तथा लागत में कमी आने लगी। इंग्लैण्ड जहां क्रान्ति के पूर्व कृषि प्रधान देश था वहां क्रान्ति के पश्चात व्यावसायिक देश बन गया। क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को विश्व की प्रमुख मण्डी बना दिया। इंग्लैण्ड की व्यापारिक उन्नति को देखते हुए नेपोलियन महान ने उसे 'दुकानदारों का देश' कहा था। वाणिज्य व्यवसाय की इस उन्नति ने कई देशों को समृद्ध बनाया और उनकी राष्ट्रीय सम्पति में अपूर्व वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप देशों के मध्य आर्थिक प्रतिस्पर्धा का सूत्रपात हुआ।

(6) **संयुक्त पूंजी कम्पनियों का विकासः**—विशाल औद्योगिक इकाइयों के लिए एक अथवा कुछ व्यक्तियों द्वारा पूंजी की व्यवस्था करना अपर्याप्त होने लगा अतः अंशों में विभक्त पूंजी को एकत्र कर व्यापार एवं उद्योग चलाने के लिए संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों का विकास हुआ। ऐसी पूंजी को सुरक्षित रखने और आवश्यकता होने पर पूंजी उपलब्ध कराने के लिए बड़े-बडे बैंकों की स्थापना हुए। धीरे-धीरे बैंकों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्थापित होने लगी और विश्व-व्यापी प्रोत्साहन मिलने लगा।

(7) **अर्थव्यवस्था में परिवर्तन**—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व व्यापारिक वर्ग उद्योगपतियों से अधिक प्रभावशाली था किन्तु क्रांति के पश्चात् उद्योगपतियों और पूंजीपतियों से व्यापारिक वर्ग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर दिया। पूंजी पर एकाधिकार, विशाल उत्पादन, उपभोक्ता, मालिक, मजदूर, मध्यम व्यापारी के

लम्बे-लम्बे विशाल खेत और चारागाहों के निर्माण ने भी पैदावार को बढ़ाया फलतः खपत के लिए विशाल बाजार और पूंजी की आवश्यकता का सहयोग व्यावसायिक क्रान्ति ने प्रदान किया। इस प्रकार समृद्ध मंडियां स्थापित होने लगी।

(2) वस्त्र उद्योग में प्रगति—सर्व प्रथम 1733 ई. में जॉन के नामक बुनकर ने फ्लाइंग शटल यन्त्र का आविष्कार कर कपड़ा बुनने की क्षमता को बढ़ा दिया। अतः बुनकरों की मांग की पूर्ति के लिए सूत कातने की मशीनों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। सन 1748 ई में पाल तथा वाट ने रोलर स्पिनिंग मशीन का आविष्कार किया, जिसने सूत के प्रकार में सुधार किया किन्तु उत्पादन क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई। सर्व प्रथम जेम्स हारग्रीव्ज ने 1767 ई. में स्पिनिंग जेनी नामक मशीन का आविष्कार किया जो एक साथ ग्यारह चरखों को घुमा कर सूत बनाती थी। यद्यपि इस सूत का कपड़ा टिकाऊ नहीं था पर सुन्दर दिखता था। यह मशीन हाथ से चलाई जाती थी। सन 1769 ई. में रिचार्ड आर्कराइट ने हाथ के स्थान पर पानी की शक्ति से चलने वाली मशीन स्पिनिंग वाटर फ्रेम का आविष्कार कर दिया। 1779 ई. में क्राम्पटन ने जेनी और वाटर फ्रेम के सिद्धान्त को मिला कर म्यूल नामक यन्त्र का आविष्कार किया। इसके फलस्वरूप अच्छा और मजबूत सूत कातना सरल हो गया साथ ही यह मशीन सूत को कपड़े में भी बदलने लगी। 1785 ई. में एडमन्ड कार्ट राइट ने पावरलूम के आविष्कार ने वस्त्र उद्योग में क्रान्ति मचा दी। यह यन्त्र जल और भाप दोनों शक्तियों से चलाया जा सकता था। इस मशीन से बारीक और बढ़िया कपड़ा बुनना संभव हो गया वहां 10 व्यक्तियों का कार्य एक व्यक्ति द्वारा किया जाने लगा। रूई से बिनोलों को अलग करने के लिए 1793 ई. में एक अमेरिकन एलिविटन ने काटन जीन का आविष्कार कर 50 मजदूरों की शक्ति का एक मजदूर में समेट दिया। इस प्रकार वस्त्र उद्योग की क्रान्ति ने इंग्लेण्ड को जहां पनपाया वहां अन्य देशों को भी प्रतिस्पर्धा में खड़ा कर दिया।

(3) परिवहन और संचार के क्षेत्र में प्रगति—बढ़ते हुए व्यापार के लिए पुरानी और कच्ची सड़कें अनुपयोगी थी। 1810 ई. में इंग्लेण्ड के इन्जीनियर जॉन मैकडम ने सड़क निर्माण में पत्थरों के उपयोग को पुष्ट किया। इसी प्रकार यातायात के क्षेत्र में नहरों का प्रयोग ड्यूक आफ ब्रिजवाटर ने इंगलैण्ड में प्रारम्भ किया। तत्पश्चात फ्रांस में नेपोलियन युग तथा 1810 से 1837 ई. के मध्य में अमेरिका में नहरों का निर्माण किया गया। नहरों से यातायात ने उद्योग के विकास को गति प्रदान की। 1812 ई. में भाप का प्रथम जलपोत कामेट पानी में उतारा गया। इसके दो वर्ष बाद ही लम्बी रेलगाड़ी को खींचने वाला इन्जन बना। भाप के इन्जन ने परिवहन के साधनों में क्रान्ति कर दी। नई सड़कें, रेल की

पटरियां आदि बनने लगी। जार्ज स्टीफेन्सन के रेल इन्जन ने उद्योग के क्षेत्र में जान डाल दी।

संचार के क्षेत्र में फ्रांसीसी भौतिक शास्त्री एम्पीयर ने 1820 ई. में बताया कि इलेक्ट्रोमैगनेट से दूसरी जगह समाचार भेजे जा सकते हैं। फिर 1837 ई. में जर्मनी के कार्ल स्टेहिल ने, इंग्लैण्ड के चार्ल्स वीट स्टोन ने और अमेरिका में सैम्यूअल मोरिस आदि ने तार व्यवस्था का आरम्भ किया। जिसके फलस्वरूप शनैः शनैः सारे संसार में तारों का जाल फैल गया। 1866 ई. तक विश्व के देश एक दूसरे से तार के जरिये बातचीत करने लग गये। इस व्यवस्था ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया।

(4) प्रकाश के साधनों का विकास—सन् 18.. ई. तक प्रकाश के साधन मात्र मोमबत्ती, चिराग एवं दीपक तक सीमित थे। खान-श्रमिक अपने साथ चिराग या मोमबत्ती लेकर खानों में काम करते थे परन्तु इन ... मोमबत्तियों से खानों में एकत्रित ज्वलनशील गैसों में आग लग जाती थी और असंख्य श्रमिक जल-मर जाते थे। 1815 ई. में हम्फ्री डेवी नामक वैज्ञानिक ने 'सेफ्टी लेम्प' के आविष्कार द्वारा इन असंख्य असहाय श्रमिकों की सहायता ही नहीं की अपितु इसी सिद्धान्त पर उसने 18.1 ई. में बिजली का आविष्कार भी किया। इसी सिद्धान्त को विकसित कर 1879 ई. में एडिसन नामक वैज्ञानिक ने बिजली के बल्ब के निर्माण द्वारा प्रकाश के साधनों से औद्योगिक विकास को गति युक्त दिशा प्रदान कर दी। आज प्रकाश के माध्यम इतने उन्नति कर चुके हैं कि रात भी दिन जैसी लगती है। इसके फलस्वरूप उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य एवं यातायात चौबीसों घण्टे कार्य में संलग्न हैं।

(5) रसायनिक आविष्कार—कपड़े की ब्लीचिंग करने के लिए कपड़े को खट्टे दूध में रख कर उसे एक-दो माह तक सुखाने की प्रक्रिया से समय और धन की अधिक हानि होती थी। किन्तु 1784 ई. में रोबक नामक अंग्रेज ने रासायनिक तेल का आविष्कार कर वस्त्रों के ब्लीचिंग करने की प्रक्रिया को सरल एवं समय बचत करने वाली बना दिया। इसी प्रकार रासायनिक रंगों के आविष्कार ने जहां रंग-निर्माण के कारखानों को बढ़ावा दिया वहां वस्त्रों की छपाई का कार्य हाथ के ठप्पों के स्थान पर मशीनों से होने लगा। रंगाई और ब्लीचिंग की परिष्कृत विधियों ने वस्त्र उद्योग को उन्नतिशील बना दिया।

औद्योगिक क्रान्ति के उल्लेखित कारण और प्रगति की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रान्ति ने मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कई परिवर्तन कर आधुनिक समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न किये हैं। फिर भी उ प्रभावों अथवा परिणामों का क्रमिक ब्यौरा आवश्यक है।

(8) शैक्षिक-चेतना का उदय—शिक्षा के प्रति लोगों में उत्साह जगाने का श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को दिया जा सकता है। कारखाना पद्धति में कार्य विशेषता के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए लोग अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित होने लगे। यूरोप के देशों तथा अमेरिका में प्राथमिक स्तर के स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था तथा प्रोढों के लिए प्रोढ़ शालाएं खोली गई।

(9) जीवन मूल्यों में परिवर्तन—प्राचीन रीति- रिवाज, एवं कला विज्ञान आदि में औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव दिखलाई देने लगा। सामाज की परम्पराओं और आदर्शों का परिवर्तन आज भी स्थिर नहीं हैं। इसी प्रभाव के फलस्वरूप नवीन युग को कल (यन्त्र) युग पुकारा जाने लगा।

(स) राजनीतिक परिणाम-(1) साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन—औद्योगिक क्रान्ति के कारण बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। अतः उत्पादित माल को बेचने के लिए बाजारों की आवश्यकता ने साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त कारखानों के लिए कच्चे माल की जरुरत ने भी उपनिवेश प्राप्त करने के लिए औद्योगिक देशों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने का कार्य भी औद्योगिक क्रान्ति ने ही किया। इसी परिणामस्वरूप चीन, भारत, ईरान, मिश्र, दक्षिणी अमेरिका और अमेरिका ने अनेक युद्ध लड़े गये। पिछड़े हुए देशों पर अधिकार कर औद्योगिक देश इनका आर्थिक दोहन करने लगे। बाद में इसी दोहन के विरुद्ध पिछड़े देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

(2) गुट-बन्दियों का प्रादूर्भाव साम्राज्य की दौड़ ने विश्व में विभिन्न गुटबन्दियों को जन्म दिया। इंग्लैंड, फ्रास, हालैण्ड, बेलजियम, पुर्तगाल और रूस के पारस्परिक स्वार्थों ने एक दूसरे के प्रति शंका और घृणा के बीज बोये वहां सन् 1870 ई० में जर्मन तथा इटली का राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उदय तथा उपनिवेश प्राप्त करने की लालसा युरोप के देशों में अपनी-अपनी सुरक्षा के सैनिक संधियों का निर्माण कराया। इसके फलस्वकप विश्व दो परस्पर विरोधी गुटों में बंट गया और विश्व को दो विनाशकारी युद्धों का मुंह देखना पड़ा।

(3) विदेश नीतियों पर प्रभाव—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व औद्योगिक देश धार्मिक अथवा जातिगत युद्धों में उलझे रहते थे। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात धर्म एवं जाति संघर्ष गौण हो गए तथा उपनिवेशाधिकार या राष्ट्रीय हित अधिक महत्वशाली हो गए। तुर्की की सरकार ने बाल्कन के ईसाइयों पर अत्याचार किये किन्तु अपने उपनिवेशों की सुरक्षार्थ और राष्ट्रीय हितों के कारण इंग्लैण्ड तुर्की का पक्ष ही लेता रहा था। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने राष्ट्रों की विदेश नीति का स्तर महाद्वीप से हटा कर अन्तर्राष्ट्रीय कर दिया।

(4) **राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति के फलतः आवागमन और संचार साधनों के विकास ने राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। दूर-दूर के व्यक्ति परस्पर मिलने जुलने लगे तथा विचारों का आदान-प्रदान करने लगे इससे राष्ट्रीयता का विकास हुआ। इसी प्रकार एक देश के लोग दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्धों के कारण नजदीक आये। विकसित् राष्ट्रों और अविकसित् राष्ट्रों की आर्थिक निर्भरता ने परस्पर सोच–विचार को प्रोत्साहित् किया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भावना भी लोगों में व्याप्त होने लगी।

(5) **जनतन्त्र का विकास** – औद्योगिक क्रान्ति ने जनतन्त्र के विकास में सहयोग दिया। जनसंख्या का विस्तार, नगरों के विकास, मध्यम वर्ग के उदय, तथा पूंजीवादी दबाव के कारण तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में सुधार की मांग बढ़ने लगी। इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में 1832 ई. के सुधार अधिनियम ने मध्यम वर्ग को, 1848 ई. के चार्टिस्ट आन्दोलन के परिणामतः बालिग मताधिकार तथा 1928 ई. में स्त्रियों को मताधिकार स्वीकृत करना पड़ा। इसी तरह वर्ग प्रतिनिधित्व की मांग ने विभिन्न सिद्धान्त और उद्देश्य पूर्ण राजनीतिक दलों को जन्म दिया जो जनता को अपने सिद्धान्तों के प्रति आकर्षित् करने के लिए मत की मांग करते थे। इन सभी परिस्थितियों ने जनतन्त्र का विकास ही किया।

(6) **मध्यम-वर्ग का राजनीतिक उत्थान**—मध्यम-वर्ग के बुद्धि-कौशल द्वारा ही औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई थी। यह वर्ग शिक्षा और धन की दृष्टि से सामाजिक-आर्थिक स्तर पर प्रभावशाली था। किन्तु राजनीतिक अधिकारों की दृष्टि से शक्तिविहीन था। प्रशासन को कर देते हुए भी संसद तथा सरकार में उसका प्रतिनिधित्व नगण्य था। अतः राजनीतिक अधिकार प्राप्ति के लिए इस वर्ग ने प्रयत्न शुरू किये परिणामतः अमेरिका तत्पश्चात् फ्रांस के मध्यम वर्ग को अधिकार मिल गए। 1832 ई. में इंगलैंड की उदारवादी सरकार के सहयोग से मध्यम वर्ग को राजनीतिक अधिकारों का लाभ प्राप्त हुआ। इस प्रकार मध्यम वर्ग के राजनीतिक उत्थान के पृष्ठ में औद्योगिक क्रान्ति का हाथ था।

(7) **पूंजीवादी प्रभुत्व** – औद्योगिक क्रान्ति ने भूमिपतियों के स्थान पर पूंजीपतियों को स्थापित किया था। अतः आर्थिक रूप में शक्तिशाली पूंजीपति धन के प्रभाव से समाज में सम्मानित गिने जाने लगे। धन के बल पर ही उन्होंने मतदाताओं तथा जनप्रतिनिधियों को खरीदना प्रारम्भ किया। इस प्रकार संसद और सरकार में उनका वर्चस्व स्थापित होता चला गया। देश की विधायिकाओं में बैठ उनके प्रतिनिधि उनके हितों का चिन्तन करते थे। इंगलैंड में 1892 ई. में रिफार्म एक्ट के विरुद्ध कानून पारित करने में अप्रत्यक्षतः पूंजीपतियों का हाथ था। इनके प्रभाव में आकर ही इंगलैंड की सरकार ने हस्तक्षेप न करने की (Laissez Faire)

नीति को अपनाया। इसका फल यह हुआ कि कई वर्षों तक श्रमिकों की अवस्था सुधारने के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया जा सका।

(8) व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन—पूंजीपतियों के लाभार्थ स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का जन्म हुआ। बेन्थम और मिल जैसे अंग्रेज विद्वानों ने राज्य को अहस्तक्षेप की नीति अपनाने का परामर्श दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुसार व्यापार की उन्नति के लिए उद्योग-धन्धे प्रतिबन्ध-हीन एवं प्रतियोगितापूर्ण होने चाहिये। इस सिद्धांत ने व्यक्तियों को इच्छानुसार लाभ कमाने का मार्ग प्रशस्त कर शोषण को बढ़ावा दिया। लाभ प्राप्त करने की लालसा में मजदूरों से अधिकाधिक कार्य लिया जाने लगा। इसके विरोध स्वरूप श्रमिकों और उपभोक्ताओं में जागृति आई और उन्होंने मजदूर संगठन तथा उपभोक्ता संघों का निर्माण कर व्यक्तिवादिता के विरुद्ध संघर्ष का नारा दिया। इस प्रकार व्यक्तिवादी सिद्धांत का प्रतिपादन और उसके विरुद्ध संघर्ष औद्योगिक क्रांति का प्रतिफल था।

(9) समाजवादी आन्दोलन—पूंजीवाद तथा व्यक्तिवाद के विरोध में विद्वानों का चिन्तन और जन आन्दोलन समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक अंग्रेज उद्योगपति रावर्ट ओवन (1771–1858 ई.) ने अपने निजी क्षेत्र 'न्यू लेनार्क' की गन्दी बस्ती को एक स्वच्छ और आदर्श बस्ती में बदलकर अपने उद्योगों के स्वामित्व और लाभ में श्रमिकों को हिस्सा प्रदान किया। ओवन व्यवहार में प्रथम समाजवादी था जिसका कि प्रयोग व्यक्तिवादी वातावरण में सफल रहा था। किन्तु लोगों ने उसे यूटोपियन अर्थात् काल्पनिक समाजवादी कहकर उसका उपहास उड़ाया। फ्रांस में चार्ल्स फूर्या आदि ने उद्योगों पर सरकारी प्रभुत्व तथा प्रबन्ध की साझेदारी का विचार रखा। 1848 ई. की फ्रांस की क्रांति के समय लुई ब्लाक (1811–1882 ई.) ने पेरिस के बेरोजगारों के लिए सरकारी कारखाने खोलने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। किन्तु सिद्धान्त रूप में समाजवादी विचारधारा को स्थापित करने का श्रेय जर्मन निवासी कार्लमार्क्स (1818-1883 ई.) तथा फ्रेडरिक ऐंजिल्स को है।

(10) साम्यवाद का उदय—मजदूरों की निर्धनता और उनकी स्थिति सुधारने संबंधी विचार 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' द्वारा मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने 1848 ई. में प्रकाशित करवाये। 1867 ई. में दोनों ने 'दास कैपीटाल' नामक पुस्तक की प्रथम तीन जिल्दें प्रकाशित कर विस्तृत रूप में अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट किया। यह सिद्धान्त ही 'मार्क्सवादी समाजवाद' या साम्यवाद के रूप में जाने गए। मार्क्स के अनुसार 'धन का उत्पादन श्रम से होता है और मूल्य का निर्धारण श्रम के आधार पर किया जाता है अतः श्रम द्वारा अर्जित धन पर पूंजीपति स्वामी का अधिकार नहीं है वरन् गरीब मजदूरों का अधिकार है। पूंजीपति दीन-मजदूरों की विवशता का अनुचित लाभ उठाते हुए अर्जित धन का लाभ स्वयं ले लेते हैं। अतः

मार्क्स ने नारा दिया – 'विश्व के मजदूरों एक हो जाओ तुम्हें पूंजीवाद का नाश करना है। इस संघर्ष में तुम्हें अपनी हथकड़ियों को छोड़कर कुछ नहीं खोना है।' इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने साम्यवादी विचारधारा को जन्म ही नहीं दिया अपितु समाज की राजनीतिक-आर्थिक अधिकारों की दृष्टि से दो भागों—शोषक एवं शोषित या प्रभु एवं दलित् वर्ग, में विभाजित कर वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता को सिद्ध किया।

(11) **वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अमीर अधिक अमीर तथा निर्धन अधिक निर्धन बनने लगा। शोषक एकाधिकार के विरुद्ध शोषित ने संघर्ष प्रारम्भ किया। इससे पूंजीपतियों और श्रमिकों की शत्रुता बढ़ती चली गई। यहीं तक नहीं पूंजीवादी राजनीतिक प्रणाली वाले देश तथा समाजवादी या साम्यवादी राजनीतिक प्रणाली वाले देश अलग-अलग खेमों में बंट गए। इसके परिणामतः विश्व में वर्ग-संघर्ष एवं सिद्धान्त-संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार के संघर्षों ने विश्व-शान्ति के लिए कई बार गम्भीर संकट पैदा किये और यह संघर्ष आज भी शीतयुद्ध के रूप में उपस्थित है।

(12) **श्रमिकों को लाभ**—समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं ने श्रमिकों को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य किया। मजदूर, किसान आदि मजदूर संघों में संगठित् होकर जहां आन्तरिक समस्याओं का समाधान स्वयं करने लगे वहां पूंजीपतियों, सत्तानियामकों और सरकार के विरुद्ध संगठन द्वारा लड़ने लगे। इसके फलस्वरूप सरकारों को अहस्तक्षेप नीति का परित्याग करना पड़ा वहीं मजदूरों के हितार्थ विभिन्न समय में विभिन्न कानून बनाने पड़े। इन कानूनों से कारखानों में बच्चों का काम करना बन्द हुआ, स्त्रियों का कोयले की खानों में कार्य पर पाबन्दी लगाई गई, कार्य के 8 घन्टे निश्चित किये गए, श्रमिक आवासों की स्वच्छता पर ध्यान दिया गया, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबंध कारखानों के मालिकों द्वारा किया जाने लगा। कारखानों में श्रमिकों की जीवन सुरक्षा के कानून बनाये गए। मजदूरी व वेतन में सुधार, बोनस तथा जीवन बीमा की व्यवस्थाएं की गई। हड़तालों तथा विवाद निपटारों में श्रमिक प्रतिनिधित्व को स्थान दिया गया। इस प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति ने श्रमिक लाभ का मार्ग भी प्रशस्त किया।

उपरोक्त परिणामों के गुण और दोषों की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विश्व के सामाजिक-आर्थिक और राजनीति के विकासात्मक पक्षों को औद्योगिक क्रान्ति के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। इतिहासकार सेवाइन के अनुसार आज हम जिसे प्रगति कहते हैं और पिछले सौ वर्षों में जो परिवर्तन विश्व में आये हैं उनका आरम्भ औद्योगिक क्रान्ति ने ही किया। इसी क्रान्ति ने आज की समस्याओं को जन्म दिया। जर्मनी में हिटलर का शक्तिशाली होना, जापान का

मुद्रण एवं में धमकियां देना एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के सहायता कार्य औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नई व्यवस्था के अंग हैं। इसी प्रकार आधुनिक इतिहास उन दो स्वर्णीम क्रांतियों (फ्रांस की राज्य क्रांति एवं औद्योगिक क्रान्ति) की देन है। सेवाइन ने तीसरी महान क्रान्ति का उल्लेख नहीं किया जो बोल्शेविक क्रान्ति के रूप में सम्पूर्ण विश्व में छा गई। इसने औद्योगिक क्रान्ति के प्रमुख स्तम्भों—पूंजीवाद एवं बुर्जुआवर्ग के हाथों से क्रांति की बागडोर छीनकर सर्वहारा वर्ग के हाथों में प्रदान करने की पहल की। परिणामतः जमींदारों से खेत, अमीरों से कारखाने और राजाओं से सरकार छीनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और औद्योगिक क्रान्ति में जन-जन का हाथ कार्य करने लगा। तात्पर्य यह है कि यह क्रान्ति सर्वहारा औद्योगिक क्रांति के रूप में आज भी प्रगति के पथ पर बढ़ रही है। निष्कर्षतः किसी न किसी रूप में आज का मनुष्य औद्योगिक क्रान्ति का ऋणी है।

———

6
फ्रांस की राज्य क्रान्ति

विश्व के इतिहास में फ्रांस की क्रान्ति का एक विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन फ्रांस यूरोपीय संस्कृति का केन्द्र था अतः यहाँ की समृद्धि ने नव बौद्धिक वर्ग को उन्मुक्त चिन्तन का अवसर प्रदान किया। यह वर्ग मनुष्य, समाज, धर्म और राजा के पारस्परिक सम्बन्धों का तार्किक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने लगा। व्यापार के क्षेत्र में इंगलैण्ड के पश्चात फ्रांस ही विश्व का अग्रणीय देश था। अतः फ्रांस के व्यापारी वर्ग ने अपने लाभ को प्राप्त करने हेतु सामन्तों के स्थान पर शासकों की सहायता कर केन्द्र को निरंकुश बनाया। इन शक्तिशाली शासकों ने सामन्तों को निर्बल ही नहीं किया अपितु नवोदित मध्यम वर्ग (व्यापारी एवं बुद्धिवादी) के प्रोत्साहन से कैथोलिक धर्म पर प्रहार कर प्रशासकीय क्षेत्र में पोप के हस्तक्षेप को हटा दिया। इतना होते हुए भी व्यापारी एवं बुद्धिवादी पुरातन समाज के स्तरीकरण में प्रभाव हीन थे। रैम्जे म्योर के अनुसार 'फ्रांसीसी क्रान्ति सामन्तवाद की जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था, वर्ग विशेषाधिकार, निरंकुश शासन व नौकरशाही के विरोध तथा मनुष्य मात्र की समानता के दावे और अधिकार के नवीन सिद्धान्तों के आधार पर मानव समाज के नव-निर्माण के प्रयत्न का साकार रूप थी।" यद्यपि तत्कालीन यूरोप के प्रायः सभी देशों में मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता और धार्मिक रुढ़िवादिता विद्यमान थी। परन्तु इनके विरोध का शंखनाद सर्वप्रथम फ्रांस में ही क्यों हुआ? इस प्रश्न पर इतिहासकार हेज ने उचित ही लिखा है कि "सभी दशाओं तथा सामान्य परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि 18 वीं शताब्दी में फ्रांस की दशा यूरोप के अन्य देशों से अच्छी नहीं थी। सम्भवतः उसे और देशों की अपेक्षा राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार की आवश्यकता अधिक थी। उसके आलोचक एवं साहित्यकार संख्या में अधिक होने के साथ-साथ अधिक तीक्ष्ण बुद्धि के थे। फिर नव निर्मित (मध्यम) वर्ग सुधार करने के लिए अधिक उग्र दिखाई पड़ता था।" अतः संक्षेप में हेज के कथनों का अभिप्राय यह है कि—परिस्थितियों के

सामुहिक प्रभाव ने फ्रांस की क्रान्ति को जन्म दिया। इसकी विशिष्टता इसमें है कि यह क्रान्ति सुनियोजित घटना न होकर परिस्थितियों के परिणामों की अभिव्यक्ति थी। स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व—फ्रांस की क्रान्ति के दिशा बोध थे। यह उद्घोषणाएँ तत्कालीन यूरोप के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी। आज भी कई देशों में इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के लिए संघर्ष जारी है। इसीलिए फ्रांस की क्रान्ति को आधुनिक युग के आन्दोलन-क्रम की जननी कहा जा सकता है। वैसे फ्रांस की क्रान्ति पर अनेकों ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं तथा विद्वानों ने इसके अनगिनत कारण और परिणाम ढूंढ निकाले हैं। किन्तु अध्ययन की सरलता के लिए हम कारणों का वर्णन करते हुए क्रान्ति के कारणों को समझने के लिए फ्रांस की तत्कालीन दशा का भी साथ साथ वर्णन करते चलेगें।

फ्रांस की क्रान्ति के कारण

(अ) राजनीतिक कारण :

(1) निरंकुश बूरबो राजतन्त्र :– 16 वीं से 18 वीं शताब्दी तक फ्रांस में बूरबो वंश का निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन रहा था। समस्त कार्यपालिकीय, विधायनीय और न्यायायिक शक्तियां शासक में निहित थीं। लुई चौदहवां (1643-1715 ई.) कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूँ।" फ्रांस के शासकों के मुँह से निकला हुआ शब्द ही कानून होता था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति पर राजा का अधिकार था। व्यक्तियों की नियुक्ति, पदमुक्ति, बगैर मुकदमा चलाये जेल में डालने के अत्याचारी अधिकारों के साथ साथ लोगों के लिखने, सोचने और बोलने पर भी शासक का नियंत्रण था। जन-कल्याण की चिन्ता शासक को नहीं थी परन्तु स्व कल्याण जन शोषण का निरंकुश अधिकार वह अपने साथ लिये रहता था। लुई तेरहवें (1610–1643 ई.) ने '**एताजनरो** अर्थात् **स्टेट्स जनरल** का अधिवेशन 1614 ई. में बुलाया था। तत्पश्चात् 175 वर्षों तक इसका कोई अधिवेशन नहीं बुलाया गया। यह सीमित जनप्रतिनिधित्व वाली संस्था शासक के असीमित अधिकारों पर अंकुश लगाने में सक्षम थी किन्तु लम्बी अवधि तक इसे आमन्त्रित न कर फ्रांस के शासकों द्वारा इसे भी दमित् कर दिया गया था। क्रान्ति के पूर्व जब इसकी बैठक बुलाने की आवश्यकता हुई तो उस समय फ्रांस में ऐसा कोई जीवित व्यक्ति नहीं था जो कि इसके चुनाव और संगठन को जानकारी प्रदान कर सके। इस जानकारी को जानने के लिए एक आयोग का गठन किया गया। जिसने कठोर परिश्रम के पश्चात अपनी खोजबीन के आधार पर 'स्टेट्स जनरल' के संगठन और चुनाव के बारे में रिपोर्ट तैयार की। इसी के आधार पर अप्रेल 1779 ई. में चुनाव सम्पन्न कराये गये। **'पार्लमां'** नामक संस्था शासकों की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाने का सीमित कार्य कर सकती थी। यह संस्था एक प्रकार का न्यायालय थी। इसके न्यायाधीश वंशानुगत

होते थे। न्याय प्रदान करना तथा शासक द्वारा निर्मित कानूनों को पंञ्जिका में लिपित करना पार्लामा के कार्य थे। जब तक नये कानून पंञ्जिका में दर्ज नहीं होते तब तक वे लागू नहीं माने जाते थे। अतः पार्लामां शासक के किसी क़ानून को अधिक समय तक रोक तो नहीं सकती थी किन्तु दर्ज करने में देरी कर जन-चेतना को उकसा अवश्य सकती थी। सम्पूर्ण फ्रांस में 17 पार्लामांए थी जिनमें पेरिस की पार्लामां का स्थान सर्वोच्च था। इन पार्लामांओं ने कभी भी ऐसा प्रयत्न नहीं किया कि शासक पर इन पैतृक न्यायपालिकाओं का अंकुश स्थापित हो सके।

(2) **बूरबो वंश के अयोग्य शासक :** - बूरबों वंश के संस्थापक हेनरी चतुर्थ (1589–1610 ई.) के पूर्व फ्रांस में अराजकता की स्थिति विद्यमान थी। हेनरी ने अपने उत्तराधिकारी लुई 13वें के लिए एक व्यवस्थित शासन छोड़ा था। किन्तु उसकी माँ मेरी के संरक्षण के तत्पश्चात उसके युवा होने पर उसके शासन में अराजकता का बोलबाला हो गया। उसके उत्तराधिकारी लुई 14वें ने अपने संरक्षक कार्डिनल माजारे के सहयोग से फ्रांस को यूरोपीय रंगमंच पर एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसने अपने काल में चार सफल युद्धों डिवोल्यूशन का युद्ध (1667-68 ई.), डचवार (1572-78 ई.), आक्सबर्ग की लीग का युद्ध (1688-97ई.) एवं स्पेन का उत्तराधिकार का युद्ध (1702-13 ई.) का सफल संचालन किया। अर्थव्यवस्था को संतुलित कर राज्य के लिए अतुल धन एकत्र किया। कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में फ्रांस में उन्नति हुई। उसका दरबार साहित्यकारों, संगीतज्ञों, चित्रकारों और अनेक विद्वानों से युक्त था। उसके काल में फांस के अधिकांश वैभवशाली प्रासाद पैलेस ऑफ मिरर्स, पैलेस ऑफ टूलियर्स, तथा पैलेस ऑफ वर्साय निर्मित किये गये थे। किन्तु इन सभी उपलब्धियों का लाभ जनता को नहीं मिला। विदेशी युद्धों और प्रासाद निर्माण में अतुल खर्च ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति को इतना गिरा दिया कि लुई को नये कर लगाने पड़े। वर्साय में सामन्तों की उपस्थिति की अनिवार्यता के आदेश ने धनी वर्ग और सामन्तों को अपने क्षेत्र की चिन्ता छोड़कर केवल आमोद-प्रमोद के लिए समय खोने की ओर अग्रसर किया। धर्म के क्षेत्र में 1685 ई. में नान्ट की घोषणा को समाप्त कर धर्म सुधारवादियों को देश खाली करने के लिए मजबूर किया इसलिए 72 वर्ष की अवस्था में जब उसकी मृत्यु हुई तो फ्रांसीसियों को उसका कोई दुःख नहीं हुआ। लुई के पश्चात् उसका पौत्र लुई पन्द्रहवां (1715-1774 ई.) गद्दी पर बैठा। यह निकम्मा, अयोग्य अदूरदर्शी, कायर और अत्यधिक विलासप्रिय था। उसने पेरिस की तीन कुख्यात स्त्रियों को अपने राजप्रसाद में स्थान देकर जनता से घृणा अर्जित की। उसने अपनी फिजूल खर्ची और युद्ध नीति से फ्रांस के कोष को अपार क्षति पहुँचाई। उसकी मूर्खता के कारण फ्रांस को अमेरिका में अपने उपनिवेश खोने पड़े। सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस की पराजय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा को आघात

पहुँचा। इतिहासकार ग्राण्ट के अनुसार "सम्पूर्ण राज्य (फ्रांस) पर केवल एक ही संस्था (राजा) का राज्य था और वह संस्था भ्रष्ट थी।" अन्य इतिहासकार जी पी.गूच ने लिखा है कि "लुई पन्द्रहवें की अपने देशवासियों को देन थी-कुशासित असन्तोषजनक तथा निरुत्साहित फ्रांस। दूरी से देखने पर फ्रांस की शासन व्यवस्था 'वेस्टीन' के दुर्ग की भांति सुदृढ़ दिखलाई देती थी परन्तु इसकी दीवारें मरम्मत के अभाव में ढ़ह रही थीं और इसकी नींव हिलने के चिन्ह दिखलाई दे रहे थे।"

लुई 15 वें का उत्तराधिकारी उसका पुत्र लुई सोलहवां (1774-1792 ई.) 20 वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। व्यक्तिगत रूप से वह निर्मल स्वभाव का तथा नैतिक गुणों से प्रेरित धर्मपरायण व्यक्ति था। लेकिन प्रशासनिक दृष्टि से अपरिपक्व, अस्थिर तथा संकोची स्वभाव का था। वह हमेशा दूसरों के परामर्श से प्रभावित, स्वयं निर्णय लेने में अक्षम था। लुई की सबसे बड़ी दुर्बलता और उसकी असफलता का एक कारण उसकी रानी 'मारी आंत्वानेत' थी। वह अपूर्व सुन्दरी तथा आस्ट्रिया के शासक जोसेफ द्वितीय की बहिन तथा साम्राज्ञी मरिया थरेसा की पुत्री थी। लुई उसके सौन्दर्य पर मुग्ध था और उसी के इशारे पर चलता था। जबकि रानी के कई व्यक्तियों से अनैतिक सम्बन्ध थे जिनके प्रभाव में शासन घूंसखोरी, स्वेच्छाचारिता, फिजूलखर्ची, चापलूसों का अड्डा बन गया था। रानी ही फ्रांस का शासन चला रही थी अतः जब क्रान्ति हुई तो उसे भरोसा था कि आस्ट्रिया की सेना फ्रांस पहुँच कर क्रान्ति को कुचल देगी। इस रूप में क्रान्ति को अधिक भड़काने में मारी आंत्वानेत को उत्तरदायी माना जाता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि फ्रांस की क्रान्ति के कारणों में बुरबों वंश के अयोग्य, अदूरदर्शी उत्तराधिकारी तथा मारी आंत्वानेत भी एक कारण रहे थे।

( ) **शासकों का विलासी जीवन :**– फ्रांस के शासक निरंकुश थे तो उनकी विलासिता भी अनियंत्रित थी। फ्रांस के प्रासाद वैभव प्रदर्शन के केन्द्र थे जहां अपव्यय के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं था। इतिहासकार हेजन ने लिखा है कि "राजा जिस महल में जीवन बिताता और आनन्द लूटता वह ईसाई जगत के प्रत्येक राजा के लिए स्पर्द्धा की वस्तु थी। सैंकड़ों कमरे, गिरजाघर, नाट्यशाला, भोजन कक्ष, सत्कार गृह अनगिनत अतिथि भवन, राज प्रासाद और सैंकड़ों नौकरों के रहने के लिए कमरे आदि उसे सुशोभित करते थे। यूरोप को चकाचौंध करने वाले वर्साई के इन महलों में लगभग 18 हजार व्यक्ति निवास करते थे और शेष 2 हजार में दरबारी, राज परिवार के कृपापात्र अतिथि सामन्त आदि सम्मिलित थे। वे सब आमोद प्रमोद में तल्लीन रहते थे। वर्साई नामक नगर में बना यह महल पेरिस से 18 कि. मी. दूर 10 करोड़ डालर व्यय कर बनवाया गया था। इस व्यय में बेगारी का हिसाब नहीं है। राजकीय अस्तबल में लगभग

1900 घोड़े तथा 200 रथ थे, जिन पर लगभग 4 लाख डालर खर्च किया जाता था। वर्साई के प्रासाद पर कुल 200 लाख डालर प्रतिवर्ष का व्यय बैठता था। इसीलिए फ्रांस के लोग वर्साय के राजदरबार को "राष्ट्र की कब्र" कहकर सम्बोधित करते थे। अनाप-शनाप खर्च की पूर्ति अधिक से अधिक कर वसूली द्वारा की जाती थी। लुई सोलहवें ने क्रान्ति के पूर्व अपने शासन में अनुमानतः 30 करोड़ डालर लुटाया था। रानी मारी आन्ताय्नेत मूल्यवान से मूल्यवान वस्तुओं को खरीदने की शौकीन थी। इस प्रकार अपव्ययता के परिणामस्वरूप फ्रांसीसी जनता में तीव्र असन्तोष व्याप्त था।

(4) प्रशासनिक अव्यवस्था :—फ्रांस का प्रशासन अव्यवस्थित, अक्षम तथा असंतोषजनक था। फ्रांस में उच्च पदों पर नियुक्ति का आधार योग्यता नहीं था अपितु पदों की नीलामी था। अतः कुलीन और धनी लोग ऐसे पदों को खरीद कर प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। प्रशासनिक इकाईयों का संगठन पेचीदगीपूर्ण तथा योजनारहित था। कहीं एक विभाग को कई कार्य करने पड़ते थे तो कई विभाग संयुक्त रूप में एक कार्य करते थे फलत कार्यप्रणाली जटिल और दीर्घअवधि की होने से जनता को राहत के स्थान पर कठिनाइयां भोगनी पड़ती थी। फ्रांस में 40 सरकारे थीं। जिनमें से 32 सामन्ती जागीरों से सम्बन्धित थी। सामन्ती-जागीरों के पास काम कम था किन्तु उन जागीर-सरकारों के सामन्त उच्च पदों पर आसीन निष्क्रिय और सरकार का पैसा बर्बाद करते थे। यह सामन्त जो कि गवंनर के पद पर आसीन किये जाते थे वर्साय में राजा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहते थे। इसी प्रकार मूलतः शासन चलाने हेतु फ्रांस 36 प्रान्तों म विभक्त था; जिसका कि एक अध्यक्ष (इटैंडैंट) होता था। इनकी नियुक्ति भी स्वयं शासक द्वारा होती थी। इनकी शक्तियां प्रतिबन्धहीन होने से यह लोग भी जनता का भरपूर शोषण करते थे। स्थानीय स्वशासन का भी फ्रांस में अभाव था। गाँवों के छोटे छोटे कार्यों; जैसे पुल बनवाना, गिरजाघर की मरम्मत करवाना आदि, के लिए केन्द्रिय सरकार से आज्ञा लेनी पड़ती थी। इससे कार्य में विलम्ब तो होता ही था। परन्तु जनता को अत्यधिक परेशानी उठानी पड़ती थी। इस प्रकार फ्रांस की जनता इस दूषित शासन व्यवस्था से ऊबकर मुक्ति पाना चाहती थी।

(5) दोषपूर्ण न्याय व्यवस्था :—फ्रांस के अलग-अलग भागों में अलग अलग कानून प्रचलित थे। एक स्थान पर जर्मन कानून लागू होते थे तो उससे कुछ दूर दूसरे स्थान पर रोमन कानून प्रचलित थे। हेजन लिखता है कि "एक कस्बे में जो बात कानूनी थी वही बात दूसरे कस्बे में गैर कानूनी हो सकती थी।" इसीलिए कहा जाता है कि फ्रांस में प्रत्येक 7 कि.मी. पर कानून बदल जाया करते थे। एक अनुमान के अनुसार तत्कालीन फ्रांस में 400 प्रकार के कानून प्रचलित थे। कानून

लिखित और परम्परागत दोनों प्रकार के थे । लिखित कानून लैटिन भाषा में लिपिबद्ध होने के कारण जनसाधारण के समझ से बाहर होते थे। कानून बड़े निर्दयी, न्यायहीन और कठोर दण्ड वाले थे। जनता को किसी भी प्रकार के मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। मुद्रित वारण्टों के आधार पर किसी भी व्यक्ति को, अनिश्चित काल तक, बगैर मुकदमा चलाये बन्दी रखा जा सकता था। इन वारण्टों पर राजमुद्र तथा दण्ड की आज्ञा अंकित रहती थी और व्यक्ति और दण्ड का परिणाम रिक्त रखा जाता था। इन वारण्टों के आधार पर राजा तथा उसके कृपा पात्र किसी भी समय किसी भी व्यक्ति को दण्ड दिला सकते थे। अदालतें भी अलग अलग थीं। कहीं सरकारी तो कहीं जागीर अदालते थीं। कहीं न्यायाधीश जागीरदार होता था तो कहीं सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति। कानून और अदालतों में विशेपाधिकार प्राप्त व्यक्तियों के लिए अलग न्याय व्यवस्था थी तो सर्वसाधारण के लिए अलग प्रकार की व्यवस्था थी। सामन्त कानूनों से मुक्त थे। सामन्तों के घोड़े को देख कर ही कानून अपना रंग बदल लेता था। देश में एक अन्य प्रकार के न्यायाधीश थे जिन्हें "चोगे वाले सामन्त" कहा जाता था। ऐसे न्यायाधीश अपने जीवन पर्यन्त यह पद क्रय कर भारी जुर्मानों और रिश्वतों से अपनी जेब भरने म विश्वास रखते थे। क्रान्ति के समय ऐसे सामन्तो की संख्या :0 हजार के लगभग थी। यह लोग समाज के लिए बोझ एवं अभिशाप थे।

(6) सामन्तशाही :- फ्रांस की राजनीतिक प्रणाली सामन्तशाही पर आश्रित थी। समस्त समाज राजनीतिक दृष्टि से दो भागों विशेपाधिकारयुक्त एवं विशेषाधिकार मुक्त, म विभाजित था। विशेपाधिकार प्राप्त वर्ग सामान्य जन पर मनीक्ष में न अपना अधिकार समझता था। इस प्रकार इन दो वर्गों में भी ऊंच और नीच क भेदभाव विद्यमान थे। अतः अधिकारों का जटिल स्तरीकरण फ्रांस की व्यवस्था को भेदभाव पूर्ण बनाते हुए उसे निरन्तर खोखला करता जा रहा था। इस व्यवस्था का सर्वाधिक विरोध नव व्यापारी वर्ग एवं बुद्धिजीवियों न व्याप्त थ. जो न तो विशेपाधिकार प्राप्त थे और न ही विशेपाधिकार मुक्त रहना चाहते थे। इसीलिए कहा भी जाता है कि फ्रांस की क्रान्ति मध्यमवर्ग की क्रांति थी।

राजनीतिक कारणों की उपरोक्त विवेचना के पश्चात क्रान्ति के सामाजिक कारणों को सामाजिक वर्गों के संदर्भ में अध्ययन करेंगे।

ब, सामाजिक कारण

(1) सामाजिक वर्ग फ्रांस का समाज तीन स्टेट (वर्ग) में बंटा हुआ था। प्रथम दो वर्ग पादरी एवं कुलीन सामन्त से गठित थे जबकि तृतीय वर्ग जन साधारण का था। प्रथम दो वर्ग अधिकार युक्त और अन्तिम वर्ग अधिकारहीन

था। यह सभी वर्ग 8 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अपनी अपनी स्थिति से संतुष्ट नही तो असंतुष्ट भी नहीं थे। किन्तु बौद्धिक चेतनाओं एवं वर्गविहीन वर्ग की विषमताओं के फलस्वरूप एक ओर समाज का % अल्प संख्यक अभिजात वर्ग अपनी खोई हुई शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देता था तो दूसरी ओर वहुसंख्यक जनसाधारण वर्ग उनके जीवन की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास में बाधक कुंठाओं से मुक्त होना चाहता था। इस प्रकार वर्ग असंतोष एवं सामाजिक विषमता ने वर्गों के मध्य शंका, अविश्वास और दूरी को बढ़ाया तथा फ्रांसीसी समाज के सम्पूर्ण ढांचे को जर्जर कर दिया। मेडलिन ने सामाजिक असमानता के बारे में सही लिखा है कि "1789 की फ्रांस की क्रान्ति फ्रांसीसी समाज की असमानता के विरुद्ध एक प्रबल संघर्ष था।"

(2) **सामाजिक असमानता :–( ) पादरी वर्ग:** समाज में धर्म की प्रधानता थी। धर्म की प्रमुख संस्था चर्च थी। इन चर्चों के संचालक पादरी थे। यह पादरी दो श्रेणियों में बंटे हुए थे –(अ) उच्च श्रेणी के पादरी तथा (ब) छोटी श्रेणी के पादरी।

(अ) उच्च श्रेणी के पादरी में आर्कबिशप, बिशप, एबट तथा कार्डीनल आदि की गणना होती थी। यह पादरी प्रायः सामन्त अथवा कुलीन वर्ग के लोगों के पुत्र होते थे। आय और प्रभाव के लालच में यह कुलीन पुत्र पादरी की दीक्षा ले लिया करते थे। इन पादरियों का वार्षिक वेतन लगभग 2500 पौंड होता था। यह लोग धार्मिक कर्तव्यों से उदासीन, दीन दुखियों की सेवा से निश्चित आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहते थे। यह पादरी स्त्रियों को रखैल रखते थे तथा इनके पुत्रों को ईश्वर पुत्र कहा जाता था। कुलीनों के समान इन पादरियों में से कई अपने धार्मिक कार्य क्षेत्र के स्थान पर नहीं रह-कर वर्साई के राजदरबार में ऐश करते थे। इतिहासकार हेजन लिखता है कि "स्ट्रासवर्ग के आर्कबिशप की आय तीन लाख डालर थी। उसके यहां चांदी की कढ़ाईया थी और 180 घोड़े थे। उसके महल में शानदार दरबार लगता था जहां प्रतिदिन एक समय में 2.0 अतिथियों का सत्कार किया जाता था।" इस प्रकार चर्च वैभव के और पादरी वैभवभोगी जीवन के प्रतिक थे। इसलिए लोगों में इन पादरियों के प्रति विरोध जागना स्वाभाविक था।

(ब) पारुप्रास कहलाने वाले छोटे पादरी अथवा पुजारी वर्ग में अधिकतर लोग निम्न मध्यम वर्ग और किसान परिवारों के थे। इन छोटे पादरियों का कार्य क्षेत्र गांव-गांव था अतः इनका सम्बन्ध जनसाधारण से अधिक था। इनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इनका वार्षिक वेतन 20 पौंड प्रतिवर्ष होता

था। यह पादरी वर्ग कठोर परिश्रमी, शिक्षित, धर्मपरायण होते हुए भी अपने वर्ग के बड़े पादरियों से उपेक्षित रहते थे। गांवों में सामाजिक धार्मिक कार्यों को पूर्ण कराने वाला यह पादरी वर्ग किसानों में सम्मानित था। वस्तुतः यह वर्ग आदर्श की प्रतिमूर्ति था। इस वर्ग के पादरियों ने रूसो, प्लूटार्क आदि की नवीन विचार धारा को पढ़ा था और यह लोग जहाँ जनसाधारण से सहानुभूति रखते थे वहां उच्च कुलीन पादरियों से घृणा। अतः यह छोटे पादरी भी परिवर्तन चाहते थे। फ्रांसीसी क्रान्ति के समय इन्होंने जनता को सहयोग प्रदान कर क्रान्ति को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था।

(ii) कुलीन वर्ग :1789 ई. तक फ्रांस के कुलीन वर्ग(सामन्त, दरबारी एवं बड़े-अधिकारी) के परम्परा प्रचलित अधिकार एवं शक्तियां नष्ट कर दी गई थीं। फिर भी इस वर्ग के पास शेष रही परिस्थितियों में भी कई विशेषाधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त थी; जैसे आटे की नाकि ों, शराब की भट्टियों, तंदूर आदि के बेगारी-कार्य एवं सामन्ती-कर आदि। फ्राँस की एक चौथाई भूमि पर इन सामन्तों का अधिकार था जहाँ का सर्वसाधारण वर्ग इन सामन्तों की सम्पत्ति मात्र था। यह सामन्त मनमाना कर एवं बेगार लेने में स्वतन्त्र थे किन्तु इसके बदले में इन्हें राज्य को किसी भी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता था। इन सामन्तों की भी दो श्रेणियां थीं --(अ) दरबारी सामन्त तथा (ब) प्रान्तीय सामन्त। दरबारी सामन्त पुनः दो उपश्रेणियों --सैनिक सामन्त और न्यायिक सामन्त, में विभाजित थे।

(अ) दरबारी सामन्त फ्रांस के सामन्तों में अल्प संख्यक थे। सेना, शासन और चर्च के उच्च पदों पर इनका एकाधिकार था। यह सामन्त अपनी जागीरों का प्रबन्ध अपने अधिकारियों को सौंप कर वर्साई दरबार में शासक की चापलूसी का काम करते थे। जागीर प्रबन्धक इनके अधिकारी जनसाधारण पर मनमाना अत्याचार करते थे। इन सामन्तों का शासक की चापलूसी के अतिरिक्त शान से रहना, सरकारी पेंशन व पदों के लिए होड़ करना तथा दरबारी षड्यन्त्रों में भाग लेना कार्य था।

दरबारी सामन्तों में भी सैनिक सामन्त (Noble of sword) धीरे धीरे अपनी पैतृक जागीरों के बटवारे और झूठी शान शौकत के कारण आर्थिक पतन की ओर अग्रसर होने लगे थे। जबकि सरकारी पदों को खरीद कर या जागीरों को खरीद कर बने न्यायिक सामन्त (Noble of Robe) समाज में बढ़ गए थे। यह सामन्त सैनिक सामन्तों की अपेक्षा कट्टर सामन्तवादी थे तथा सामन्तवाद को बनाये रखने में अत्यधिक विश्वास रखते थे। इन्होंने राजाओं द्वारा बनाये गए नए कानूनों का हमेशा विरोध किया। पार्लेमा में इन सामन्तों की संख्या अधिक थी।

(ब) प्रान्तीय सामन्तों की स्थिति दरबारी सामान्तों से भिन्न थी। इन बहुसंख्यक सामन्तों की संख्या एक लाख थी। इन्हें वर्साइ के दरबार तथा अत्यधिक

शान-शौकत से कोई मतलब नहीं था। यद्यपि यह सामन्त भी अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति को दिखलाने के लिए प्रजा से सामन्ती शुल्क लेते थे। किन्तु कर्ज भार से इतने दबे हुए थे कि इनकी आय इनके खर्चे से कम थी। अतः यह सामन्त दरबारी सामन्तों से मन ही मन घृणा करते थे। इन सामन्तों में कई तो छोटे-छोटे खेतों के स्वामी कृषक मात्र थे। ऐसे निम्न श्रेणी के सामन्त वाल्तेयर, दिदेरों, रूसो के विचारों से प्रभावित सामाजिक समानता चाहते थे। इनकी समानता का आशय, कुलीन-समानता और कुलीनों में आर्थिक एकाधिकार का विकेन्द्रीकरण से था। इनकी दृष्टि में शासक की निरंकुशता, पादरियों की कट्टरता, उच्च कुलीन एवं दरबारी सामन्तों के आर्थिक एकाधिकार के विरुद्ध विद्रोह ही क्रान्ति था। यद्यपि इन सामन्तों का दृष्टिकोण संकुचित था फिर भी क्रान्ति से उत्पन्न परिवर्तन से इनको अपनी उपश्रेणी के लाभ की आशा थी अतः इनका समर्थन भी क्रान्तिकारियों के प्रति था।

(iii) जनसाधारण वर्गः फ्रांसीसी समाज का यह तृतीय वर्ग सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित तथा अपने वर्ग में व्याप्त पारस्परिक असमानता लिए हुए था। समाज में इस वर्ग की जनसंख्या 3/4 थी। किसान, मजदूर, शिल्पी-दस्तकार शिक्षित, व्यावसायिक, व्यापारी, सैनिक आदि इस वर्ग के सामाजिक विशेषाधिकार तथा असमानता के कट्टर विरोधी थे। करों का सम्पूर्ण बोझ इसी वर्ग पर होते हुए भी इसके सदस्य राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक सुविधाओं से वंचित थे। इस वर्ग में उक्त दो वर्गों के प्रति आक्रोश था फिर भी यह असमान वर्ग दो वर्गों के शोषण और नियंत्रण के विरुद्ध समानता लिए हुए क्रांति के अलग-अलग उद्देश्य मान कर चलता था।

(अ) कृषकः फ्रांस की आबादी का 2 करोड़ अर्थात 80%. जनसंख्या का बहुसंख्यक वर्ग किसानों का था। आर्थर यंग के अनुसार कृषकों की तीन श्रेणियां थीं—(1) भूमि दास-यह खेतों में मजदूरी करते थे; (ब) अर्धदास—ठेके पर भूमि प्राप्त कर खेती करते थे और (स) स्वतंत्र कृषक-छोटे भू स्वामी; जो स्वयं की भूमि जोतते थे। किसान किसी भी प्रकार का होता, वह राजा, चर्च और जमीरदारों का सेवक मात्र और आर्थिक भार को ढोने वाला लद्दू था। इस स्थिति का स्पष्ट चित्रण तत्कालीन फ्रांस से प्रकाशित पत्रों के चित्रों में दिखलाई देता है—एक दीन और वृद्ध किसान अपनी झुकी कमर पर एक अमीर को बिठाये ले जा रहा है। किसान को 'ताई' या टैली नामक कर के अतिरिक्त 'पोल टेक्स' तथा 'इनकम टेक्स' या आय कर राज्य को देना पड़ता था। सरकारी कारखानों से 7 पौंड नमक प्रति वर्ष खरीदने के लिए कृषक बाध्य था; जो कि 'गेबल' कहलाता था। राज्य को कर देने के पश्चात् 'टेरेन्सी' के रूप में 10% लगान जागीरदार को देना पड़ता था और 10% कर 'टीथ' के रूप में चर्च को देना पड़ता था। इस प्रकार अपनी आय का

77% भाग किसान कर के रूप में चुकाने पर शेष 23% में अपना गुजारा करता था। इसमें से भी कई बार उसे जागीरदारों को नकद और बेगार देनी पड़ती थी। इनमें खेतों की सीमा निर्धारण शुल्क के रूप में 'कैम्पेज', भूमि का किराया 'सेन्स', फलों के उत्पादन पर 'कारगेट' नामक शुल्क के साथ-साथ जागीरदार के शराब खाने से ही शराब क्रय करने के लिए बाध्य करने वाली पद्धति 'वेनवीन', जागीरदार के तन्दूर पर सेकने तथा उसकी चक्की पर पीसाने के लिए 'बनालीटी', पुल से सामान पार ले जाने या लाने पर 'पीगो' आदि कई शोषणात्मक शुल्क या मंहगी रकम प्रदान कर कार्य करवाने की प्रथाओं में किसानों का 10–12 % खर्च हो जाता था। 'रोडीवेन्सीज', के रूप में बगैर मजदूरी सड़कें बनाना, घोड़े चराना, जागीरदारों के घर और खेतों में काम करना आदि बेगार प्रचलित थी। युद्ध सम्बन्धी सुरक्षा कर, भूमि बेचने पर आय का पांचवा भाग, नई फसल बोने पर कर आदि प्रदान करते हुए फ्रांस का किसान टूटता जा रहा था। किसी ने स्थिति के बारे में सत्य लिखा है कि-"किसानों के पेट भोजन को तरसते थे किन्तु मोटे-ताजे हिरण और कबूतर खेतों में स्वच्छन्दतापूर्वक अपना पेट भरते थे। किसान उन्हें हटाने का अपराध नहीं कर सकता था क्योंकि जागीरदारों के यह शिकार भी किसानों के ऊपर भार थे।" 1788–89 ई. के अकाल तथा भयंकर ठंड ने किसानों को भिखारी, आवारा और गांव के भगोड़े बना दिया था। ऐसे किसानों की यह भीड़ नगरों में एकत्रित होकर क्रान्ति की भीड़ बन गई। एक बार ऐसे ही भूखे किसानों एवं मजदूरों की भीड़ रोटी की मांग करती हुई वर्साई के महल पर पहुँची तो रानी मारी ने हालात जानकर अपने रसोई भण्डार से केक बांटने के आदेश दिये। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन शासक वर्ग दयालु होते हुए भी परिस्थितियों के प्रति जागरूक नहीं था। किसान भी राजा को नहीं अपितु सामन्ती व्यवस्था को बदलना चाहते थे इसीलिए कुछ इतिहासकार किसानों की अवस्था पर लिखते हैं कि "फ्रांस के किसान अन्य देशों के किसानों की तुलना में काफी अच्छे थे। किन्तु सामन्तों द्वारा थोपे जाने वाली बेगारों के विरुद्ध असंतोष भावना एवं मध्यम वर्ग द्वारा दिखलाये गए सपनों के प्रति ललक ही कृषकों को क्रान्ति के पथ पर ले आई थी।"

(ब) शिल्पी श्रमिक: इनकी कुल जनसंख्या लगभग 25 लाख की थी। क्योंकि क्रान्ति के पूर्व फ्रांस में उद्योग धन्धों का अधिक विकास नहीं हो सका था अतः यह वर्ग तृतीय 'स्टेट' में अल्प संख्यक ही था। इस वर्ग को गिल्ड प्रथा के अधीन कार्य करना पड़ता था। प्रत्येक शिल्पी-श्रमिक श्रेणियों के नियमों और विशेषाधिकारों में भिन्नता थी। इनमें विभिन्नता के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों का सही विकास अवरुद्ध था। इनके उत्पादन का सही लाभ इन्हें नहीं मिल पाता था। देश के धनी लोग इनके शिल्प और श्रम से लाभ प्राप्त करने हेतु दिन-रात कार्य

करवाते थे किन्तु वेतन के नाम पर कम मजदूरी देते थे। सरकार की ओर से इन्हें किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्राप्त नहीं था। अतः यह वर्ग व्यवस्था को बदलने के लिए नहीं अपितु अपनी दशा को सुधारने एवं रोजी-रोटी के संरक्षण के लिए व्यवस्था के प्रति विरोध पाले हुए था। जब क्रान्ति हुई तब मध्यमवर्ग के बुद्धिजीवियों ने इनकी इसी भावना को भड़का कर क्रान्ति में इनका सहयोग प्राप्त किया।

(स) **सैनिक** : सेना के उच्च पदों को ठेके से प्राप्त कर सामन्त एवं कुलीन वर्ग अच्छे वेतन एवं श्रमविहीन जीवन का उपभोग करते थे। किन्तु मध्यम और निम्न श्रेणी के सैनिकों को अधिक श्रम करना पड़ता था। इस श्रम के अनुपात में उनका वेतन कुछ भी नहीं था। देश की जर्जर आर्थिक अवस्था के फलस्वरूप कई बार महिनों तक उन्हें वेतन नहीं दिया जाता था। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम से लौटे फ्रांसीसी सैनिकों को जब वेतन नहीं मिला तो उनकी सहानुभूति स्वतः ही क्रान्तिकारियों के साथ हो गई। फिर ऐसे लौटे हुए सैनिकों में कई सैनिकों की अनिवार्य सेवा मुक्ति ने भी उनको बेरोजगार कर दिया था अतः वे व्यवस्था के प्रति विरोध स्वरूप क्रान्तिकारियों के सैनिक बन कर कार्य करने लग गये। इन सैनिकों पर अमेरिका की राष्ट्रीय विचारधारा एवं नवीन दृष्टिकोणों का प्रभाव था जिसका प्रयोग इन्होंने जनता में प्रचारक बनकर किया। इस प्रकार पदोन्नति में पक्षपात, अनुशासन में कठोरता, भूखे पेट सेवा, अनिवार्य सेवामुक्ति, नवीन विचारों का प्रभाव आदि कई कारण थे कि फ्रांस के सैनिक भी परिवर्तन के लिए क्रान्तिकारी नेताओं के साथ खड़े हो गए।

(द) **मध्यमवर्ग** : 17 वीं शताब्दी में फ्रांस के व्यापार-वाणिज्य में अच्छी वृद्धि हुई थी। अतः फ्रांस के व्यापारियों ने काफ़ी धन-लाभ अर्जित कर अच्छी स्थिति बना ली थी। इससे इनके रहन-सहन, खान-पान एवं सोच-विचार का स्तर ऊँचा उठने लगा। इस धनिक-वर्ग के लोग फ्रांस की सरकार तथा कुलीनों को ब्याज पर कर्ज देते थे। किन्तु फ्रांस की सरकार के दिवालियेपन को देख कर इन्हें भय होने लगा कि उनके द्वारा प्रदत्त कर्ज की बड़ी रकम कहीं डूब नहीं जाये। इसीलिए वह वर्ग राजा को नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवस्था के संशोधन का समर्थक था। व्यापारियों को फ्रांस के आर्थिक नियमों, सिक्कों, नाप, बांट, चुंगी तथा व्यापारिक करों की विभिन्नता से भी चिढ़ थी क्योंकि इससे उनके आन्तरिक व्यापार पर प्रभाव पड़ता था। फ्रांस की तत्कालीन स्थिति के प्रति इनके असंतोष का अन्य कारण यह था कि "फ्रांस के धन, व्यापार और मस्तिष्क पर इनका अधिकार" होते हुए भी देश की राजनीतिक संस्थाओं पर इनका कोई प्रभाव नहीं था। यह वर्ग अपने उन्मुक्त आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश की राजनीतिक और शासन में अपनी भागीदारी चाहता था। इतिहासकार पालमर के अनुसार

"मध्यम वर्ग के असंतोष का मुख्य कारण यह था कि सुयोग्य एवं समृद्ध होते हुए भी उसे कुलीनों के समान सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं था और वे राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे। एक समय फ्रांस के एक सामन्त ने मध्यम वर्ग की भद्र महिला मैडम रोलां को भोज पर आमन्त्रित किया किन्तु उसके भोजन की व्यवस्था सामन्त के सेवकों के निवास में की गई। इस प्रकार के दोहरे व्यवहार से मध्यम वर्ग के लोगों में छटपटाहट अधिक बढ़ जाती थी। इसलिए वह वंश और वर्ग के स्थान पर व्यक्तिगत योग्यता एवं सम्पन्नता के आधार पर कानूनी-सामाजिक समानता स्थापित करना चाहते थे। इसी कारण क्रान्ति काल में "समानता" का नारा बुलन्दगी से सुनाई देता था।

व्यापारियों एवं धनिकों के अतिरिक्त लेखक, कलाकार, साहित्यकार, वकील, चिकित्सक, अध्यापक, अधीनस्थ सरकारी कर्मचारी आदि का बर्जुआ या मध्यम वर्ग में द्वितीय श्रेणी धारक लोग फ्रांसीसी समाज में विद्यमान थे। प्रथम दो वर्ग तथा मध्यम वर्ग के उच्च श्रेणी के लोगों को इनकी पग-पग पर आवश्यकता पड़ती थी। इसी सम्पर्क के कारण इस वर्ग को समाज में थोड़ी बहुत सुविधाएँ भी प्राप्त थी। इस वर्ग के लोग समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य एक कड़ी थे किन्तु सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर इनकी नगण्यता इनके 'अहं-भाव' पर निरन्तर चोट करती रहती थी। यहाँ तक की प्रथम बुर्जुआ वर्ग (व्यापारी, साहूकार व्यवसायी, उद्योगपति आदि और इस वर्ग में भी ऊँच-नीच का स्तर विद्यमान था। दोनों वर्गों में समानता मात्र दो वर्गों के विरोध तथा नवोदित मध्यम वर्ग की सामाजिक परस्थिति को बनाये रखने में दिखाई देती थी। इसलिए डेविड थामसन का कथन सर्वथा सत्यूत है कि "फ्रांस की क्रान्ति फ्रांसीसी समाज के दो परस्पर विरोधी गुटों के संघर्ष का परिणाम थी।" समाज में एक तरफ राजनैतिक दृष्टिकोण से प्रभावशाली एवं दूसरी ओर आर्थिक दृष्टिकोण प्रभावशाली वर्ग था। इन दोनों के मध्य संतुलन के रूप में बौद्धिक तथा निम्न वर्ग था जिसने क्रान्ति के समय आर्थिक प्रभावशाली वर्ग के साथ राजनैतिक प्रभावशाली वर्ग के विरुद्ध संघर्ष किया था। सामाजिक अहं-भाव के इस पारस्परिक संघर्ष पर नेपोलियन ने अपने विचार प्रकट किये थे कि "क्रान्ति का मुख्य कारण अहं-भाव की तुष्टि थी-स्वतन्त्रता तो मात्र बहाना था।" फिर भी यह सही है कि क्रान्ति को कुलीनों के विरुद्ध जन-संघर्ष बनाने का कार्य मध्यमवर्ग के धन एवं मस्तिष्क ने ही किया था। क्रान्ति का सर्वाधिक लाभ भी इसी वर्ग ने उठाया। इसलिए कहा जाता है कि फ्रांस की क्रान्ति मध्यमवर्ग की क्रान्ति थी।

उपरोक्त उल्लेख से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि फ्रांस की क्रान्ति राजा के विरुद्ध कम अपितु सामाजिक असमानता के विरुद्ध अधिक थी। क्रान्ति द्वारा प्रत्येक वर्ग अपना लाभ प्राप्त करना चाहता था। किसान करों का सही वितरण,

पादरी विपयों के समान अधिकार, सामन्त शक्ति की पुर्नस्थापना, उच्च मध्यम वर्ग आर्थिक एवं सामाजिक सम्मान तथा निम्न मध्यम वर्ग सामाजिक दृष्टि से जीवन में समानता चाहता था। सेवाईन ने लिखा है कि "राजा भी समानता लाना चाहता था किन्तु रानी मारी आन्ता वेत असमानता की चक्की बन कर उस (लुई सोहलवें) के गले में लटकी हुई थी, जिसे लुई को चलाना पड़ता था। ऐसी अवस्था में लॉक, रूसो, वाल्तेयर आदि प्रसिद्ध विद्वानों एवं विचारकों ने सामाजिक-असमानता के विरूद्ध आवाज उठा कर समाज में चेतना को संचारित किया था। दुर्भाग्य से इंगलैण्ड का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ फ्रांस के एक राजकुमार का शिक्षक नियुक्त होकर पेरिस पहुँचा। उसकी पुस्तक 'राष्ट्र का संसार' (World of Nation) ने फ्रांस में हंगामा खड़ा कर दिया। उसने राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं पर लेख लिखे तथा अमीरों तथा चर्च की सम्पति को देश एवं गरीबों की सम्पति बतलाई। इसी से प्रभावित होकर मध्यम वर्ग ने क्रान्ति का बिगुल बजा दिया।

(स) बौद्धिक कारण :-क्रान्ति के कारणों में किसी एक पक्ष से देखना अथवा विश्लेषण करना घटना के सत्युतर के प्रति संकुचित दृष्टिकोण होगा। जैसाकि हमने मध्यम वर्ग के उपरोक्त बिन्दु में उल्लेख किया है कि तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों और विचारकों ने अपनी लेखनी, अपनी आवाज तथा कार्यों से तत्कालीन फ्रांसीसी समाज को प्रभावित किया था। इन बुद्धिवादियों ने फ्रांस में बौद्धिक चेतना का निर्माण कर समाज को परिस्थितियों से अवगत कराया एवं इन परिस्थितियों के प्रति विरोध या सुधार करने वाले विचारों की ओर प्रेरित किया। इसीलिए बौद्धिक चेतना फ्रांस की क्रान्ति की आत्मा थी तो बुद्धिवादी क्रान्ति की धड़कन थे। नेपोलियन ने भी बुद्धिवादियों द्वारा दिये गए क्रान्ति के प्रति प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग को स्वीकार करते हुए कहा था "अगर रूसो न होता तो फ्रांस की क्रान्ति न होती।" इतिहासकार हैजन ने बौद्धिक वर्ग द्वारा क्रान्ति के प्रति किये गए कार्यों के बारे में सत्य ही लिखा है कि "विचारकों के व्यापक आन्दोलन एवं मंथन ने प्रचलित बुराइयों तथा उनके निवारण से सम्बन्धित निरन्तर तथा गम्भीर वादविवाद ने, आने वाली उन महान घटनाओं का मार्ग प्रशस्त किया जो फ्रांस तथा सम्पूर्ण यूरोप के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।" यद्यपि 18 वीं शताब्दी की फ्रांसीसी बौद्धिक चेतना को पुनर्जागरण युग के बौद्धिक आन्दोलन की परिणिति कहा जा सकता है किन्तु इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि "इसके पूर्व किसी भी विचार समूह ने राजनीतिक या सामाजिक संस्थाओं पर इतना निर्णायक प्रभाव नहीं डाला जितना इस युग की बौद्धिक जागृति ने।" इस काल के विचारक राज्य, चर्च, समाज आदि संस्थाओं को मानव कल्याण का

साधन मानते हुए प्राकृतिक व्यवस्था के साध्य की प्राप्ति ही मानव लक्ष्य स्वीकार करते थे। इन विचारकों में मात्र दार्शनिक ही नहीं अपितु आलोचक, भू-अर्थशास्त्री (फिजियोक्रेट), राजनीतिज्ञ आदि भी सम्मिलित थे। हम यहाँ उन सभी विचारकों का उल्लेख नहीं कर उनमें से कुछ उल्लेखनीय विचारकों का संक्षिप्त वर्णन करेगें, जिन्होंने फ्रांस की बौद्धिक चेतना का निर्माण कर क्रान्ति उत्पन्न करने में प्रेरक तत्व का कार्य किया।

(1) मोन्तेस्क्यू (1685–1755ई.)—फ्रांस की क्रान्ति के सौ वर्ष पूर्व मौन्तेस्क्यू का जन्म 1685 ई. में. एक कुलीन फ्रांसीसी परिवार में हुआ था। उस पर नगरीय जीवन की अपेक्षा ग्राम्य जीवन एवं संस्कृति का अधिक प्रभाव था। मौन्तेस्क्यू की शिक्षा ऑरारोरियों के विद्यालय में हुई थी। यहाँ उसने प्रकृति विज्ञान तथा कानून का अध्ययन किया था। शिक्षा समाप्त कर उसने बोर्दों की पार्लमां में वकालत करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही अपनी योग्यता के बल पर 27 वर्ष की अवस्था में बोर्दो की संसद (पार्लमां) का न्यायाधीश बन गया। इन कार्यों में उसने फ्रांसीसी शासन-व्यवस्था की कमियों को देखा और परखा था। 1721 ई. में उसने पर्शियन लेटर्स (लेत्रे परेजान) नामक प्रसिद्ध रचना लिखी थी। यह पत्र लेखन के रूप में लिखी गई कृति तत्कालीन फ्रांसीसी समाज, राजनीति, धार्मिक अवस्था आदि पर आलोचनात्मक व्यंग शैली में प्रहार करती है। उदाहरणार्थ—"अजीब है इस देस की व्यवस्था जहाँ राजा (लुई 14 वाँ) का मन्त्री 18 वर्ष का और रखैल 80 वर्ष की है"; "राजा के दरबारी सफल सेनाध्यक्ष नहीं हैं, उसके दरबारी वे हैं जो उसे कपड़े पहनाते हैं या उसकी नाक साफ करने के लिये रुमाल पेश करते हैं।" इस रचना में समाज सुधार की भावना निहित है। मौन्टेस्क्यू स्त्री एवं पुरुषों की समान शिक्षा तथा दासों को विकास का समान अवसर प्रदान करने का पक्षधर था। उसका स्पष्ट कहना था कि "जो राजा अपनी प्रजा को सुख देने के स्थान पर अत्याचार करता हो तो उसका विरोध करना न्यायपूर्ण है।" मौन्तेस्क्यू के इस कथन से क्रान्ति के जनाधिकार को समर्थन मिलता है।

1729 ई. में मौन्तेस्क्यू इंगलैण्ड गया। यहाँ कुछ वर्ष रह कर उसने इंगलैण्ड की शासन प्रणाली का गम्भीर अध्ययन किया। वह इंगलैण्ड की शासन प्रणाली से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसीका प्रभाव उसके विख्यात ग्रन्थ–कानून की आत्मा (ल एस्प्रिट द लॉ) में दिखलाई देता है। यह ग्रन्थ 20 वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात 1748 ई. में प्रकाशित हुआ। इसकी लोकप्रियता इसीसे पता लगती है कि 1750 ई. तक इसके अठाहर संस्करण प्रकाशित हो गये। उसने इस ग्रन्थ में सात विभिन्न शासन-प्रणालियों के गुण-दोष सहित वर्णन किया है। उसने इंगलैण्ड के संवैधानिक राजतंत्र की प्रशंसा करते हुए फ्रांस के शासकों के दैवी

अधिकार के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उसने इसी में फ्रांस की खोखली संस्थाओं की व्यंगात्मक शैली में आलोचना करते हुए वैधानिक शासन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया है। वह मानता था कि निरंकुश शासन समाप्त करने के लिए शासन के तीन अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के क्षेत्रों को पृथक-पृथक करना जरूरी है। उसने शक्ति पार्थक्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर समझाया कि ऐसा होने से तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के अधिकारों को सीमित रखेगी वहाँ अपने में स्वतन्त्र कार्य कर सकेगी। इसके फलतः जनता के अधिकारों की रक्षा सम्भव हो सकेगी। उसके अनुसार क्योंकि फ्रांस की सभी शक्तियाँ शासक में अन्तर्निहित है अतः यहां शासन-व्यवस्था में सुधार की आशा रखना निरर्थक है। मोन्तेस्क्यू का यह सिद्धान्त ही अमेरिका के विधान के आधार बने। क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस के विधानों पर भी उसके विचारों का प्रभाव पड़ा था। मोन्तेस्क्यू ने कानून सम्बन्धी शुष्क विषय को इतनी सरस शैली में लिखा कि तत्कालीन फ्रांस की फैशनपरस्त स्त्रियां भी उस पर अपने विचार प्रकट करके गौरव का अनुभव करती थी। उसके विचार समय और स्थान से मुक्त आज भी उतने ही सत्य एवं महत्वपूर्ण हैं।

(2) **वाल्तेयर (1694–1778 ई.)**—वाल्तेयर का स्थान बौद्धिक जागृति के उन्नायकों में अग्रणीय है। वह एक महान कवि, दार्शनिक, नाटककार, पत्रकार आलोचक, व्यंगकार, इतिहासकार एवं लेखक था। बहुमुखी प्रतिभा के धनी वाल्तेयर ने प्रत्येक दिशा में समालोचना की दृष्टि द्वारा सुधार करने का प्रयत्न किया। उसका जन्म 1694 ई. में फ्रांस के एक मध्यम परिवार में हुआ था। उसके पिता उसे वकील बनाना चाहते थे किन्तु वह पिता की इच्छा के विरुद्ध अन्य विषयों में रुचि रखता था। जिस प्रकार मार्टिन लूथर ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध धर्म सुधारक के रूप में ख्याति अर्जित की उसी प्रकार वाल्तेयर ने फ्रांस की तत्कालीन कुप्रथाओं पर व्यगांत्मक लेखों द्वारा कठोर प्रहार कर यूरोप में लोकप्रियता एवं अमर नाम कमाया। वाल्तेयर बौद्धिक स्वतन्त्रता का महान पोषक था। 23 वर्ष की आयु में ही उसके आलोचनात्मक लेख समाज में प्रसिद्ध होने लग गये थे। उसने प्रारम्भ में फ्रांस के पादरियों और फ्रांस के उत्तराधिकारी ड्यूक ऑफ आर्लियंज को अपनी आलोचना का माध्यम बनाया। इसीलिए ड्यूक ने उसे एक वर्ष तक बैस्तील (वस्तीय्य) के दुर्ग में वन्दी रखा। वाद में एक अन्य सामन्त ने उसे पुनः सजा दिलवाकर एक वर्ष तक बैस्तील में वन्दी रखा। वन्दीगृह में उसे फ्रांस की पुरातन व्यवस्था का सही रूप देखने को मिला। इसी के फलस्वरूप वाल्तेयर के शिष्टाचार एवं व्यवहार में आश्चर्यजनक परिवर्तन आने लगा। उसने अपने ईदगिर्द फैले समाज का गहन अध्ययन करते हुए समाज पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। उसने इसी संदर्भ में पुरातन लोगों की सभ्यता

संस्कृति एवं सामाजिक जीवन को जानने का प्रयास करते हुए उसके काल की दशाओं का वर्णन अपनी इतिहास पुस्तक "चौदहवें लुई का युग" में किया है। वाल्तेयर का यह इतिहास तत्कालीन इतिहास विद्या लेखन में नव-विश्लेषण का प्रतीक था। जेल से मुक्त होने के पश्चात वाल्तेयर ने न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा लॉक के दर्शन का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया। उसकी आलोचना, व्यंग तथा लेखों से तंग होकर फ्रांस की सरकार ने उसे तीन वर्ष के लिए देश निर्वासन की सजा प्रदान की। वाल्तेयर 1724 ई. में इंग्लैण्ड चला गया। कुछ समय के लिए वह प्रशा के महान सम्राट फ्रेडरिक का अतिथि रहा किन्तु उसके स्वतन्त्र विचारों के कारण यहाँ से भी प्रस्थान करना पड़ा। इसके बाद वह रूस की साम्राज्ञी कैथराइन के दरबार में चला गया जहाँ भी अपनी प्रकृति के कारण उनका सामंजस्य नहीं बैठा। कुछ काल स्वीटरजरलैण्ड में व्यतित कर वह पुनः फ्रांस लौट आया। 1778 ई. में वह अपनी लोकप्रियता की चरम-सीमा पर पहुँच गया था। इसी वर्ष 84 वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया। मृत्यु से पूर्व वह यूरोप का "साहित्य सम्राट" मान लिया गया था। जबकि आधुनिक समालोचन उसे "सम्पादकों का राजा" मानते हैं।

वाल्तेयर में यद्यपि मौलिकता का अभाव था फिर भी अपने अनुभवों और पूर्व दार्शनिकों के विचारों का सामंजस्य कर अपने विचारों को जनता के विचारों के साथ तादम्य स्थापित करने में उसकी भूमिका अविस्मरणीय थी। उसके व्यवहारिक सिद्धान्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। वह हर प्रकार के अत्याचार से घृणा करते हुए मानव स्वतन्त्रता का उग्र समर्थक था। उसकी लेखनी तलवार से अधिक पैनी थी। उसकी शैली हृदयग्राही थी। उसके लेखों में नवीनता के साथ-साथ मानव स्वतन्त्रता के संघर्ष का आमंत्रण होता था। उसने स्वयं भी युग के अन्याय और अत्याचार, धार्मिक पक्षपात एवं पाखण्डी विश्वासों के विरुद्ध दीर्घकाल तक संघर्ष किया था। इतिहासकार हेजन के शब्दों में ' वह जो कुछ लिखता था उसमें उसकी आत्मा का उत्साह और उमंग झलकता था। कटु व्यंग के तीर छोड़ने और धूल धूसरित वाक्-प्रहार करने में वह दक्ष था।" इसी कारण फ्रांस की सरकार उससे बहुत घबराती थी। उसकी विशाल साहित्यिक देन का प्रभाव था कि शिक्षित जनता तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था एवं शासक को व्यर्थ समझने लगी थी। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस एवं यूरोप के चिन्तन में जो नई धारा प्रवाहित हुई उसमें वाल्तेयर का अपूर्व योगदान भी सम्मिलित माना जा सकता है।

(3) रूसो (1712–1778 ई.)—इसका जन्म जेनेवा के एक बदनाम घड़ीसाज के घर में 1712 ई. में हुआ था। उसने नियमित रूप से किसी पाठशाला में अध्ययन नहीं किया अपितु उसने स्वयं पढ़ना लिखना सीखा था। शिक्षा

के अभाव और गरीबी में रूसो को जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। किन्तु घुमक्कड़ स्वभाव का होने के कारण वह उत्तर इटली होता हुआ फ्रांस पहुंचा। उत्तरी इटली में उसे पढ़ने का अवसर मिला। लगभग 15 वर्षों तक वह दार्शनिक पत्रों के माध्यम से वाल्तेयर को अपना गुरु मानता रहा किन्तु उसके निजी-सम्पत्ति विरोधी विचारों के कारण वाल्तेयर और दिदेरो उसके कटु आलोचक बन गए थे। रूसो ने बतलाया कि "मनुष्य के जीवन का श्रेष्ठ समय वह था जब निजी सम्पत्ति की अवधारणा का जन्म नहीं हुआ था। सम्पत्ति से ही समाज में लालच, दुराचार और संकीर्ण महत्वाकांक्षा का उदय हुआ। इसी से युद्ध का जन्म हुआ। एक शासक और शेष लोग दास हो गए। असमानता प्रकृति के विरुद्ध है। असमानता के कारण ही एक दुष्ट सन्त को गाली देता है और विलासी असंख्य लोगों का खून चूसते हैं। फ्रांस की पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध यह असंख्य लोग एक दिन अवश्य विद्रोह करेगें।" रूसो के स्वतन्त्र विचार निजी सम्पत्ति तक ही नहीं अपितु चर्च विरोधी भी थे। वह स्वयं आस्तिक था, किन्तु चर्च के बन्धनों से मुक्त धार्मिक स्वतन्त्रता का पक्षधर था। वह ऐसे धर्म की कल्पना करता था जिसमें ईसाई नैतिकता के व्यवहार मौजूद हो। वह प्राकृतिक धर्म का समर्थक था। उसने धर्म और शिक्षा के प्रति अपने विचारों का प्रतिपादन 1762 ई. में प्रकाशित 'एमिल' नामक उपन्यास में किया है। चर्च की अवहेलना सम्बन्धी विचारों के फलस्वरूप उसे फ्रांस छोड़ कर भागना पड़ा था। रूसो ने अपने जीवन में गरीबी और अमीरी को निकट से देखा था। उसकी पत्नि विवाह के पूर्व नौकरानी थी और उसके दो बच्चों की मां बन चुकी थी। गरीबी के कारण रूसो को अपने बच्चे अनाथ आश्रम में भेजने पड़े थे। इसीलिए सम्पत्ति के प्रति उसके विचार सर्वाधिक क्रान्तिकारी थे। पेरिस की सम्पदा उसे मिथ्या लगती थी क्योंकि उस जैसे व्यक्ति के लिए वहां कोई स्थान नहीं था। आधुनिक विज्ञान और सभ्यता को वह मनुष्य के पतन का कारण मानता था। उसके भावुक हृदय में एक ओर सामाजिक असमानता के प्रति रोष था तो दूसरी ओर प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति असीम मोह। इसलिए उसने मानव सुख की कामना "प्रकृति की ओर लौट चलो" द्वारा उद्धृत की है। उसने सामाजिक असमानताओं को–प्राकृतिक और समाज द्वारा उत्पन्न के दो भागों में विश्लेषित किया है। आलस्य और क्रियाशील, मन्द बुद्धि और तेजस्वी आदि प्राकृतिक तथा एक वर्ग को पढ़ने व नौकरी प्राप्त करने का अधिकार और दूसरे को नहीं, एक को धन एकत्रित करने का अधिकार और दूसरे को कर देने का कर्त्तव्य आदि समाज उत्पन्न विषमताएं समाज में विद्यमान हैं। रूसो लिखता है कि प्रथम प्रकार की असमानता अनियंत्रित होने के कारण स्वीकार की जा सकती है परन्तु दूसरे प्रकार की असमानताओं में सुधार किया

जा सकता है। इसलिए रुसो ने सामाजिक संगठन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का समर्थन किया था।

1762 ई. में ही प्रकाशित "सामाजिक समझौता या सोशल कान्टेक्ट" नामक ग्रन्थ रूसो की अमर कृति है। इस ग्रन्थ का प्रथम वाक्य ही ऐसा है जिसे पढ़ कर मानव सोचने की ओर प्रेरित हो जाता है—"मानव जन्म से स्वतन्त्र है किन्तु सामाजिक बन्धन उसे जकड़ लेते हैं।" सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति पर सतरहवीं शताब्दी में हॉब्स और लॉक द्वारा लिखा गया था। किन्तु रूसो का सामाजिक समझौता "सार्वभौम इच्छा" या जनरल विल को जनता में देखता है। वह सत्ता पर व्यक्तिगत अधिकार के स्थान पर सामाजिक अधिकार को महत्व देता था। सरकार के उद्देश्यों को वह सीमित करते हुए उसके कम से कम हस्तक्षेप में विश्वास रखता है।

रूस ने अपने अन्तिम वर्षों में अपनी जीवनी भी प्रकाशित की जो संसार की सर्वश्रेष्ठ आत्मकथाओं में एक है। इस कृति द्वारा उसके समग्र विचारों को समझने में सहायता मिलती है इसमें उसने अपने गुण-दोषों को कहीं भी छुपाया नहीं है; यहां तक कि वह दुश्चरित्र मादाम द वारन और उनके मध्य सम्बन्धों का भी वर्णन करता है जो उम्र में उसकी माँ के समान थी। उसकी उल्लेखित कृतियों ने समाज को किस प्रकार प्रभावित किया इसका उदाहरण लुई सोहलवें की रानी मारी आन्तवावेत है; जो किसी रूसो के प्रकृति सिद्धान्तों से प्रभावित हो कर महलों में साधारण झोंपड़ी बनवा कर ग्वालीन का वेश धारण किये गोचरी का कार्य करती थी और उसकी दासियां तालाब में मछली का शिकार करती-फिरती थीं।

इस प्रकार रूसो की लेखनी ने जनसाधारण के मस्तिष्क को ही आन्दोलित नहीं किया बल्कि उनके दिलों के तारों को छूकर उन्हें झंकृत भी किया। मूलतः वह प्रथम विचारक था जिसने एक स्वतन्त्र समाज की आशाएं मानव मन में प्रस्फुटित की थी।

4. दिदेरो (1713–1784 ई.)—क्रान्तिकारी विचारों को संकलित कर उनको स्थायित्व प्रदान करने में दिदेरो का योगदान महत्वपूर्ण है। दिदेरो ने एक विशाल विश्व कोस (ऑंस्किगंपेदी) का सम्पादन कर इसमें राजनीति, धर्म, विज्ञान और अन्य विषयों पर लिखे गए विद्वानों के आलोचनात्मक लेख संग्रहित किये। यह विश्वकोश 1772 ई. में दिदेरो और उसके 200 सहायकों के अथक परिश्रम के पश्चात् 28 खण्डों में प्रकाशित हुआ। दिदेरो ने साहसपूर्ण तत्कालीन शासन व्यवस्था के पतन की आलोचना करते हुए इस कोश में पादरियों के भ्रष्ट जीवन एवं धार्मिक अन्धविश्वास पर प्रहार करने वाले वैज्ञानिक विषयों की विवेचना को

स्थान दिया। फ्रांसीसी राजनीतिक मान्यताओं की आलोचना करना उस युग में राजद्रोह माना जाता था। इसी कारण 1752 ई. में विश्वकोश के दो खण्डों के प्रकाशन के पश्चात इसके प्रकाशन पर रोक लगा दी गई। दिदेरो को फ्रांस छोड़ कर भागने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस कोश के अधिकांश खण्ड फ्रांस के बाहर प्रकाशित हुए। किन्तु कुछ समय पश्चात प्रकाशन की अनुमति मिल जाने से 1772 ई. में यह कोश पूर्ण हुआ। इस कोश में सभी चिन्तकों और संस्थाओं के विकास को स्थान प्रदान कर दिदरो ने न केवल क्रान्ति की अपूर्व सेवा की बल्कि आने वाले युग की बौद्धिक चेतना को जागृत बनाया।

5. कस्ने—18 वीं शताब्दी के मध्यकाल के पूर्व तक फ्रांस में अर्थशास्त्र स्वतन्त्र विषय नहीं था। आर्थिक समस्याओं का अध्ययन राजनीति शास्त्र द्वारा किया जाता था। किन्तु कस्ने, गुरने तथा तुरगो जैसे भू-अर्थशास्त्रियों (फिजियोक्रेट्स) ने अर्थ सम्बन्धी नवीन विचारों का मनन किया और अर्थशास्त्र की भूमिका के साथ-साथ अर्थव्यवस्था पर अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। यह लोग व्यापार के स्थान पर भूमि और कृषि को धन का स्त्रोत मानते थे। पुनर्जागरण के पश्चात यूरोप में व्यापार की अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। फ्रांस के समाज में व्यापारिक पूंजीवादी, मध्यम वर्ग के रूप में नये वर्ग का विकास हो रहा था। भू-अर्थशास्त्रियों ने इस व्यापारवादी पूंजीवाद का विरोध किया। फ्रेन्कोस कस्ने का नाम इन भू-अर्थशास्त्रियों में सर्वोपरी है। फ्रास के मध्यम वर्ग में पैदा हुआ कस्ने मूलतः चिकित्सक था। उसने चिकित्सा शास्त्र की हार्वे का रक्त संचरण प्रणाली का प्रयोग अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में किया। उसका आशय था कि जिस प्रकार शरीर की तन्दूरुस्ती के लिए रक्त-सचार की सुचारु रूप से आवश्यकता है उसी प्रकार शक्तिशाली राज्य के लिए प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था अनिवार्य है। कस्ने की दृष्टि में धन का मूल स्त्रोत व्यापार नहीं होकर प्रकृति है जो कि वास्तविक उत्पादन का माध्यम है। मनुष्य को कृषि, मछली, वन एवं खनिज सम्पदा से धन प्राप्त होता है। कस्ने मानता था कि उत्पादन के क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। कृषकों पर अधिक कर का भार नहीं थोपना चाहिये, करों में एक समान प्रणाली होनी चाहिये जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। वह यह भी स्वीकार करता है कि किसानों को अपने उत्पादन के 3/4 भाग को राज्य, सामन्त या चर्च को कर में देने से फ्रांस की आर्थिक दुर्दशा हुई है। कस्ने के अनुसार "यदि कृषक दरिद्र है तो राज्य एवं राजा भी दरिद्र होगें।" इस प्रकार कस्ने ने निरंकुश राजतन्त्र और उच्च वर्ग के अत्याचारों का विरोध कर किसानों का पक्ष लिया। कस्ने के विचारों से सर्वाधिक प्रभावित होने वाला इंगलैण्ड का अर्थशास्त्री एडम स्मिथ था। इसने भी 1776 ई. में "वैल्थ ऑफ नेशन्स" या राष्ट्रों की पूंजी प्रकाशित कराई थी।

फिजियोक्रेट्स विचारधारा का यह अर्थ नहीं है कि वह कट्टर रूप से व्यापार के विरोधी थे । अपितु यह लोग प्रगतिशील अर्थव्यवस्था के लिए व्यापार से अधिक कृषि-उत्पादन पर जोर देते थे। तुरगो स्वतन्त्र व्यापार का पक्षपाती और आयिक उत्पादन का अनुमोदक था। वह व्यापारियों पर चुंगी लगाने का विरोधी था । तुरगो जब लुई सोलहवें द्वारा वित्त-मन्त्री नियुक्त किया गया तो उसने शासन की अर्थव्यवस्था में अपने विचारों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया था। फ्रांस की बौद्धिक क्रान्ति के अन्य लेखकों में इतिहासकार रेनाल एवं मावली के नाम भी है। रेनाल ने अन्य देशों के शासनों से फ्रांस के निरंकुश शासन की तुलना करते हुए फ्रांस के शासन में विद्यमान कमियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। इस प्रकार उल्लेखित विद्वानों के बौद्धिक प्रयासों ने क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाकर 1789 ई. में फ्रांस के जनमानस को क्रान्ति पर उतारु कर दिया था। इतिहासकार कैटलबी के अनुसार "दार्शनिकों की रचनाओं ने फ्रांस के राजतन्त्र के विनाश के लिए अच्छा बारूद उत्पन्न कर दिया था।"

(द) धार्मिक कारण

वैसे तो हम उल्लेख कर चुके हैं कि फ्रांस में धर्माधिकारी की दो श्रेणियां विद्यमान थी । उच्च श्रेणी के धर्माधिकारी भ्रष्ट, विलासी एवं कर्त्तव्यच्युत थे। मठों में निवास करने वाले भिक्षु एवं भिक्षुणियों का नैतिक पतन हो चुका था। फ्रांस का चर्च "राज्य के अन्दर राज्य" था। उसकी आय, आदेश तथा अनियमितताओं पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यद्यपि चर्च द्वारा जनहित के कार्य किये जाते थे किन्तु धर्माधिकारियों के वैभवपूर्ण जीवन की चकाचौंध में सब फीके थे। फ्रांस की सम्पूर्ण जागीर भूमि की बीस प्रतिशत भूमि चर्च के अधीन थी। चर्च भी जागीरदारों के समान साधारण का शोषण करता था ।

फ्रांस का राजपरिवार रोमन कैथोलिक चर्च का अनुयायी था। अतः फ्रांस में इसी चर्च का प्रभुत्व था । कैथेलिकों के अतिरिक्त लाखों प्रोटेस्टेंट भी फ्रांस में निवास करते थे जिन्हें ह्यूगोनॉट कहा जाता था। लुई चौहदवें ने प्रोटेस्टेन्टो के दमनार्थ 1685 ई. में उनके सभी विशेषाधिकारों को समाप्त करते हुए हेनरी चतुर्थ द्वारा प्रदत्त धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता का "नान्तेज का धार्मिक अध्यादेश" को भी रद्द कर दिया । इस प्रकार फ्रांस में धार्मिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। यद्यपि लुई सोहलवें ने अपने काल में प्रोटेस्टेन्टों का उत्पीड़न बन्द कर दिया था किन्तु धार्मिक प्रतिबन्ध को वैसे ही लागू रहने दिया। यहूदियों को विदेशी मानते हुए उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। कानून द्वारा वे रोमन चर्च के अधीन एवं रोमन चर्च के कर दाता थे। इसी के फलस्वरूप जब फ्रांस के तृतीय वर्ग ने क्रान्ति की शुरुआत की तो यह लोग क्रान्तिकारियों का

सहयोग कर अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्ति की आशा करने लगे थे।

(घ) आर्थिक कारण

फ्रांस में क्रान्ति के पूर्व अमीर और गरीब के दो विपरित छोर बिन्दुओं के मध्य असमान आर्थिक-विभाजन विद्यमान था। इस विषमता के अतिरिक्त फ्रांस की कर प्रणाली भी दोषपूर्ण थी। समाज का प्रथम एवं द्वितीय वर्ग अधिक से अधिक आय का उपार्जन-कर्त्ता था किन्तु कर देने के नाम पर कम से कम कर-दाता था। इसके विपरीत तृतीय वर्ग अधिक से अधिक कर प्रदात्ता था। जागीरों एवं निजी धन पर प्रत्यक्ष कर की व्यवस्था होते हुए भी अमीर लोग अधिकारियों को अपने प्रभाव में लेकर करों से मुक्ति या छूट प्राप्त कर लेते थे। उदाहरणार्थ– फ्रांस के राजकुमारों के आय कर से 25 लाख की वसूली होनी चाहिए थी परन्तु उनसे 2 लाख भी वसूल नहीं हो पाते थे। इससे जनता में असंतोष होना स्वाभाविक था। फ्रांस की कर व्यवस्था में अन्य दोष कर वसूली में ठेकेदारी प्रथा का प्रचलन था। यह ठेकेदार सरकार को केवल निर्धारित रकम जमा करवाते थे जबकि जनता से अधिक कर वसूल कर अच्छा लाभ अर्जित करते थे। ठेकेदारों द्वारा की गई कार्यवाही के प्रति शासन मौन रहता था। अतः इस प्रथा का विरोध स्वभावतः फ्रांस के शासन का विरोध था जो शनैः शनैः जनमानस में घर करता जा रहा था।

नमक जनसाधारण के दैनिक प्रयोग की वस्तु है। किन्तु फ्रांस में सरकार ने इसका एकाधिकार एक कम्पनी को दे रखा था। इस कम्पनी से सात वर्ष से अधिक आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति को 7 पौण्ड नमक प्रति वर्ष खरीदना अनिवार्य था। इसकी अवहेलना करने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाता था। इस अपराध के लिए प्राणदण्ड तक की सजा दी जा सकती थी। यह नमक भोजन पकाने के कार्य में ही प्रयुक्त किया जा सकता था। मछली एवं मांस को सुरक्षित रखने हेतु अतिरिक्त नमक खरीदना पड़ता था। इस प्रकार नमक कर की व्यवस्था से आम जनता परेशान थी।

शराब बनाना फ्रांस का राष्ट्रीय उद्योग था। किन्तु फ्रांस की सरकार ने अपने आर्थिक पतन को दूर करने के लिए इस उद्योग पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये थे। इससे जहां शराब के उद्योग का विकास अवरुद्ध होता गया वहां उपभोक्ता को यह ऊंची दरों में खरीदनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त शराब बिक्री की दर भी सम्पूर्ण फ्रांस में एक समान नहीं थी अतः एक स्थान से दूसरे स्थान चोरी-छुपे शराब लाने व ले जाने से अवैध व्यापार बढ़ता गया। सरकार ने यद्यपि इस तस्करी पर रोक लगाने का प्रयत्न भी किया किन्तु जनता को इससे राहत नहीं मिल सकी। इससे जनता धीरे-धीरे सरकार की निर्बल नीति का विरोध करने लगी।

व्यापार तथा औद्योगिक विकास होते हुए भी फ्रांस की आर्थिक अव्यवस्था ने सरकार को दिवालिया बना दिया था। कर-प्रणाली में ठेकेदारी, अमीरों द्वारा करों की चोरी, निर्धनों द्वारा कर समय पर नहीं चुकाना, शासक परिवार द्वारा अत्यन्त व्यय करना, धर्माधिकारियों की कर से मुक्ति आदि कई अवस्थाओं ने सरकार को ऋण लेने के लिए विवश कर दिया। फिर अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में और सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांसीसी सेना पर अत्यधिक व्यय, ने भी सरकारी-कोष को जल्दी रिक्त कर दिया था। 1776 से 1788 ई. के मध्य फ्रांस की सरकार सात करोड़ डालर की ऋणी थी। यह धन चुकाने में असमर्थ सरकार ढाई करोड़ डालर की व्याज राशी भी नहीं चुका पाई थी। इतना होते हुए भी सरकारी खर्च कम होने के स्थान पर बढ़ता जा रहा था। इसीलिए विदेशी तथा देशी साहूकारों ने अपना धन डूबते देख कर सरकार को ऋण देना बन्द कर दिया। यद्यपि लुई सोलहवें ने फ्रांस की सरकार को ऋण भार से उबारने के लिए प्रयत्न किये किन्तु वित्त-मन्त्रियों की अयोग्यता, कुलीनों के दवाव तथा माद्री अन्तवानेत के हस्तक्षेप के फलस्वरूप ऋण भार घटने के स्थान पर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। जनता से तीस करोड़ डालर के ऋण लेने के पश्चात फ्रांस में कोई भी शेष नहीं था जो सरकार को ऋण देने के लिए तैयार हो। अत: ऋण भार से निपटने के लिए सम्राट लुई ने 1 मई 1789 ई. को स्टेट जनरल की बैठक को आमंत्रित किया। इस बैठक ने ही फ्रांस की क्रान्ति को प्रारम्भ कर विश्व के इतिहान में इस महान घटना का नाम लिखा दिया।

(ग) अन्य कारण

1. अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध—फ्रांस में किसी भी लेख या पुस्तक को प्रकाशित करने से पहले पांडुलिपि को सरकारी निरीक्षक केय हां प्रस्तुत करना पड़ता था। उसकी स्वीकृति मिलने पर ही पुस्तक छापे खाने में जा सकती थी। प्रकाशन के बाद भी यदि पुस्तक या लेख आपत्तिजनक माने जाने पर जब्त कर लिये जाते थे और उनके लेखकों तथा प्रकाशकों के विरुद्ध अभियोग चलाये जाते थे। वाल्तेयर जैसे प्रसिद्ध विद्वान को भी इसी के फलस्वरूप बन्दी जीवन और देश निष्कासन का दण्ड भोगना पड़ा था। विचारों और प्रकाशन सम्बन्धी नियमों के अभाव में अधिकारी ही निर्णयात्मक सर्वेसर्वा थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, राजनीतिक स्वतन्त्रता नाम की कोई भी स्थिति फ्रांस में विद्यमान नहीं थी। इसीलिए फ्रांस की क्रान्ति में "स्वतन्त्रता" का नारा मुख्य रूप में उभरा था।

2. इंगलैण्ड की घटनाओं का प्रभाव—1688 ई. में इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति के पश्चात वहां संवैधानिक शासन की स्थापना हो गई थी। इस प्रकार इंगलैण्ड के शासक द्वारा जनता के विचारों को महत्व दे कर फ्रांस के निरंकुश

राजतन्त्र में पिसती हुई जनता के सम्मुख एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था। इंगलैण्ड और फ्रांस के मध्य पड़ोसी-प्रतिद्वन्दता के व्यवहार निरन्तर चलते रहते थे। अतः फ्रांस की जनता नित्य ही इंगलैण्ड की स्थितियों का आंखें खोल कर अवलोकन करती रहती थी। जब इंगलैण्ड मे दो सदन वाली जन संसद सुचारू रूप में कार्य करने लगी तो फ्रांस की जनता में भी संवैधानिक राजतन्त्र के प्रति उत्साह बढ़ने लगा। इसके अतिरिक्त आयरलैंडवासियों ने इंगलैण्ड के विरुद्ध आन्दोलन करके 1779 से 1782 ई. के मध्य कई सुविधाएं अर्जित कर ली थीं। मोन्टेस्क्यू के इंगलैंड प्रभावित शासन-प्रणाली के विचार भी जनता के मस्तिष्क में घूम रहे थे। अतः इन परिस्थितियों ने भी फ्रांसीसी लोगों को निरंकुश शासन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया था।

3. **अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम**—सप्त वर्षीय युद्ध (1775-1783 ई.) में इंगलैंड से अपनी हार का प्रतिकार करने के लिए फ्रांस ने इंगलैंड के विरुद्ध अमरीकी उपनिवेशों को धन, सैनिक सामग्री और सैनिकों द्वारा सहायता की थी। इससे अमेरिका को सफलता प्राप्त हुई किन्तु फ्रांस को कोई भी लाभ नहीं मिला। अपितु इसमें फ्रांस आर्थिक दृष्टि से खोखला हो गया एवं उसकी अर्थ व्यवस्था लड़खड़ा गई। फ्रांस के लोग शासन की इस कार्यवाही से पहले ही असतुष्ट थे फिर इसके परिणाम ने उनके विरोध को उग्र कर दिया। इसके अतिरिक्त युद्ध में भाग लेने वाले फ्रांसीसी सैनिकों की छटनी और वेतन नहीं देने से वह भी क्रान्तिकारी बन गए। अमेरिका से लौटे सैनिकों में अमेरिका के प्रभाव युक्त स्वतन्त्रता एवं समानता की भावना विद्यमान थी। वह भी फ्रांस में बन्धुत्व एवं प्रजातन्त्र की स्थापना की कल्पना करने लगे थे। फ्रांस की जनता में इन सैनिकों ने अपने विचारों को प्रस्फुटित कर क्रान्ति के अनुकूल वातावरण बनाना प्रारम्भ कर दिया था।

(घ) तात्कालिक कारण

क्रान्ति के पूर्व अपने 15 वर्ष के शासन काल में लुई सोलहवें ने फ्रांस की बिगड़ती अर्थ व्यवस्था को सुधारने का असफल प्रयत्न किया था। लुई ने सिंहासन पर बैठने के पश्चात् 1774 ई. में तुरगो को अपना वित्त मन्त्री नियुक्त किया। तुरगो भू-अर्थशास्त्री विचारधारा का समर्थक एवं केस्ने को आदर्श मानने वाला व्यक्ति था। वह दार्शनिक वाल्तेयर का अभिन्न था। अपने उदारवादी विचार के लिए फ्रांस में प्रसिद्ध था। वह एक अनुभवी प्रशासक तथा जन-कठिनाइयों से परिचित था। वह फ्रांस की जनता पर अधिक कर लगाने के पक्ष में नहीं था अपितु उसने व्यापार को आन्तरिक हस्तक्षेपों से मुक्त कर उसकी प्रगति के नये साधन जुटाने की नीति अपनाई। उसने व्यावसायिक श्रेणी का अन्त कर दिया जिससे शिल्पी-श्रमिकों को नये-नये उद्योग खोलने का अवसर और प्रोत्साहन मिला। किसानों

को बिना मजदूरी के सड़कों पर काम करने वाली बेगार 'कोरवी' को भी समाप्त कर दिया। अब सड़क निर्माण हेतु पारिश्रमिकी देने के लिए कुलीन एवं भू-स्वामी पर एक समान कर लगाये गये। 1776 ई. में जब उसने सरकारी व्यय में कमी, कई विशेषाधिकारों की समाप्ति, नमक-कर हटाने, किसानों को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने आदि के प्रस्ताव रखे तो समस्त विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग तुरगो का विरोधी हो गया। इस वर्ग ने रानी मारी आन्तवानेत के साथ मिल कर तुरगो को मन्त्री पद से हटाने के लिए लुई पर दबाव डाला। लुई सोहलवां अपनी रानी के सम्मुख झुक गया और 20 माह के कार्यकाल में तुरगो को त्याग पत्र देना पड़ा। तुरगो की नीति का जनसाधारण वर्ग द्वारा स्वागत किया गया था। वाल्तेयर ने उसकी नीति पर टिप्पणी करते हुये लिखा है कि "तुरगो के साथ मैंने स्वर्ण-युग के उत्थान और पतन का साक्षात्कार किया था।" तुरगो के त्याग पत्र के विरुद्ध फ्रांस में प्रतिक्रिया भी हुई। इसी क्रम में वाल्तेयर ने लुई को परामर्श पूर्ण चेतावनी दी थी कि "श्रीमान जी यह न भूलिए कि चार्ल्स प्रथम (इंगलैण्ड के शासक) की निर्बलता के कारण ही उसे अपने सिर से हाथ धोना पड़ा था।"

तुरगो के पश्चात नेकर को वित्त विभाग प्रदान किया गया। वह अदूरदर्शी एवं पेशे से बैंकर था। नेकर ने भी फ्रांस की आर्थिक स्थिति सुधारने का पूर्ण प्रयास किया किन्तु सामाजिक प्रश्नों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसके दुर्भाग्य से अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में फ्रांस भी सहातार्थ कूद पड़ा। यद्यपि नेकर ने लुई को परामर्श दिया था कि फ्रांस को इस संग्राम में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेना चाहिये क्योंकि इससे फ्रांस का आर्थिक भार अधिक बढ़ जायगा। किन्तु लुई ने नेकर की सलाह को नहीं माना और सरकार ने लोगों से कर्ज लेकर अमेरिकी उपनिवेशों की सहायता की। नेकर ने भी सरकारी व्यय को कम करने का प्रस्ताव रखा। उसने राज्य की आय-व्यय की सांख्यिकी (कान्त शंदू) रिपोर्ट सहित प्रकाशित की। नेकर ने इस रिपोट में दरबारियों की पेंशनों और भत्तों का हवाला देते हुए टिप्पणी की थी कि इन भत्तों के बदले में उनकी सेवा नगण्य है। नेकर की इस कार्यवाही से दरबारी और कुलीन लोग इसके शत्रु हो गये क्योंकि इससे दरबारियों की अकर्मण्यता स्पष्ट हो गई। वहां किसी भी मन्त्री द्वारा सरकारी बजट जनता के सम्मुख प्रकट नहीं किया गया था और नेकर ने यह दुस्साहसिक कार्य किया था। अतः कुलीनों तथा दरबारियों ने रानी के साथ मिल कर नेकर को भी पद से हटवा दिया।

कुलीन वर्ग की इच्छा से नेकर का उत्तराधिकारी केलोन को बनाया गया। केलोन की नियुक्ति (1783 ई.) के समय फ्रांस के बजट में लगभग 16 करोड़ 20 लाख फ्रेंक का घाटा था। केलोन ने इसकी पूर्ति के लिए ब्याज की दर बढ़ा

कर जनता से और कर्ज लिया। किन्तु जनता जान गई थी कि ब्याज का यह आकर्षण उन्हें भी डूबो देगा। इसलिए जनता ने कर्ज की मांग की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। 1786 ई. में सरकारी कोष बिल्कुल खाली हो गया। अतः केलोन ने लुई को परामर्श दिया कि तीनों वर्गों के लोगों पर एक नया कर लगाया जाये जिसकी राशि सभी वर्गों पर समान हो। इसके फलस्वरूप विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग केलोन के भी विरोधी हो गए। केलोन ने भी शासक को त्याग पत्र (1787 ई.) दे दिया।

केलोन के पश्चात् ब्रीने को अर्थमन्त्री नियुक्त किया गया। ब्रीने पर रानी मारी आन्तवात की विशेष कृपा थी। उसके प्रयत्नों से फ्रांस की आर्थिक दशा नहीं सुधरी तो उसने शासक को नवीन कर लगाने का परामर्श दिया। लुई ने इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी। किन्तु पेरिस की पार्लमा ने नवीन कर लगाने का विरोध करते हुए लुई से कहा कि कर लगाने का अधिकार कर अदा करने वालों को है। अतः इसके लिए स्टेटस जनरल की बैठक आवश्यक है। लुई ने पार्लमा को डराने की दृष्टि से उसे भंग कर दिया। इसके सदस्यों को बन्दी बनाने से इन्कार कर दिया। लुई ने विवश होकर पार्लमा से करों के लिए सिफारिश की पर प्रान्त की विभिन्न पार्लमांओं ने भी पेरिस की पार्लमा का समर्थन करते हुए लुइ से स्टेटस जनरल के अधिवेशन की प्रार्थना की। लुई ने इसे अस्वीकार करते हुए नेकर को पुनः अर्थ मन्त्री नियुक्त (1788 ई.) किया। परन्तु पानी अब सिर से उपर हो चुका था। नेकर भी समस्या को हल करने में असमर्थ हो रहा था। अन्ततः लुई सोलहवें को जनता के सम्मुख झुकना पड़ा। उसने 8 अगस्त 1788 ई. को घोषणा कर दी कि अगले वर्ष मई माह में स्टेट्स जनरल एताजेनेरो) का अधिवेशन बुलाया जायगा। लुई की यह घोषणा फ्रांस की क्रान्ति का अगला चरण थी। यद्यपि इसमें सुविधायुक्त कुलीन वर्ग ने अपनी सुविधाओं की रक्षार्थ स्टेट्स जनरल के अधिवेशन की मांग रखी थी। क्योंकि वह जानते थे कि स्टेट्स जनरल में पादरी और कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक है और तीसरे वर्ग पर हम अपने अधिकार थोपते हुए अपनी सुविधाओं को सुरक्षित रख सकेगें। इसीलिए कहा जाता है कि 1788 ई. तक क्रान्ति की भूमिका में तीसरे वर्ग का अस्तित्व नहीं था। किन्तु यह सत्य नहीं है मध्यम वर्ग का बुद्धिवादी वर्ग जहां कुलीनों की कुटिलता को भली प्रकार समझ रहा था वहां अपनी योजना को स्टेट्ट जनरल द्वारा सार्थक करने के लिए कुलिनों की इस मांग का समर्थन कर रहा था कि "बगैर एताजेनेरो के कर नहीं।" सामन्तों के प्रति तीसरे वर्ग की घृणा मार्च या अप्रेल 1788 ई. में उबल पड़ती है जबकि फ्रांस में एक ओर लोग भूख से मर रहे थे और सामन्त संगीत सम्मेलन में आनन्द ले रहे थे। जब सामन्त सम्मेलन से लौट रहे थे तब एक भीड़ सामन्तों को घेर कर

उनका अपमान करती है। इस भीड़ में से कुछ सामन्तों की गाड़ियों में चढ़ कर उनसे कहते हैं कि—"याद रखो अगले वर्ष हम गाड़ियों में सवार होंगे और तुम पैदल चलोगे।" इस घटना से भी सिद्ध होता है कि आम जनता में कोई न कोई क्रान्तिकारी योजना जन्म ले रही थी। इस आम जनता का नेतृत्व मध्यम वर्ग के हाथ में था। इसीलिए हम कह सकते हैं कि क्रान्ति मूलतः मध्यम वर्ग की क्रान्ति थी।

स्टेट्स जनरल का दीक्षान्त समारोह : क्रान्ति का प्रारम्भ

एतांजेनेरो फ्रांस की एक प्राचीन संस्था थी। 1320 ई. में सम्राट फिलिप द-फेयर ने इसका प्रथम अधिवेशन बुलाया था। किन्तु 1614 ई. के पश्चात् क्रान्ति के पूर्व तक इसका कोई अधिवेशन नहीं हुआ था। इस संस्था का कार्य शासक को परामर्श देना था। इस संस्था में पादरी, कुलीन एवं जनसाधारण प्रतिनिधि, के वर्गों के हिसाब से अलग-अलग बैठते थे और व्यक्ति के स्थान पर वर्गगत मत देते थे। एक वर्ग का एक मत माना जाता था। इस प्रकार प्रथम दो वर्ग के दो मत एक ओर होने से तृतीय वर्ग का मत निरर्थक रहता था। एतांजेनेरो के अधिवेशन की परम्परा के अनुसार प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से प्रतिनिधि अपना अपना मांग पत्र 'काइये' या शिकायत पत्र तैयार कर शासक को प्रस्तुत करते थे। शासक इनके द्वारा सुधार या जन-कल्याणार्थ कार्यवाही करता था।

लुई ने स्टेट्स जनरल (एतांजेनेरो) को बुलाने की घोषणा तो कर दी किन्तु उस समय फ्रांस में ऐसा कोई जीवित व्यक्ति नहीं था जो इस संस्था के गठन, चुनाव तथा मताधिकार आदि के बारे में जानकारी रखता हो। इसके लिए एक आयोग गठित किया गया जिसने जांच एवं अध्ययन के पश्चात सरकार को इसके गठन की रिपोर्ट दी। अर्थ-मंत्री नेकर देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए यह चाहता था कि पादरी और कुलीन वर्ग कर देना स्वीकार कर ले। अतः उसने लुई को परामर्श दिया कि तृतीय वर्ग के सदस्यों की संख्या दुगनी कर दी जाय और तीनों वर्गों की बैठक एक साथ हो। इससे नेकर दो उच्च वर्ग को भयभीत कर देश के लिए लाभ लेना चाहता था। लुई ने नेकर की प्रथम बात पर स्वीकृति प्रदान कर दी और दूसरी बात भविष्य के लिए छोड़ दी। यही विषय लुई के लिए घातक हुआ। लुई ने मतदाताओं से कहा कि वे जो भी सुधार चाहते हैं या उन्हें जो शिकायतें हैं उसका प्रार्थना पत्र वह अपने-अपने क्षेत्र के निर्वाचित प्रतिनिधि द्वारा भेज दें। 1 जनवरी 1789 ई. की लुई द्वारा उक्त घोषणा का अर्थ फ्रांस की की जनता ने अलग-अलग रूप से लगाया। जनता की दृष्टि में सम्राट उन्हें अधिकार प्रदान करने वाला है अतः वे व्यवस्था को अपने अनुसार परिवर्तित कर सकेंगे। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। 24 जनवरी 1789 ई. के आम चुनाव में तृतीय वर्ग

के दुगुने प्रतिनिधि-समान कर, स्वतन्त्र प्रेस, एक संविधान, बजट में बहस का अधिकार आदि के नारों पर, चुनाव लड़ें। मीराबों अपने भाषण में कहता था— "मैं पागल कुत्ता हूं मुझे चुनों। मैं स्टेट्स जनरल में जाकर निरकुशता को काट खाऊंगा और वह मर जायेगी।" इस प्रकार अपने-अपने विचारों को जनता के सम्मुख रख कर चुनाव के पश्चात प्रतिनिधि अप्रेल में वर्साय पहुंचे। निर्वाचित स्टेट्स जनरल के तीनों वर्गों के 1214 सदस्यों में 285 कुलीन, 308 पादरी तथा 621 तृतीय वर्ग के थे। वैकल्पिक सदस्यों को जोड़ कर अधिवेशन में भाग लेने वालों की संख्या 1600 से अधिक हो गई थी। लुई और उसका वित्त मंत्री प्रतिनिधियों की इतनी भीड़ देख कर घबरा गये। 1 मई को लुई ने सभी आये प्रतिनिधियों का अभिवादन स्वीकार किया और कुछ भी नहीं बोला। 4 मई को पेरिस में प्रतिनिधियों का जुलुस निकाला। इसमें राजा-रानी, पादरी, दरबारी, अमीर, जनसाधारण सभी थे। रानी इसमें करोड़ों के आभूषण पहने सम्मिलित थी। प्रतिनिधियों (तृतीय वर्ग के) ने इस पर शेम-शेम (शर्म-शर्म) के नारे भी लगाये। 5 मई को स्टेट्स जनरल के अधिवेशन का उदघाटन हुआ। सम्राट ने अपने उद्‌घाटन भाषण में आर्थिक अवस्था एवं अशान्ति की चर्चा करते हुए प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तुत साठ हजार के लगभग 'काइये' पर सावधानी पूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया। नेकर ने भी अपने तीन घण्टे के भाषण में केवल अर्थ व्यवस्था का विवरण ही प्रस्तुत किया। जब जनसाधारण वर्ग की किसी भी कल्पना पर वहां विचार प्रस्तुत नहीं हुआ तो उनमें असंतोष अधिक भड़क उठा। जब राजाज्ञा द्वारा तीनों सदनों को थक-पृथक बैठक द्वारा कार्य करने के लिए कहा गया तो एक गम्भीर विवाद उठ गया कि प्रत्येक सदन का वोट माना जाय अथवा सदस्यों के व्यक्तिगत मत को माना जाय। पादरी एवं कुलीन वर्ग प्राचीन परम्परा के अनुसार 'वर्ग के मत पर अड़े हुए थे जबकि तृतीय वर्ग के लोग विशेषाधिकार तोड़ कर 'प्रत्येक सदस्य के मत पर अड़े हुए थे। ऐसे विवाद की स्थिति में स्टेट्स जनरल कोई काम नहीं कर सकती थी। सरकार द्वारा इस विवाद के प्रति मौन धारण समझौते के अवसर को खो जाने दिया गया। इसका एक कारण यह भी था कि इसी समय में सम्राट लुई का प्रिय कुत्ता मर गया था और सम्राट उस शोक में कहीं भी बाहर नहीं निकल रहा था। यह विवाद जून तक चलता रहा किन्तु सम्राट चुपचाप वर्साय में बन्द रहा। अन्ततः तृतीय वर्ग के प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से यह निर्णय कर लिया कि वे पादरी और कुलीनों के साथ बैठ कर ही अधिवेशन करेंगे। सदन वर्ग के अनुसार अलग-अलग नहीं होकर एक ही होगा तथा इसमें प्रत्येक सदस्य को वोट देने का अधिकार होगा। 28 मई को पेरिस के प्रतिनिधि बेली और आबे साइस स्टेट्स जनरल में सम्मिलित हुए। आबे साइस के परामर्श पर 13 जून को दो वर्ग के प्रतिनिधियों को अन्तिम बार आमंत्रण भेजा गया। इस समय तक कुछ उदार विचारों के

पादरी जो निम्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते थे, जनसाधारण वर्ग के साथ सम्मिलित हो गए। इस प्रकार 17 जून 1889 ई को तीसरे सदन (तृतीय वर्ग के प्रतिनिधित्व वाले) ने अपने को राष्ट्रीय महासभा "ग्रांसाब्ले नास्योनाल" घोषित कर दिया।

राष्ट्रीय महासभा (1789-1791 ई.)

17 जून 1789 ई. को पादरियों के सदन ने लम्बे वाद-विवाद के बाद तृतीय सदन के लोगों से मिलने और सदन के साथ बैठने का निश्चय किया। इससे सर्वसाधारण वर्ग के प्रतिनिधियों का उत्साह अधिक बढ़ गया। कुलीन एवं उच्च पादरी वर्ग ने जब स्थिति को बिगड़ते देखा तो लुई पर स्टेट्स जनरल को भंग करने का दबाव डालना प्रारम्भ किया। इसीलिए तृतीय सदन के सदस्य तथा पादरी सदन के निम्न श्रेणी के सदस्य सम्मिलित रूप में 20 जून को सभा भवन में बैठने गये तो उन्हें वहां ताला लगा मिला। सदस्यों से कहा गया कि एक विशेष समारोह के आयोजन के लिए सभा भवन को मरम्मत कराया जायेगा। सदस्य सम्राट की इस कार्यवाही पर वर्षा में भीगते हुए आश्चर्य में पड़ गए परन्तु उन्हें कहीं न कहीं अपना अधिवेशन तो करना ही था। मीराबो एवं आबे साइस के सुझाव पर सभी प्रतिनिधि सभा भवन के पास ही बने "टेनिस कोर्ट" नामक रिक्त भवन में अधिवेशन के लिए चले गए। इस भवन में बेली की अध्यक्षता में शपथ ली गई कि "हम फ्रांस को एक संविधान देने के पूर्व विसर्जित नहीं होंगे। यह शपथ इतिहास में "टेनीस कोर्ट की शपथ" कहलाती है।

इस शपथ द्वारा जहां राजा के दैवी अधिकारों को चुनौति दी गई थी वहां रूसो द्वारा बतलाए गए मार्ग—"जनता की सार्वभौम इच्छा ही शासन का मूल आधार है"—चरितार्थ हो रहा था। टेनिस कोर्ट की घटना ने फ्रांस की क्रान्ति का संचालन एवं नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग या मध्यय वर्ग के हाथों में सौप दिया।

बैस्तील या बस्तीय का पतन

तृतीय सदन की कार्यवाहियों से सम्राट लुई अत्यन्त दुःखी हो गया। उसने 23 जून को पुनः तीनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई। इस बैठक में सम्राट ने तृतीय सदन की कार्यवाहियों को अवैध घोषित करते हुए तीनों सदनों को पृथक-पृथक बैठने के आदेश दिये। प्रथम और द्वितीय सदन के कई प्रतिनिधि विजय की मुस्कान लिए सम्राट के साथ-साथ सभा से उठ कर चले गए। किन्तु सर्व साधारण वर्ग और उनके समर्थक अन्य वर्ग के लोग वहीं बैठे रहे। कुछ देर पश्चात राजकीय उत्सवों के अध्यक्ष ब्रेजे ने सभा भवन में आकर सदस्यों को सम्बोधित किया कि—"आप सम्राट की आज्ञा से भवन खाली कर दें।" इसका प्रत्युत्तर मीराबो ने दहाड़ते हुए दिया कि—"जाओ और स्वामी से कह दो कि हम यहां

जनता की इच्छा से आये हैं और अब हमें संगीनों की नोंक के अतिरिक्त यहां से कोई नहीं हटा सकता है।" जब सम्राट को इसकी सूचना दी गई तो लुई ने विवशतापूर्वक कहा—"मैं थक गया हूं। अच्छा: वे सचमुच यहां रहना चाहते हैं तो उन्हें रहने दो।" सम्राट के साथ चले गए पादरियों और कुलीनों में से कई 25 जून को एक राष्ट्रीय महासभा में लौट आये। अन्त में थक हार सम्राट ने 27 जून को तीनों सदनों के संयुक्त बैठक की स्वीकृति दे दी। इस प्रकार राष्ट्रीय असेम्बली या महासभा को गठन की सम्राट ने वैधानिक पुष्टि कर दी थी। यह कार्यवाही जहां सम्राट की हार का प्रथम उदाहरण थी वहां जन विजय की महान प्रतीक थी। इस सभा ने अब अपने को "संविधान सभा" घोषित करते हुए संविधान बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। संविधान के प्रारूप को बनाने के लिए एक संविधान समिति नियुक्त की गई।

संविधान सभा की इस कार्यवाही के अनन्तर कुलीनों और रानी मारी आन्तवानेत ने सम्राट पर सभा को कुचलने का दबाव डाला। अतः विदेशों से किराये के सैनिक बुलवा कर पेरिस और वर्साय में तैनात किये गए। 11 जुलाई को सम्राट ने उदारवादी वित्त मंत्री नेकर को पद से हटा दिया। इन कार्यवाहियों से जनता में रोष पहले ही व्याप्त था और 12 जुलाई को एक युवक वकील तथा प्रभावशाली पत्रकार कैमाइल देसमोला या कैमली दि मौला ने उत्तेजक भाषणों से पेरिस में आग फैला दी। परिणामतः 14 जुलाई की प्रातः पेरिस की सड़कें हथियार लेकर घुमती हुई जनता से भरी पड़ी थी। वे लोग, जिनमें अधिसंख्यक बेरोजगार थे, पेरिस की दुकानों को लूटते हुए बैस्तील (बस्तीय) दुर्ग की ओर बढ़े। क्रोधी भीड़ ने कुछ घण्टों की लड़ाई के पश्चात उस पर अधिकार कर लिया इस लड़ाई में कई नागरिक, दुर्ग का अध्यक्ष तथा स्विस रक्षक मारे गए और दुर्ग में कैद कैदियों को मुक्त कर दिया गया। इतिहासकार फिशर लिखता है कि—"दुर्ग में महत्वपूर्ण कैदी कुछ ही थे किन्तु वह बूर्बों वंश की निरंकुशता का प्रतिक था। इसीलिए इसके पतन का यूरोप में स्वागत किया गया। इस कार्यवाही को स्वतन्त्रता का नूतन प्रभात समझा गया।" सम्राट यदि चाहता तो भीड़ पर प्रहार कर सकता था किन्तु उसकी भीरुता और शान्त प्रवृत्ति ने कोई भी कदम नहीं उठाया। उसने केवल इतना कहा—यह तो विद्रोह है किन्तु एक दरबारी ने प्रत्युत्तर दिया—श्रीमान, यह क्रान्ति है। फ्रांस के इतिहास में 'बेस्तील का पतन' महत्वपूर्ण है। आज भी 14 जुलाई को फ्रांस स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाता है।

पेरिस कम्यून की स्थापना

बैस्तील के पतन के पश्चात पेरिस नगर के नेताओं ने सरकारी सैनिकों के भय और लुटेरों से पेरिस को सुरक्षित रखने के लिए पेरिस कम्यून (नगर परिषद) की स्थापना कर नगर का शासन स्टेट्स जनरल के पेरिस प्रतिनिधियों को सौप दिया।

इस प्रकार फ्रांस में पहली स्वायत्त संस्था की स्थापना हुई। पेरिस की रक्षा के लिए लेफायत के नेतृत्व में स्वयं-सेवकों की भर्ती कर इस संगठन को "नेशनल गार्ड" का नाम दिया गया। फ्रांस के राजवंश के सफेद ध्वज के स्थान पर लाल, सफेद तथा नीले रंग का तिरगा ध्वज 'राष्ट्रीय ध्वज' के रूप में स्वीकार किया गया लाल और नीला रंग पेरिस नगर के ध्वज से लिया गया था। 17 जुलाई को सम्राट लुई स्वयं पेरिस आया।। उसने भी अपने मुकुट में इन्हीं तीन रंगों के पंख लगा रख थे। सम्राट का अभिनन्दन करते हुए पेरिस के मेयर, वली ने कहा—"1589 ई, में एक दिन हेंनरी चतुर्थ ने पेरिस की जनता को जीता था पर आज पेरिस की जनता ने राजा को जीत लिया है।" यह कथन तत्कालीन सम्राट और प्रजा के सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले थे। लुई ने पेरिस कम्यून की व्यवस्था को मान्यता प्रदान कर क्रान्तिकारियों के जोश में अत्यधिक वृद्धि कर दी थी।

लुई का पेरिस स्थानान्तरण

शासक द्वारा राष्ट्रीय सभा एवं पेरिस कम्यून को मान्यता दिये जाने के पश्चात् भी जनता शान्त नहीं बैठी। इस वातावरण में किसान लोग जागीरदारों के घर जला रहे थे, बेकार लोग लूट-पाट कर रहे थे और कई लोग अकाल से त्रस्त मौत के ग्रास बन रहे थे। इस काल में शासन व्यवस्था बिल्कुल चौपट थी। कुलीन लोग क्रान्ति से घबरा कर विदेशों में भाग रहे थे। इन भगोड़ों में राजा का भाई आर्तोई भी था। कई उदारवादी सामन्तों और पादरियों ने स्वेच्छा से विशेषाधिकार त्याग कर सामन्त प्रथा को अवैधता पर अपनी छाप लगा दी। किन्तु इसी समय में यह अफवाह जोर पकड़ने लगी कि लुई क्रान्ति के दमन के लिए वर्साय में सेना एकत्रित कर रहा है। फ्रांस अकाल की चपेट में भूखों मर रहा है और वर्साय के प्रासाद में भोजों और भोग-विलास का दौर चल रहा है। क्रुद्ध जनता में शासक के इस कार्य की भर्त्सना की तथा 5 अक्टूबर 1784 ई. को पेरिस की भूखी महिलाओं का एक जुलूस वर्साय के महलों की ओर बढ़ा। इस जुलूस में कई पुरुष स्त्री के वेश में सम्मिलित हुए। इन औरतों के पीछे नेशनल गार्ड और पेरिस की भीड़ चल रही थी। वर्साय-प्रासाद को घेरकर भीड़ रात भर लुई को पेरिस ले जाने के लिए नारे लगाती रही। 6 अक्तूबर को राज-परिवार ने मांग स्वीकार कर पेरिस की ओर कूच किया। राज परिवार के साथ भीड़ थी। स्त्रियां राजा और रानी को घेरे हुए चल रही थी। वे नारे लगा रही थी कि "हम नानवाई (रोटी वाला) को, नानवाई की पत्नी, और नानवाई के पुत्र को वापिस लिये जा रहे हैं।" लुई के पेरिस आने के बाद 16 अक्तूबर को नेशनल असेम्बली को भी पेरिस स्थानान्तरित कर दिया गया। नेशनल असेम्बली में 80% सदस्य ग्रामीण क्षेत्रों से आये थे। किन्तु अब असेम्बली के पेरिस में आ जाने से उस पर

शहरी तत्वों का वर्चस्व स्थापित हो गया। इसके फलस्वरूप क्रान्ति के प्रवर्तकों के विचारों में परिवर्तन आने स्वाभाविक थे। अब क्रान्ति का रूप अधिक उग्र होने लगा।

राष्ट्रीय महासभा के कार्य—राष्ट्रीय महासभा ने दो वर्ष तक कठोर परिश्रम करने के पश्चात्, दो वर्गों के विशेषाधिकार को समाप्त करने, जनता को राहत दिलाने, मानव-अधिकार स्थापित करने, संविधान बनाने तथा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए अनेक कार्य किए। इन कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

(1) विशेषाधिकारों का अन्त—बैस्तील के पतन से उत्पन्न हिंसक स्थिति से निबटने के लिए 4 अगस्त 1798 ई. को राष्ट्रीय महासभा में उत्पातियों को दण्ड देने तथा निजी सम्पत्ति की रक्षार्थ एक प्रस्ताव रखा गया। किन्तु यह आश्चर्य था कि विस्कान्ट नुआँइल नामक सामन्त ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि "सामन्तो और बड़े लोगों की सम्पति ही समाज के दोषों का कारण है। सामन्त-व्यवस्था, असमान करों के बोझ तथा विशेषाधिकारों की समाप्ति के बगैर कोई भी सुधार असम्भव है।" एक अन्य सामन्त डयूक द एगिओं ने कुछ सामन्तों के साथ नुआँइल के विरोध का समर्थन किया। इस प्रस्ताव के पारित होते ही कुलीनों, सामन्तों, और पादरियों में अधिकार त्यागने की होड़ लग गई। 4 अगस्त को सभा की कार्यवाही रात भर चलती रही। प्रातः 8 बजे तक सभा ने तीस अध्यादेश पारित कर दिये। हेजन लिखता है कि "इन अध्यादेशों के पारित हो जाने से फ्रांस में एक ऐसी असाधारण क्रान्ति सम्पादित हो गई जैसी कि कभी किसी राष्ट्र के जीवन में नहीं हुई थी।"

(2) मानव अधिकारों की घोषणा:—27 अगस्त 1789 ई. को राष्ट्रीय असेम्बली ने रुसों के दार्शनिक सिद्धान्तों, ब्रिटेन तथा अमेरिका के वैधानिक कानून पर आधारित "स्वतन्त्रता और समानता" को मौलिक अधिकार के रुप में घोषित किया। मानव और नागरिकों के अधिकारों में सम्पत्ति, दमन का विरोध और सुरक्षा के अधिकार सम्मिलित किये गये। लेखन, भाषण, प्रकाशन तथा धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। योग्यता के आधार पर नियुक्तियां, अवसर की समानता गैर कानूनी ढंग से गिरफ्तारी को अवैध नया संकट काल में राष्ट्रीय सहायता का कर्तव्य किया गया। इस प्रकार फ्रांस के लिए इस घोषणा का वही महत्व था जो कि इंग्लैंड के लिए मैग्नाकार्टा और बिल ऑफ राइट्स का था। यद्यपि सभी अधिकारो की व्यवहारिकता असम्भव थी। जैसे कैथोलिकों के समान यहूदियों को समान अधिकार देना सम्भव नहीं था, नागरिकों की दो श्रेणियां—सक्रिय और निष्क्रिय फिर भी विद्यमान रही। तीन दिन की मजदूरी के बराबर कर देने वाला सक्रिय

नागरिक ही मतदाता माना गया जबकि 30./- कर नहीं प्रदान करने वाले निर्धन नागरिक इस राजनैतिक अधिकार से वंचित रहें। चर्च की सम्पत्ति पर बलात अधिकार करने से निजि सम्पत्ति का हनन हुआ था। इतना होते हुए भी मानव अधिकारों की घोषणा फ्रांस के जन जीवन के लिए अन्धेरे में प्रकाश सिद्ध हुई। ग्रान्ट टेम्परेले के कथानों में "यह घोषणा क्रान्ति के उज्वल रुप का परिचायक है; इसके बिना यह यूरोपयी इतिहास की इतनी बड़ी घटना नहीं होती।"

(3) **चर्च सम्बन्धी सुधार:**—फ्रांस में चर्च एक स्वतन्त्रता संस्था थी। इसने इस स्वतन्त्र स्वरुप के कारण अपार सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। चर्च की सम्पत्ति पदारियों की निजी सम्पति नहीं होकर, उन्हें इसके उपयोग का ही अधिकार था। किन्तु इस सम्पत्ति का उपयोग करते करते पादरी लोग इसके स्वामी बन बैठे थे। अतः इसका राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक था। अतः राष्ट्रीय महा सभा ने पदारियों को विधान के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें भी सामान्य नागरिक ही माना। चर्च की भूमि और सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित करते हुए चर्च के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के लिए राज्य की ओर से वेतन देने का नियम बनाया गया। फ्रांस के विशपों की संख्या 134 से घटाकर 83 कर दी गई। पोप द्वारा इनकी नियुक्ति के अधिकार समाप्त कर शासन द्वारा नियुक्ति के नियम बनाये गये। पोप को इस नियम द्वारा केवल इन नियुक्तियों की मान्यता प्रदान करने का अधिकार ही दिया गया। सभा ने यह भी प्रस्ताव पारित किया कि चर्च के अधिकारियों को नये संविधान का समर्थन करने की शपथ लेनी होगी। विशप्रों ने इसका विरोध किया। इससे फ्रांस में एक धार्मिक झगड़ उत्पन्न हो गया पादरी वर्ग ने सर्वप्रथम तृतीय वर्ग का साथ दिया था किन्तु अब यह वर्ग क्रान्ति का विरोधी बनने लगा। यहां तक कि पोप पायस छठा अभी तक शांत था पर राष्ट्रीय महासभा की इस कार्यवाही से क्रान्ति की आलोचना करने लगा। लुई सोलहवें ने अत्यधिक आत्म ग्लानि के साथ इन अधिनियमों पर हस्ताक्षर किये।

(4) **आर्थिक सुधारों के प्रयत्न :** क्रान्ति के पूर्व ही फ्रांस की आर्थिक स्थिति का इतना पतन हो चुका था कि नेकर जैसा उदार मंत्री भी इसे सुधारने में असमर्थ रहा। क्रान्ति के समय अकाल, लूट पाट एवं करों की अदायगी में अव्यवस्था के कारण फ्रांस की आर्थिक स्थिति अत्यधिक बिगड़ गई। चर्च की सम्पत्ति के अधिग्रहण से देश पर धर्माधिकारी और कर्मचारी के वेतन का भार और बढ़ गया। सरकार को इस दशा में कर्ज मिलना असम्भव था। फिर भी राष्ट्रीय महा सभा ने फ्रांस मे आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्न प्रारम्भ करते हुए 'आसियाँ' नामक कागजी मुद्रा का प्रचलन किया। किन्तु इस मुद्रा के प्रचलन से मुद्रा स्फीति के कारण आसियाँ के मूल्यों में गिरावट आने लगी और वस्तुओं के

मूल्य बढ़ने लगे। आर्थिक कठिनाईयों को दूर करके सारे देश में समान चुंगी, नाप-तोल आदि की व्यवस्था की गई। उद्योग के क्षेत्र में श्रेणी प्रथा (गिल्ड) का अन्त कर दिया गया। कृषि के क्षेत्र में सामंत प्रथा का अन्त कर कृषि उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कर राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए प्रयास तो हुए पर आर्थिक क्षेत्र में समस्याओं का कोई स्थायी समाधान उत्पन्न नहीं किया जा सका।

(5) प्रशासनिक पुनर्गठनः—राष्ट्रीय महासभा ने प्रशासन में एक रूपता स्थापित करने और समानता लाने के लिए फ्रांस को 83 प्रान्तों या **डीपार्टमेन्ट** में बाँट कर, इनके प्रबन्ध हेतु प्रान्तीय कौंसिल का गठन किया। प्रत्येक प्रान्त 8 या 9 जिलों या **केन्टोन** तथा प्रत्येक जिला कम्यूनो में विभाजित किया गया। इस प्रकार फ्रांस में 374 जिले तथा 44000 कम्यून बनाये गए। प्रत्येक प्रान्त में वहाँ की निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा का गठन निश्चित किया गया। प्रशासन के साथ चर्च का प्रान्तीय संगठन स्थापित किया गया। मेडलिन के अनुसार प्रत्येक कम्यून अपने न्यायाधीशों, कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका, अपने मेयर तथा नगर परिषद, अपनी सामान्य कौंसिल आदि का निर्वाचन करता था।' इस प्रकार प्रथम बार फ्रांस की प्रशासनिक व्यवस्था, धर्म एवं न्याय के क्षेत्र में जनता से मत को महत्व प्रदान कर स्वायत्त-शासन को जन्म दिया गया। आज भी फ्रांस में देपारतमां अर्थात डीपार्टमेन्ट ही शासन की इकाई के रूप में विद्यमान है।

6 नया संविधान—फ्रांस के प्रथम क्रान्तियुक्त संविधान का निर्माण सितम्बर 1791 ई. को पूर्ण हुआ था। लुई 16 वें के द्वारा इस पर हस्ताक्षर होने के पश्चात् इसी माह के अन्त तक राष्ट्रीय महासभा विसर्जित हो गई। 1 अक्टूबर 1791 ई. को नये संविधान को नयी व्यवस्था द्वारा औपचारिक रूप से पारित किया गया। इस संविधान की प्रकृति के निर्धारण में मीराबो का सर्वाधिक हाथ था। यद्यपि अप्रेल 1791 ई. में उसकी मृत्यु हो गई थी फिर भी इस समय तक विधान का अधिकांश हिस्सा बन चुका था। मीराबो के सहयोगी सीमित राजतन्त्र को विधान में स्थान दिलवाने के कारण नरम दल के कहलाते थे जबकि पेरिस के उग्रवादी राजतन्त्र के पूर्णतः विरोधी थे। इस प्रकार फ्रांस के विधान निर्माण में मध्यम वर्ग का ही बोलबाला रहा था किन्तु इसमें भी नरम दल ने जन-इच्छा की सार्वभौमिकता को स्वीकार करते हुए भी जन प्रतिनिधियों को अन्तिम अधिकार नहीं दिये अपितु राजा के अधिकार को सर्वोपरी रखा। राजा व्यवस्थापिका के द्वारा पारित किसी भी कानून को दो वर्ष तक लागू होने से रोक सकता था। बाह्य नीति का संचालन राजदूतों की नियुक्ति और विदेशी राजदूतों का स्वागत के कार्य राजा के पास रखे गए। युद्ध और सन्धि के अधिकार व्यवस्थापिका के पास रखें गए। राजा

के खर्च पर नियंत्रण कर उसका वेतन निश्चित् कर दिया गया। अब वह देश का राजा नहीं हो कर जनता का शासक कहा जाने लगा।

फ्रांस के विधान में उल्लेखित सीमित राजतन्त्र के अतिरिक्त जन इच्छा की सार्वभौमिकता का समर्थन एवं शक्ति विभाजन के सिद्धान्त की कार्यान्विति विशेषताएं मुख्य थी। शक्ति विभाजन का सिद्धान्त मोन्तेस्क्यू के आदर्श पर सम्मिलित किया गया। इसके फलस्वरूप फ्रांस के प्रशासन में इसका स्वरूप दिखलाई भी देने लगा। किन्तु जन इच्छा की सार्वभौमिकता की कार्यान्वित करने में कई कठिनाईयाँ आई। क्योंकि संविधान में उल्लेखित 'समानता' की भावना केवल सैद्धान्तिक थी जबकि मताधिकार से 30% लोगों को (जो कि कर नहीं देते थे) को वंचित रखा गया था।

संविधान में व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या 745 निश्चित की गई। इन निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष का रखा गया। नई व्यवस्थापिका एक सदनीय रखी गई। राष्ट्रीय महासभा ने अपने को भंग करते समय अपने सदस्यों पर बन्धन लगा दिया कि वे नई विधान सभा के सदस्य नहीं हो सकेगें। इस आदर्शवादी भावना के परिणाम स्वरूप फ्रांस को बड़ी हानी उठानी पड़ी। अनुभवी एवं देश की क्रान्ति के संचालक पुनः निर्वाचित होने से वंचित हो गये। अतः नई विधान सभा में सर्वथा नये चेहरे आये जो उग्रवादी भावना अधिक रखते थे।

कार्यपालिका के क्षेत्र में राजा और मंत्री सर्वोच्च प्रशासक थे। राजा ही मुख्य सेनानायक था। सभी प्रमुख नियुक्तियाँ राजा द्वारा की जाने का विधान में प्रावधान रखा गया। मंत्रीमण्डल भी राजा द्वारा नियुक्ति और उसके प्रति उत्तरदायी लोगों का निश्चित किया गया। मन्त्रियो को नीति या प्रस्तावों पर सदन में बोलने की अनुमति दी गई। किन्तु वे सदन के सदस्य नहीं हो सकते और न ही वे वोट के अधिकारी माने गए। राजा को शासक बनते समय विधान के प्रति शपथ लेना अनिवार्य कर दिया गया। देश छोड़ने के दो माह तक नहीं लौटने पर राजा के लिए साधारण नागरिक की तरह मुकदमा चलाने की व्यवस्था की गई। इसीलिए कहा जाता है कि "14 जुलाई को फ्रांस के राजा ने अपना ताज खोया किन्तु संविधान बनने के पश्चात् उसने अपना व्यक्तित्व भी खो दिया।"

न्यायपालिका के क्षेत्र में पदों का क्रय-विक्रय समाप्त कर निर्वाचक लोगों द्वारा ही न्यायाधीशों का चुनाव किये जाने का विधान रखा गया। निर्वाचित न्यायाधीशों की अवधि दो से चार साल तक की रखी गई। फौजदारी अभियोगों की सुनवाई के लिए जूरी की व्यवस्था की गई। दण्ड की कठोरता में कमी कर दी गई। विशेष परिस्थितियों में ही मृत्यु दण्ड को स्वीकार किया गया। "लेत्र द काशे" (खाली वास्ट प्रणाली) प्रभावहीन कर दिए गये।

राष्ट्रीय महासभा का मूल्यांकन—यद्यपि यथा स्थान महासभा के गुण एवं दोषों का उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी सार-संक्षेप के लिए महासभा ने सामन्त प्रथा, विशेषाधिकार, एवं राजा की निरंकुशता सर्वथा समाप्त कर फ्रांस को लिखित संविधान, प्रशासनिक, और न्यायपालिका के क्षेत्र में सनियमनता, आर्थिक क्षेत्र में अनियंत्रित व स्वेच्छाचारी करों का अन्त कर राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय वृद्धि के सद्प्रयास किये। धर्म के क्षेत्र को राष्ट्र के अधीन कर उसकी स्वच्छन्दता को समाप्त करने तथा धार्मिक स्वतन्त्रता को स्थापित करने में महासभा का महत्व स्मरणीय है। किन्तु जहाँ सफलता हो वहां असफलता एवं दोष भी अवश्य विद्यमान रहते हैं फिर क्रान्ति जन्य व्यवस्थाओं के व्यवस्थापन में दोष रहना भी स्वभाविक है। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका प्रति उत्तरदायी न करना, राजा को स्थगन अधिकार प्रदान करना, सक्रिय नागरिकों को ही मताधिकार देना, स्त्रियों को मत से वंचित रखना, धार्मिक स्वतन्त्रता में यहूदियों को वंचित रखना आदि संविधान की मौलिक भावना "स्वतन्त्रता और समानता" के विरुद्ध था। जबकि महासभा ने इसी भावना को लेकर कार्य किया था। इतना होते हुए भी महासभा और उसके कार्य फ्रांस की क्रान्ति से उत्पन्न जन आशाओं के सीमित अथवा विस्तृत प्रतिफल अवश्य थे

नयी विधान सभा—नयी सभा का निर्वाचन और अधिवेशन होने के पूर्व फ्रांस में लुई ने एक ऐसा कार्य किया जिसके परिणामतः जनता में उसके प्रति शेष आदर भी कम हो गया। 20 जून 1791 ई. की रात को लुई अपनी रानी मारी आँन्तवानेत तथा राजकुमार के साथ भेष वदल कर पेरिस से भाग निकला। दूसरे दिन आधीरात को फ्रांस की सीमा के समीप स्थित 'वरेन' नामक गाँव में लोगों द्वारा वे पहचान लिये गए। उन्हें वरेन में बन्दी बना कर पुनः पेरिस लाया गया जहां उन पर कठोर पहरेदारी द्वारा नजरबन्द कर दिया गया। नये विधान पर उसके हस्ताक्षर कराने के पश्चात् जब प्रश्न उठा कि राजा का क्या किया जाय ? उग्रवादी राजा के पलायन के दण्ड को जनमत द्वारा निर्णय कराना चाहते थे किन्तु नरमदल ने उसे क्षमा कर वैधानिक ्जतन्त्र के लिए उसकी आवश्यकता बनाये रखना चाहते थे। ऐसे वातावरण में ही निर्वाचन हो कर नयी विधान सभा ने कार्य आरम्भ (1 अक्तुबर 1791 ई.) किया इस विधान सभा में तीन प्रकार की विचार धारा के सदस्य थे—तटस्थ, संविधान के पक्षधर तथा गणतन्त्रवादी। 745 में से 370 सदस्य तटस्थ थे जबकि "फेइयों" के नाम से पुकारे जाने वाले 250 सदस्य संविदान के पक्षपाती एवं 150 गणतन्त्रवादी थे। गणतन्त्रवादियों में पुनः दो दल थे—जिरोंद (जिरोदिलस) अथवा नरमदल एवं जेकोबिन (उग्रदल) जिरोंद के नेता ब्रिसो, दुयाखे, मादाम रोलां आदि जेकोबिन के दांतो, राब्सपियर आदि थे।

नयी व्यवस्था के अधिवेशन अधिक काल तक कार्य नहीं कर सका और इसका अन्त हो गया। व्यवस्थापिका के शीघ्र पतन के दो कारण थे—(1) लुई द्वारा वर्ष में कई बार सभा द्वारा पारित विधेयकों को स्थगित कर देना। इनमें फ्रांस से भागे हुए कुलीनों को जनवरी 1792 ई. तक स्वदेश नहीं लौटने पर मृत्यु दण्ड एवं पादरियों को देश निकाले से सम्बन्धित प्रस्ताव मुख्य थे। पादरियों के भड़काने पर फ्रांस के किसान नयी व्यवस्था के विरोध में हिंसा पर उतर आये थे अतः यह समस्या भी सबसे अधिक विकट थी। (2) कारण जिरोंद दल द्वारा युद्ध का समर्थन और जेकोबिन दल द्वारा युद्ध का विरोध था। जिरोंद दल मानता था कि लुई आंतरिक और विदेशी षडयन्त्रों का केन्द्र है। अतः जिरोंदी सोचते थे कि यदि युद्ध हुआ तो राजा को अपने हितैषियों अर्थात मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ना होगा। और इस प्रकार क्रांति का चरण अधिक दृढ़ होगा। आस्ट्रिया और प्रशा के शासकों ने 1792 ई. में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। शेक्सपियर इन संकट-पूर्ण परिस्थिति में युद्ध के लिए विरोध कर रहा था। उसका समर्थन जेकोबिन दल के सभी सदस्य कर रहे थे। किन्तु जिरोंदो ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थात युद्ध में राजा की दुर्बलता और अयोग्यता प्रकट होकर फ्रांस में गणतंत्र विचारों को ही बल मिलेगा, फ्रांस को युद्ध में उतार दिया। राजा के मित्र भी चाहते थे कि युद्ध हो, क्योंकि इसके द्वारा विदेशी सहायता से क्रांतिकारियों का दमन किया जा सकेगा। 20 अप्रेल 1792 ई. को फ्रांस ने भी युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध में फ्रांस की पराजय हुई। इस पराजय का उत्तरदायित्व सेनानायकों और राजवंश पर थोपा गया। फ्रांस की जनता राजा द्वारा व्यवस्थापिका के प्रस्तावों पर स्थगन आज्ञा से पहले ही क्रुद्ध थी फिर इस पराजय में राज परिवार का हाथ सुनकर 10 अगस्त 792 ई. को तुइलरी के महल पर टूट पड़ी। राजपरिवार ने भाग कर सभा भवन में शरण ली। 11 अगस्त को राजा को उसके पद से मुक्त कर अस्थायी रूप से कैद कर लिया गया। इस घटना से फ्रांस में राजवंश का अन्त हो गया किन्तु संवैधानिक गतिरोध पैदा हो गया, संविधान द्वारा स्थापित कार्यपालिका भी समाप्त हो गई अतः नई व्यवस्था के लिए कोई विकल्प नहीं देखकर लोग गणतंत्र की मांग करने लगे। गणतंत्र की स्थापना के लिए विधान परिवर्तन की आवश्यकता थी। इस परिवर्तन और विधान निर्माण का अधिकार नयी व्यवस्थापिका को नहीं था। इसीलिए 11 अगस्त को नयी विधान सभा ने 20 सितम्बर 1792 ई, तक नेशनल कन्वेन्शन अथवा राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव पारित करते हुए 21 वर्ष के सभी नागरिकों को मतदान अधिकार प्रदान किये। पेरिस की कम्यून को नेशनल कन्वेशन के गठन और व्यवस्था हेतु अधिकृत किया गया। नया प्रबन्ध होने तक इसी कम्यून ने फ्रांस पर शासन किया जिसका नेतृत्व दांतो के हाथ में था।

कम्यून के शासन ने राजा, रानी और उनके समर्थकों को जेलों में ठूंस दिया। प्रेस की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। सितम्बर महीने में कम्यून द्वारा भयंकर हत्याकाण्ड किया गया। उन सभी व्यक्तियों को मौत की सजा दी गई जिन पर शत्रुओं को सहायता करने का क्षणिक भी संदेह था। अनुमान है कि 2 से 6 सितम्बर के मध्य लगभग 1200 की हत्या की गई। ऐसी आंतकपूर्ण और अव्यवस्थित वातावरण में राष्ट्रीय सम्मेलन का निर्वाचन 20 सितम्बर 1792 ई. को पूर्ण हुआ।

राष्ट्रीय सम्मेलन (20 सितम्बर 1792-26 अक्टूबर 1795 ई.)

राष्ट्रीय सम्मेलन में जिरोंदित्स दल की सदस्य संख्या 200, जेकोबिन दल की 100 तथा 482 निर्दलीय सदस्य थे। इस प्रकार नेशनल कन्वेंशन (राष्ट्रीय-सम्मेलन) में सदस्यों की कुल संख्या 782 थी। 21 सितम्बर 1792 ई. को नेशनल कन्वेंशन का प्रथम अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर राजतन्त्र के स्थान पर फ्रांस के शासन को गणतन्त्र घोषित किया गया अन्य प्रस्ताव द्वारा राजा के उपर अभियोग चलाने, और फ्रांस से भागे हुए लोगों को आजीवन निर्वासन का निर्णय किया गया। इसके अतिरिक्त वैधानिक राजन्त्रवादी संविधान के स्थान पर गणतन्त्रवादी संविधान के निर्माण हेतु जिरोंदित्स एवं जेकोबिन दल में संघर्ष प्रारम्भ होने से यह प्रस्ताव कार्यान्वित्त नहीं हो पाया। यद्यपि इसके लिए समिति का गठन कर लिया गया था। दोनों के मध्य संघर्ष का कारण दोनों दलों के नेताओं में व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ लुई को मृत्यु-दण्ड बगैर अभियोग अथवा अभियोग चलाकर दिया जाय एवं पेरिस को भावी व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये अथवा विभिन्न प्रान्तों के अनुपात में उसे रखा जाय आदि थे। जेकोविन प्रथम विचारधारा एवं जिरोंदित्स दूसरी विचारधारा के पक्षपाती थे। अबहम क्रम में उन घटनाओं और परिस्थितियों की विवेचना करेगें जो नेशनल कन्वेंशन के कार्यकाल के अनन्तर हुई थीं :

(1) **लुई का वध :**—लुई पर नाटकीय मुकदमा चलाकर उसे दोषी ठहराया गया। तत्पश्चात् कन्वेंशन में लुई को मृत्यु डण्ड देने पर मतदान किया। 782 सदस्यों वाली नेशनल कन्वेंशन में 721 सदस्यों ने मतदान में हिस्सा लिया। इसमें 387 सदस्यों ने मृत्यु दण्ड के पक्ष और 334 ने विरोध में मतदान किया। 21 जनवरी 1793 ई. को लुई सालहवें को फाँसी दे दी गई। मरने के पूर्व उसके अन्तिम शब्द थे —" मैं निर्दोष हूँ, मुझे अनावश्यक मारा जा रहा हैं। मेरा रक्त फ्रांस की जनता के लिए खुशहाली लाने वाला हो, यही मेरी कामना है।" इस प्रकार। राजतन्त्र का प्रतीक राजा भी समाप्त हो गया। राजा के वध ने इंगलैण्ड रूस, स्पेन, हालैंड, सार्डिनिया और यूरोप के अन्य राष्ट्रों को क्रान्तिकारियों के

विरुद्ध कर दिया। यह राष्ट्र प्रशा और आस्ट्रिया का फ्रांस के विरुद्ध प्रत्यक्ष साथ देने लगे। इनके परिणामतः फ्रांस को यूरोपीय संगठित राष्ट्रों से युद्ध लड़ना पड़ा। क्रांतिकारियों के लिए यह परीक्षा की घड़ी थी किन्तु पारस्परिक संघर्ष और गृह-कलह ने स्थिति को अधिक विकट कर दिया। राजा कि हत्या सुनकर,फ्रांस के लाखों किसान गणतन्त्र के विरुद्ध हो गये। उन्होंने स्थान-स्थान पर गणतन्त्र समर्थक लोगों की हत्या करना आरम्भ कर दिया। कन्वेंशन के सम्मुख विदेशों से युद्ध उपद्रवियों को दबाना तथा व्यवस्था स्थापित करना मुख्य समस्या थी। इसीलिए कन्वेंशन ने विशिष्ट समितियों का गठन किया जो आन्तरिक उपद्रव को शीघ्रता से दबा सके एवं व्यवस्था लागू कर सके।

(2) **क्रान्तिकारी न्यायाधिकरण** : —दांतो के प्रस्ताव पर सार्वजनिक सुरक्षा स्थापित करने के लिए संदिग्ध व्यक्तियों को दण्ड प्रदान करने हेतु एक न्यायाधिकरण की गई। इस अधिकरण के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती थी। जूरी को सार्वजनिक रूप से अपना निर्णय सुनाना पड़ता था। इसके द्वारा प्रदत्त अधिकांश निर्णय मृत्यु दण्ड के होते थे। दो महिने में इसके निर्णयों से 2500 व्यक्ति फांसी पर चढाये गये।

(3) **जन-सुरक्षा समिति** : —जेकोविन दल के नेताओं के प्रस्ताव पर इस समिति का गठन किया गया था। इसमें पहले 1 और बाद में 12 सदस्य नियुक्त किये गए। यह समिति एक प्रकार से कार्यपालिका थी। इस समिति गुप्त मन्त्रणा और स्वतन्त्र निर्णय लेने का अधिकार प्रदान किया गया। राष्ट्र-हित में यह अपरिमित धन का व्यय कर सकती थी। युद्ध एवं आन्तरिक सुरक्षा के लिए निर्णय की इसे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यह नेशनल कन्वेंशन के प्रति उत्तरदायी थी। धीरे-धीरे यह समिति कन्वेंशन और पेरिस के कम्यून पर हावी हो गई। और आंतक का शासन स्थापित करने में इसी समिति की मुख्य भूमिका थी।

(3) **सामान्य सुरक्षा समिति** : —इसकी स्थापना जनवरी 1793 ई. में की गई। इसके सदस्यों की संख्या 21 थी। यह सदस्य कन्वेंशन की सात महत्त्व-पूर्ण समितियों से मनोनित किये जाते थे। बाद में सदस्यों की संख्या बढ़ा कर 24 कर दी गई। इसके 9 सदस्य-रोब्सपियर, कार्नो, सेन्ट जूस्ट आदि जेकोबिन दल के थे। इस समिति का कार्य भी आन्तरिक सुरक्षा स्थापित करना था किन्तु इसने भी आन्तरिक सुरक्षा के नाम पर आंतक फैलाने का कार्य किया। इस प्रकार इन उल्लेखित समितियों के गठन से, मार्च 1773 से जुलाई 1774 ई. तक फ्रांस में जिस आंतक जन्म हुआ, उसकी भूमिका तैयार हो चुकी थी। जेकोबिन दल ने पहले इस आंतक को जिरोंदिस्त दल के साथ मिलाकर बाद में अकेले फैला कर व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था को ही अधिक बढ़ाया।

(4) जिरोंदिस्त के विरुद्ध कार्यवाही :—यद्यपि कन्वेंशन में जिरोंदिस्त दल के मत अधिक थे। किन्तु जेकोबिन के लोग निरन्तर जिरोंदिस्त को बदनाम करने में लगे रहे। इस हेतु लेख, समाचार एवं पोस्टरों का खुल कर प्रयोग किया गया. प्रसिद्ध पत्रकार मारा पर जिरोंदों के विरुद्ध विज्ञापन लगाने का मुकदमा चलाया गया किन्तु न्यायाधिकरण ने मारा को निर्दोष ठहराया। इसी प्रकार हृवेअर तथा वार्ले नामक पत्रकारों को मुक्त कराने कन्वेंशन में याचिका दी गई। इस पर अध्यक्ष के उत्तेजनापूर्ण प्रत्युत्तर ने लोगों को उपद्रव के लिए उकसा दिया। इसके कारण लगभग 80, 000 शस्त्रधारी लोगों ने कन्वेंशन घेर कर जिरोंदिस्त नेताओं को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाने की मांग की। यह भीड़ पेरिस कम्युन के नेताओं एवं जेकोबिन दल के नेताओं के संयुक्त षडयन्त्र का परिणाम थी इस प्रकार कार्यवाही कर जेकोबिन दल सत्ता प्राप्त करना चाहता था। कन्वेंशन ने भी भीड़ से डर कर 29 जिरोंदिस्त नेताओं को नजर कैद कर लिया। अन्त में इनमें से कुछ (मदाम, रोवां सहित) फांसी चढ़ा दिये गए, कुछ ने आत्महत्या कर ली और कुछ भाग कर अपने-अपने प्रान्तों मे चले गए; जहाँ उन्होंने विद्रोहियों की कार्यवाहियों संचालन करना शुरु कर दिया। इस प्रकार गृह युद्ध का क्षेत्र और अधिक बढ़ गया। दो माह के अनन्तर 87 में से 60 प्रान्तों में विद्रोह फूट पड़ा। इसी (16 अक्टूबर) अवधि में रानी मारी आन्तवानेत को भी फासी दे दी गई। नवम्बर 1793 ई. को राजकुमार लुई फिलिप और उसकी बुआ को "गिलौतीन" फांसी पर चढ़ाया गया।

(5) 1793 ई. का संविधान :—फ्रास में गृहयुद्ध की ज्वाला की भीषण गर्मी से कन्वेंशन परेशानी में पड़गया। इस पर पेरिस कम्यून का पूर्णतः प्रभाव स्थापित हो चुका था। परन्तु विद्रोही प्रान्तों को यह दिखलाने कि कन्वेशन पर कम्यून का कोई प्रभाव नहीं है, कन्वेंशन ने जल्दी मे एक सविधान बना डाला। यह 1793 ई. का संविधान फ्रांस का दूसरा संविधान था। इस संविधान में सार्वभौमिक मताधिकार शासन का विकेन्द्रिकरण, व्यवस्थापिका के काल की अवधि एक वर्ष, व्यवस्थापिका द्वारा पारित् कानून को जनमत के निर्णयों द्वारा लागू करने, प्रान्तों और जनता के अधिकारों की सुरक्षा गारन्टी आदि की व्यवस्था की गई थी। किन्तु आंतक का शासन स्थापित होने से इसका लाभ अधिक स्थायी नहीं हो सका फिर भी फ्रांस की प्रान्तीय जनता, अपने अधिकारों को सुरक्षित समझ तथा पेरिस की स्थिति भी अन्य प्रान्तों के समान स्पष्ट हो जाने से शान्त हो गई। इस प्रकार गृहयुद्ध का विस्तार रुक गया।

(6) फ्रांस की विदेशों में विजय :—आन्तरिक शत्रुओं को साफ करने के पश्चात् कन्वेंशन ने विदेशी शत्रुओं से मोर्चा लिया। कार्नो के नेतृत्व में 7 लाख सैनिकों का शक्तिशाली सैन्य संगठन स्थापित किया गया। अनिवार्य सैन्य प्रशिक्षण

लागू कर फ्रांस के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सैन्य शिक्षा तथा 18 से 25 वर्ष तक के नवयुवकों के लिए अनिवार्य सैन्य सेवा लागू कर दी गई। हथियार निर्माण के लिए अधिक से अधिक कारखाने खोले गये। इस प्रकार पूर्ण योजनाबद्ध तैयारी के पश्चात शत्रु पर आक्रमण किया गया। कार्नो की सूझ-बूझ से फ्रांस की सेना ने इंगलैंड, स्पेन, हालैंड को अलग-अलग स्थानों पर पराजित किया। हालैण्ड के शासक विलियम पंचम को गद्दी से उतार कर उसके राज्य को बटेवियन रिपब्लिक में बदल दिया गया। स्पेन और प्रशा ने 5 अप्रेल 1795 ई. को फ्रांस से वासिल की सन्धि करली। इस प्रकार कार्नो के नेतृत्व में कन्वेंशन ने यूरोपीय राजाओं के शक्तिशाली गुट को छिन्न-भिन्न कर फ्रांस की प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

(7) **कन्वेशन के अन्य सुधार**—कन्वेंशन ने अनेक कठिनाईयों के होते हुए फ्रांस में कतिपय ऐसे सुधार भी किये जो इसके पूर्व नहीं हुए थे। फ्रेंच भाषा को राष्ट्र भाषा घोषित किया गया। कानून बनाकर स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार दिलाया गया। शिक्षा के लिए देश में स्कूल खोले गए। कन्वेंशन द्वारा निर्मित नेशनल लाइब्रेरी, अजायबघर तथा पोलोटेक्नीकल स्कूल आज भी फ्रांस में विद्यमान हैं। फ्रांस से भागे हुए सामन्तों व धर्माधिकारियों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया गया। मध्यम वर्ग को हर प्रकार की सुविधा देने के प्रयत्न किए गए। मजदूरों का वेतन निश्चित कर दिया गया। तलाक प्रथा को वैध तथा सरल बनाया गया। इन सुधारों को कार्यान्वित करने में राष्ट्रीय कन्वेंशन ने कठोरता और दमन का आश्रय अवश्य लिया किन्तु रोग को मिटाने के लिए कभी कभी शल्य क्रिया की भी आवश्यकता होती है। अतः कन्वेंशन को जहां सफलता प्राप्त हुई वहां बदनाम भी हुई और कन्वेंशन के प्रति उग्रवादी नताओं की उग्रता ने इसकी सफलता और बदनामी पर आंतक की छाप लगाकर फ्रांस में आंतक के शासन का सूत्रपात कर दिया। यह आंतक गणतंत्रवादियों के दो दल जिरोंदिस्त एवं जेकोबिन के मध्य शक्ति परीक्षण का संघर्ष कहा जा सकता है। इस संघर्ष में जेकोबिन दल विजयी रहा किन्तु इसका भी पतन शीघ्र हो गया और फ्रांस में डायरेक्टरी या संचालक मंडल की व्यवस्था द्वारा शासन संचालित किया गया।

(8) **आंतक एवं महा आंतक का शासन**—मार्च 1793 ई. से जुलाई 1794 ई. (17 माह) तक नशनल कन्वेशन पर जेकोबिन दल का प्रभुत्व छाया रहा अतः यह काल जेकोबिन- काल भी कहा जा सकता है। इस काल में की गई अधिकतर कार्यवाहियां आंतक से पूर्ण थी। इसीलिए इस काल की शासन व्यवस्था को "आंतक का शासन" कहा जाता है। इस काल में किये गये कार्यों का यथा स्थान उल्लेख हो चुका है। उदाहरणार्थ विद्रोह का मृत्यु दण्ड द्वारा दमन, जिरों-

दिरसों की हत्या, धनवान, कुलीन एवं पादरियों पर कठोर आर्थिक नियंत्रण, सैनिकों की अनिवार्य भर्ती एवं सुधार आदि। किन्तु आंतक शासन के जन्मदाता दांतों हेवेयर आदि जेकोबिन दल सदस्यों को रोब्सपियर द्वारा स्थापित महा-आंतक के शासन का निशाना बनना पड़ा था। हेवेयर की लोकप्रियता कम करने दांतों के आश्रय से रोवसपियर ने हेवेयर को राष्ट्रद्रोह के आरोप में 24 मार्च 1794 ई. को फांसी प्रदान कर दी गई। युद्ध में विजय तथा आन्तरिक उपद्रव में शान्ति देखकर जब दांतों ने आंतक के शासन के स्थान पर सामन्य शासन स्थापित करने का विचार किया तो रोवसपियर ने उसके विरुद्ध मुकदमें का प्रस्ताव पारित करा लिया। अभियोग की सुनवाई के दौरान लगातार दांतों के बयानों में उसकी गर्जना ने पेरिस को तीन दिन तक थर्राये रखा। 6 अप्रेल 1794 ई. को जब उसे फांसी के लिए ले जाया जा रहा था तो उसने रोब्सपियर के मकान के सामने चिल्ला कर कहा कि "वह दिन दूर नहीं है, जब तुम्हारी भी यही हालत होगी।,, दांतों की मृत्यु के पश्चात् शेक्सपियर ने समाज को नैतिक एवं सदाचारी बनाने के लिए महा-आंतक का आश्रय लिया। अनैतिकता के संदेह में हजारो लोगों को गुलोतीन किया गया। यहीं तक नहीं शेक्सपियर ने यह कानून भी पारित करा लिया कि नेशनल कन्वेंशन के सदस्य भी संदेह में कैद किये जा सकते है और न्यायाधिकर के संतुष्ट होने पर बगैर मुकदमा उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है। इस कानून ने नेशनल कन्वेंशन के सदस्यों में मृत्यु -भय उत्पन्न कर दिया। इसीलिए 26 जुलाई 1794 को रोब्सपियर पर ही सन्देह करके उसे वन्दी बनाने के आदेश दिये गए। अन्ततः वह होटल द विले में घायल अवस्था से पकड़ा गया। तत्पश्चात् 28 जुलाई 1794 ई.को उसे उसके साथियों सहित फांसी पर लटका दिया गया। रोब्सपियर के मृत्यु के साथ आंतक का शासन समाप्त हो गया।

(9) थर्मिडोरियन प्रतिक्रिया—रोब्सपियर की मृत्यु के पश्चात् नेशनल कन्वेंशन का एक वर्ष थर्मिडोरियन अर्थात "तेरमिदोरिये' की प्रतिक्रिया के नाम से जाना जाता है। इस काल में शेष आतंकवादियों को समाप्त किया गया। पेरिस कम्यून तथा जेकोबिन दल को भंग कर दिया गया। धीरे-धीरे फ्रांस में सामन्य व्यवस्था लौटने लगी। सामान्य एवं जन सुरक्षा समितियों में नरम दल के लोग प्रविष्ट हुए। न्यायाधिकरण तथा गुलोतीन प्रणाली का अन्त कर दिया गया। जेलों में बन्द आंतकवादी विरोधियों को मुक्त कर दिया गया। युद्ध में विजय प्राप्त कर लौटे सेनानायकों को सामाजिक एवं राजनीतिक सम्मान दिये गए। इस प्रकार फ्रांस में सामान्य जीवन को प्रारम्भ कर प्रतिक्रियावादी शासन ने तीसरा संविधान (1795 ई.) स्वीकृत किया जिस पर नरम दल के मध्यम वर्ग की महत्वाकांक्षाओं की स्पष्ट छाप थी।

नेशनल कन्वेंशन ने अपने कार्य काल में सैन्य संगठन का आधुनिकरण कर फ्रांस की विजय से विदेशों में प्रतिष्ठा अर्जित की वहां देश में भी राष्ट्रीय भावना एवं गणतन्त्र के प्रति जनमानस में विश्वास उत्पन्न किया। समाज के निम्न वर्ग को उच्च पदों तक पहुंचाने में कन्वेंशन द्वारा स्थापित सामाजिक और राजनीतिक समानता का सिद्धान्त राष्ट्रीय महासभा से एक कदम बढ़ कर था। शिक्षा को धर्म-निरपेक्ष बनाया गया। कानूनी समानता स्थापित करने राष्ट्रीय विधि-संहिता का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। नापतोल में दशमलव प्रणाली के प्रारम्भ का श्रेय फ्रांस के कन्वेंशन को ही है। इस काल में नये कलेण्डर को भी लागू किया गया जो गणतन्त्र की घोषणा 22 सितम्बर 1792 ई. से आरम्भ माना गया। 1806 ई. में नेपोलियन द्वारा इस कलेण्डर को पुनः ईसाई कलेण्डर अपनाया गया था। आर्थिक सुधारों में मजदूरों के वेतन, समान कर आदि महत्वपूर्ण थे।

(10) 1795 ई. का संविधान—1793 ई. के विधान के पश्चात 26 अक्टूबर 1795 ई. में तीसरा संविधान फ्रांस में लागू किया गया। इसमें वयस्क मताधिकार के स्थान पर मताधिकार को पुनः कर दाताओं तक सीमित कर दिया गया। व्यवस्थापिका में—उच्च एवं निम्न सदन रखे गए। उच्च सदन की सदस्य संख्या 250 निश्चित की गई जिनकी आयु 40 वर्ष होना अनिवार्य थी। निम्न सदन में सदस्य की आयु 30 वर्ष रखते हुए इसके सदस्यों को संख्या 500 निर्धारित की गई। दोनों सदनों से निर्वाचित पांच सदस्यों की कार्यकारिणी या डायरेक्टरी कहलाती थी। इसका निर्वाचन 5 वर्ष के लिए निश्चित किया गया। डायरेक्टरी के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित सदस्य तीन-तीन माह के लिए कार्य करते थे। कानून प्रस्तावित करने का अधिकार निम्न सदन को तथा पारित करने का अधिकार उच्च सदन को दिया गया। प्रथम संविधान के निर्माताओं की त्याग भावना के प्रतिकूल नेशनल कन्वेंशन के सदस्यों ने विधान में प्रावधान रखा कि निम्न सदन के दो-तिहाई सदस्य कन्वेंशन द्वारा ही निर्वाचित होंगे। यह विधान भी पांच वर्ष (नवम्बर 1799 ई.) से अधिक स्थायी नहीं हुआ क्योंकि डायरेक्टरी एवं नई विधान सभा के सदस्य पुनः भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत हित के लिए कार्य करने लग गये थे। फिर भी फ्रांस की क्रान्ति की प्रगति में इस संविधान का महत्व नकारा नहीं जा सकता है।

डायरेक्टरी के शासन काल का वर्णन करने से पूर्व हम नेशनल कन्वेंशन के प्रमुख व्यक्तियों का विषय अनुकुलन के लिए संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे—

(अ) डा. मारा (1742–1793 ई.)—भौतिक विज्ञान का शोधार्थी डा. मारा लुई सोलहवें के भाई काउण्ट आफ आर्वा का चिकित्सक था। इसने स्काटलैण्ड के एक विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की थी। अपनी पढ़ाई

समाप्त करने के पश्चात आर्त्वा के चिकित्सक रहते हुए डा. मारा ने क्रान्ति के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिखी। जेकोबिन दल का सदस्य बनने के पश्चात वह राजसत्तावादियों का कट्टर शत्रु तथा सीमित राजतन्त्र की स्थापना का पक्षधर बन गया। वह अपने वाकपटु भाषणों एवं लेखन के लिए जनता में प्रसिद्ध था। राजतन्त्र का विरोध व्यक्त करने के कारण सरकार द्वारा उसे कई बार तंग किया गया। कई बार अपनी जीवन की रक्षा के लिए उसे गुफाओं का आश्रय लेना पड़ा था। सितम्बर के हत्याकाण्ड में उसका भी हाथ था। वह इसी कारण पेरिस-कम्यून में प्रभावशाली बन गया। वह नेशनल कन्वेंशन का भी सदस्य रहा था। उसने जिरोंदिस्त एवं जेकोबिन दल के मध्य संघर्ष में भाग लिया था। उसके लेखों ने देश के वातावरण को बदलने में अच्छी भूमिका निभाई थी। जनता में उसके प्रति प्रेम और आदर को देखकर ऐसा लगता था कि वह किसी भी दिन सत्ता हस्तगत कर तानाशाह बन सकता है। किन्तु जुलाई 1763 ई. में एक लड़की द्वारा धोखे से उसकी हत्या कर दी गई। मृत्योपरांत जनता ने उसे शहीद की उपाधि से अलंकृत किया।

(ब) हेवेयर या हेबर—रोब्सपियर के निकट सहयोगी और मित्र हेवेयर राजा ही नहीं अपितु देवी देवताओं की भी सत्ता में विश्वास नहीं करता था। हेवेयर का कहना था कि प्रकृति ही धर्म, तर्क ही ईश्वर एवं समान भ्रातृत्व ही हमारा आदर्श है। बुद्धिवादी हेवेयर के प्रयत्नों से गिरजाघरों को बन्द किया जाने लगा। गिरजा के घण्टों को धातु के मूल्य में बेचा जाने लगा। हेवेयर ने ईसाई धर्म के स्थान पर 'बुद्धि की देवी' की उपासना प्रारम्भ की। वह स्वयं आतंकवादी था अतः उसके आतंक के प्रभाव और लोक प्रियता को बढ़ता देख कर रोब्सपियर भयभीत हो गया। रोब्सपियर कठोर एवं निष्ठुर होते हुए भी आस्तिक था। इसीलिए दांतों की सहायता से रोब्सपियर ने हेवेयर पर मुकदमा चला कर 24 मार्च 1794 ई. को फांसी दिलवा दी।

(स) दांतों (1759–1794 ई.)—आर्सिस नामक गांव में 26 अक्टूबर 1759 ई. को एक किसान के घर दांतों का जन्म हुआ था। कानून की शिक्षा प्राप्त कर दांतों ने वकालात शुरू की। अपने पेशे के अतिरिक्त वह देश की स्थिति मे रूचि रखता था। अतः उसने मिराब्यू के मार्गदर्शन में फ्रांस की राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ किया। शनैः शनैः अच्छा वक्ता होने के कारण फ्रांस में लोकप्रिय होता गया। राष्ट्रीय महासभा के काल में डा. मारा और दसमोला के साथ मिल दांतों ने कार्डेलियर क्लब का संगठन किया। पेरिस की नगर सभा में दांतों का पर्याप्त प्रभाव था। 'पेरिस कम्यून' को उसने ऐसी शक्तिशाली संस्था के रूप में खड़ा कर दिया कि स्टेट जनरल और नेशनल कन्वेंशन भी उसके प्रभाव को कम

नहीं कर पाये। 10 अगस्त 1792 ई. को राजमहल पर आक्रमण करने वालों का नेता दांतों ही था। वह स्वयं गणतन्त्रवादी था। जेकोबिन दल का सदस्य होते हुए भी उसने जिरोंदिस्त और जेकोबिन के मध्य समझौता कराने का कई बार प्रयास किया। किन्तु असफल रहने पर उसने सारा ध्यान जेकोबिन दल की नीतियों को उठाने में लगाया। वह आतंकवाद का जनक था। उसका नारा था—"साहस, अधिक साहस और सदैव अधिक साहस से कार्य किया जावे।" आतंक स्थापित करने में उसने रोब्सपियर, कार्नो, और सेंट जस्ट का सहयोग लिया। इसने आतंक का शासन स्थापित कर जिरोदिस्तों को दबाया एवं संदिग्ध व्यक्तियों का सफाया कराया। कार्नो के नेतृत्व में सेना का संगठन प्रदान कर उसने मित्र राष्ट्रों की सेना को परास्त कर अपनी योजना की धाक फ्रांस में स्थापित कर दी। युद्ध एवं देश की आन्तरिक स्थिति से राहत प्राप्त कर उसने सामान्य व्यवस्था हेतु आतंक नीति के परित्याग की बात सोचना आरम्भ किया। अतः रोब्सपियर ने उस पर (1793 ई. में) अभियोग लगाकर देश-द्रोही घोषित करवा दिया। 5 अप्रेल 1794 ई. को उसे उसके साथियों सहित गुलतीन पर चढ़ा दिया गया। थोम्पसन ने दांतों के विषय में लिखा है कि "वह एक बड़ा आदमी नहीं अच्छा आदमी नहीं, वीर भी नहीं फिर भी वह बड़े कल्याण और वीरत्वलक्षणों का आदमी था।" वह साहस का मूर्त रूप था जिसने फ्रांस में गणतन्त्र के द्वार खोलने में अथक कार्यों द्वारा ख्याति प्राप्त की थी।

(द) रोब्सपियर (1758–1794 ई.) – 6 मई 1758 ई. को आरा नगर से रोब्सपियर का जन्म हुआ था। क्रान्ति के पूर्व वह साधारण बेरिस्टर था। वह रूसों से प्रभावित उग्र विचारशील था। 1789 ई. में वह तीसरे सदन का सदस्य निर्वाचित हुआ था। वह जनरक्षक समिति का महत्वपूर्ण सदस्य रहा था। इस समिति के माध्यम से उसने उग्र विचारों को कार्यान्वित किया। बेरिस्टर के पश्चात कुछ समय वह न्यायाधीश रहा था किन्तु उसने यह नोकरी इसलिए छोड़ दी कि 'वह मृत्यु दण्ड देने में डरता था।' पर ऐसा भीरू आतंक और महा आतंक का प्रणेता तथा हजारों लाखों व्यक्तियों का हत्यारा कैसे बन गया? आश्चर्य है मध्यम वर्ग का होते हुए भी निम्न वर्ग के प्रति ही उसकी सहानुभूति थी। कंचन और कामिनी से वह सदैव दूर रहा। दांतों के वध कराने के पश्चात वही फ्रांस का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति था। मित्रों के लिए तर्क तथा शत्रुओं के लिए भय उसकी राजनीतिक अवधारणा के लक्ष्य थे। वह कहा करता था कि 'शान्ति काल में यदि जन-शासन का आधार लोक कल्याण होता हैं तो क्रान्ति काल में उसका आधार लोक कल्याणात्मक-आतंक हो जाता है।" वह गणतन्त्र की सफलता के लिए सदाचार एवं नैतिकता को परमावश्यक मानता था। इसी आवश्यकता के

लिए उसने महा आंतक का शासन स्थापित किया था। वह आस्तिक था परन्तु धर्म के अन्धविश्वासों में विश्वास नहीं करता था। 10 जून 1794 ई. को उसने कन्वेशन में ऐसा अधिनियम पारित करवाया जिसके अन्तर्गत कन्वेंशन के सदस्य बन्दी बनाये जा सकते थे। इससे कन्वेंशन में खलबली मच गई। दूसरे दिन रोब्सपियर कन्वेंशन में भाषण देने आया तो उसके विरोधियों ने उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर उसे बन्दी बनाने के आदेश प्रसारित कर दिये। पेरिस कम्यून ने कन्वेंशन के विरोध में मुक्त करने के आदेश दिये। इस प्रकार कन्वेंशन और कम्यून में संघर्ष छिड़ गया। रोब्सपियर अपने साथियों सहित एक होटल में छुप कर रहने लगा। किन्तु कन्वेंशन के सदस्यों ने उसे ढूंढ लिया और उस पर हमला कर दिया। 28 जुलाई 1794 ई. को उसे भी बन्दी बनाकर फाँसी पर लटका दिया गया। उसके लिए कहा जाता है कि "अन्य नेता वकील की तरह थे किन्तु वह दार्शनिकों की तरह सत्य का पुजारी था।" उसने अपने सत्य की प्रतिष्ठित करने के लिए इच्छानुसार मार्ग अपनाये। यद्यपि इन मार्गों के लिए उसका लक्ष्य गणतन्त्र और चिर गणतन्त्र की स्थायित्वता को स्थापित करना था, पर इसका परिणाम इसके विपरीत हुआ। गणतन्त्र के स्थान पर आगे चलकर फ्रांस में विकृत गणतन्त्र तत्पश्चात् अधिनायकतन्त्र का उदय हुआ। डायरेक्टरी का शासन एक प्रकार से विकृत गणतन्त्र का प्रतीक था।

संचालक मंडल

(27 अक्टूबर 1795 से 19 नवम्बर 1799 ई.)

नेशनल कन्वेंशन के भंग हो जाने के पश्चात् 27 अक्टूबर 1795 ई. को फ्रांस में "डायरेक्टरी" या संचालक मण्डल का शासन आरम्भ हुआ। पांच डायरेक्टरों की समिति में व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित—एबीसीयेज, बर्रा, कार्नो, लेटरनियर तथा ट्युबैल सदस्य थे। यह सदस्य स्वार्थी, अयोग्य एवं भ्रष्ट थे अतः इनके शासन के चार वर्ष (1795 से 1799 ई.) फ्रांस की प्रशासनिक असफलता के वर्ष थे। इन सदस्यों में प्रत्येक तीन माह के लिए डायरेक्टरी का अध्यक्ष एवं फ्रांस का राष्ट्रपति होता था। अतः अपने-अपने काल में इन्होंने व्यक्तिगत लाभ अर्जित करने की ओर ही ध्यान दिया इससे देश की भलाई पिछड़ती चली गई। यह मण्डल शासक के पक्ष में बढ़ते प्रचार, ईसाई पूजा-पद्धति, प्रान्तीय दंगों, बेकारी, भूखमरी आदि कई समस्याओं के बढ़ते प्रभाव को रोकने में सर्वथा असमर्थ रहा। यद्यपि इस काल में कम्यून, क्रान्तिकारी परिषद् को समाप्त कर जेकोबिन दल को भंग कर दिया गया। 1795 ई. में फ्रांस में भीषण सर्दी पड़ी फलतः कृषि और व्यापार चौपट हो गया। इसीलिए सामाजिक और आर्थिक संकट के क्षणों में सरकार द्वारा जो राहत दी जानी चाहिये उसके प्रति मंडल उदासीन बैठा रहा। अप्रैल-मई में

जन-विद्रोह को दबाने हेतु मंडल ने सेना को पूर्ण अधिकार दे दिये। जनरल बर्रास ने स्थिति को कठोरतापूर्वक शान्त किया फिर भी मण्डल के प्रति जन-असंतोष चलता रहा। अक्टूबर 1795 ई में "पैन्थियन" नामक सोसायटी का गठन मंडल के विरोध में किया गया। इस सोसायटी के बहुत से सदस्य जेकोबिन दल के थे। इस सोसायटी ने अपने क्रियाकलाप 'टार्च के प्रकाश' में शुरू किये और विचारों का प्रकाशन "ट्रिब्यून" नामक पत्र द्वारा किया। फरवरी 1796 ई. को इस सोसायटी को गतिविधियों एवं जनता को बढ़ते प्रभाव से तंग आकर मंडल ने इसे समाप्त करने का कार्य, जनरल बर्रास के सहायक युवक नेपोलियन बोनापार्ट को सौंपा। उग्रवादियों ने शीघ्र ही एक गुप्त समिति स्थापित कर समानता के आदर्श के लिए संघर्ष का मार्ग अपना लिया।

विदेशी सम्बन्धों और युद्ध संचालन में फ्रांस के गणतन्त्र द्वारा गठित सैन्य संगठन डायरेक्टरी के शासन हेतु भाग्यशाली सिद्ध हुआ। 1795 ई. के प्रारम्भ में ही स्पेन, प्रशा एवं हालैण्ड ने फ्रांस से सन्धि कर ली थी। बाद में पुर्तगाल, सैक्सनी और हेसेस नामक जर्मन राज्यों तथा इटली के नेपल्स, पारमा एवं पोप के राज्य भी फ्रांस के साथ मित्रता कर सन्धि में आबद्ध हो गए। स्थल पर अब मात्र आस्ट्रिया तथा जल पर इंगलैण्ड फ्रांस के विरुद्ध शेष थे। नेपोलियन बोनापार्ट ने आश्चर्य-जनक ढंग से आस्ट्रिया को भी पराजित कर दिया और उसे सन्धि के लिए बाध्य किया। इंगलैण्ड अन्त तक पराजित नहीं हो सका। परन्तु नेपोलियन बोनापार्ट के नेतृत्व में इन सैनिक-विजयों ने जहां डायरेक्टरी के शासन का अन्त कर दिया वहीं नेपोलियन बोनापार्ट को फ्रांस में अपनी सफलता का अधिनायकवादी शासन स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो गया। डायरेक्टरी के पतन के साथ-साथ फ्रांस की क्रान्ति का गणतन्त्रात्मक पक्ष भी समाप्त हो गया।

फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम—रेम्से म्यूर ने इस क्रान्ति को 'विश्व क्रान्ति' कहा है। यह क्रान्ति केवल हथियारों की लड़ाई नहीं थी अपितु विचारों के स्थापना की लड़ाई भी थी। इस क्रान्ति के प्रारम्भ में राजतन्त्र, मध्य में सीमित राजतन्त्र, अन्त में गणतन्त्र के संघर्षों को देखते हैं। इस क्रान्ति ने राजनीतिक निरंकुशता, सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण पर प्रहार किया वहीं शासन के नव सिद्धान्तों सामाजिक व्यवस्था के नव विचारों एवं मानव अधिकार के नव आदर्शों का प्रचार किया था। इस प्रकार यह क्रान्ति मध्ययुगीन व्यवस्था के स्थान पर आधुनिक युग को जन्म देने वाली प्रक्रिया थी। हम इसी दृष्टि से इसके परिणामों को प्रस्तुत करेंगे :

(1) सामन्तवाद का अन्त—मध्यकालीन सामन्तों अवशेषों का अन्त कर आधुनिक व्यवस्था का सूत्रपात करना इस क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण देन है। फ्रांस के

सामन्तों के विशेषाधिकारों को जड़मूल से उखाड़ कर समान अधिकारों की स्थापना की गई। बन्धुआ कृषक एवं मजदूर प्रथा का उन्मूलन किया गया। सामन्ती कर समाप्त कर दिये गए। पादरी एवं चर्च के विशेषाधिकार एवं जनता पर थोपे गए कर क्रान्ति की व्यवस्था द्वारा समाप्त कर दिए गए। राज्य के समस्त पदों की नियुक्तियां पैतृक आधारों के स्थान पर योग्यता के आधारों पर की जाने लगी।

(2) लोक-संप्रभुता का उदय—फ्रांस की क्रान्ति जनशक्ति का प्रयोग हुआ एवं प्रजातान्त्रिक भावना का विकास हुआ। इस क्रान्ति द्वारा यह सिद्ध हो गया कि शक्ति एवं सत्ता का स्रोत सर्व साधारण में है। जनता की सहमति तथा सहयोग के बल पर शासन का दृढ़ महल खड़ा किया जा सकता है। वास्तव में फ्रांस की क्रान्ति आधुनिक युग का प्रथम जन-आन्दोलन था। इसके द्वारा जनता में नई चेतना जाग्रत हुई एवं जन-राजनीति की शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ। इस क्रान्ति ने राजा के स्थान पर प्रजा, निरकुशता के स्थान पर गणतन्त्र एवं दैवी सिद्धान्त के स्थान पर लोक-संप्रभुता को स्थापित किया। इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति ने लोक-तन्त्रिय विचारधारा को प्रोत्साहित कर यूरोप मे लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया।

(3) राष्ट्रीयता का विकास—फ्रांस की क्रान्ति ने ऐसी प्रगतिशील राष्ट्रीयता को जन्म दिया जो आधुनिक विश्व के राष्ट्रीय विचारों का मूलाधार है। इसी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर जनता ने बड़े से बड़े दुःख को हँसते हुए सहन किया। निरंकुशता को समाप्त करने हत्या के क्रम को, समानता स्थापित करने आतंक को एवं स्वतन्त्रता के जीवन को जीवित रखने मृत्यु का आलिंगन करते हुए फ्रांसवासी देश भक्तों ने मारसेलीज नामक राष्ट्रीय गीत गाते हुए आस्ट्रिया एवं प्रशा की सम्मिलित सेनाओं का डटकर मुकाबला किया और शत्रुओं से अपने देश की रक्षा करने में समर्थ हुए। यह सभी राष्ट्रीय भावना का परिणाम था कि फ्रांस एक शक्तिशाली देश के रूप में उभर कर सामने आया। नेशनल कन्वेंशन के काल में सम्पूर्ण देश की एक भाषा, शिक्षा, नाप-तोल और कलेण्डर को अपना कर फ्रांस विश्व का पहला देश था जो राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित होकर क्रान्ति की ओर बढ़ा था। फ्रांस की क्रान्ति से उत्पन्न राष्ट्रीयता ने यूरोप को भी प्रभावित किया। राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित इटली, जर्मनी और वेल्जियम में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के संघर्ष प्रारम्भ हुए। इसीलिए यह कथन सही है कि 19वीं शताब्दी के यूरोप का इतिहास राष्ट्रीयता के संघर्ष का इतिहास है जिस पर फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

(4) स्वतन्त्रता एवं समानता की भावना—फ्रांस की क्रान्ति का आदर्श था—स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्वता। स्वतन्त्रता को प्राकृतिक रूप में लिया गया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से प्रत्येक नागरिक को

स्वतन्त्रता एवं समानता का अधिकार प्रदान किया गया। इस क्रान्ति द्वारा मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा, मनुष्य के व्यक्तित्व के महत्व को प्रतिपादित करने वाली घोषणा थी। पारस्परिक प्रेम, सहयोग तथा सहानुभूति ही बन्धुत्व है और इसका विकास करना क्रान्ति का ध्येय रहा था। इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति ने अमेरिका के स्वतन्त्रता आन्दोलन से उत्पन्न स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्वता के आदर्श को यूरोप में स्थापित कर भविष्य की क्रान्तियों के लिए एक उद्देश्य स्थापित कर दिया।

(5) धर्म निरपेक्ष राज्य का आदर्श—धर्म के क्षेत्र में उदारता और तत्पश्चात् सहिष्णुता के वातावरण को बनाने में फ्रांस की क्रांति अन्य देशों के सम्मुख आदर्श कही जा सकती है। क्रान्ति के फलस्वरूप राज्य और चर्च के सम्बन्ध स्पष्ट हुए। पहले चर्च राज्य के अन्दर राज्य था किन्तु क्रान्ति ने इसे राज्य के अधीन एक संस्था के रूप में स्थापित कर दिया। सभी लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर क्रान्ति ने फ्रांस को धर्म निरपेक्ष राज्य के रूप में खड़ा किया। इस धर्म निरपेक्ष राज्य में चर्च जागीरों को समाप्त कर पादरियों को वेतनभोगी कर्मचारी बना दिया गया। पादरियों के लिए क्रान्ति, देश और संविधान के प्रति शपथ लेना अनिवार्य कर दिया गया। यह कदम उठाने वाला फ्रांस यूरोप का प्रथम देश था।

(6) समाजवाद की स्थापना—समाजवादी व्यवस्था के प्रारम्भिक सिद्धांतों के बीज हमें फ्रांस की क्रान्ति में देखने को मिलते हैं। जेकोबिन दल एवं उसके सदस्य कुछ सीमा तक समाजवादी ही थे। यद्यपि इन्होंने मजदूरों के संगठन को कोई स्थान नहीं दिया फिर भी इन्होंने मजदूरों की भलाई के लिए मजदूरी की दर निश्चित कर आंशिक रूप में समाजवादी भावना का परिचय दिया। वर्ग-भेद समाप्त कर सामाजिक समानता स्थापित करने के पृष्ठ में समाजवादी विचार ही कार्य कर रहे थे। डायरेक्टरी शासन काल में बेवाफ ने निर्धनों का पक्ष लेकर अमीरों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर अन्य समाजवादियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया था।

(7) आधुनिक सैन्य व्यवस्था—फ्रांस की क्रान्ति काल में आवश्यक सैन्य सेवा अधिनियम करके 25 वर्ष के प्रत्येक युवा पुरुष के लिए सेना में भर्ती होना आवश्यक कर दिया था। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण एवं निरन्तर प्रयास आदि के द्वारा फ्रांस के सैनिकों में स्फुर्ति, पदोन्नति एवं भर्ती के लिए योग्यता को महत्व प्रदान कर फ्रांसीसी सैन्य संगठन को सुदृढ़ बनाया गया। इसके फलस्वरूप फ्रांस की ऐसी शक्तिशाली सेना का निर्माण हुआ जिसने इंगलैंड को छोड़कर समस्त यूरोप में अपनी धाक जमा दी। यह क्रांतिकारी सेना ही थी जिसने नेपोलियन बोनापार्ट, कार्नो आदि विश्व के महान सेनानायकों को उत्पन्न किया था।

(8) शिक्षा में सुधार –क्रान्ति कालीन व्यवस्था में शिक्षा को धर्म से अलग कर सरकार की ओर से सार्वजनिक शिक्षा देने की कार्यवाहियां की गई। स्कूल, कॉलेज तथा तकनीकी शिक्षा के साथ-साथ सैनिक शिक्षा के केन्द्र खोले गए।

(9) सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में देन—फ्रांस की क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में कई परिवर्तन कर जनता को राहत पहुंचाई। सामन्तों और चर्च की भूमि पर किसानों का बलात् प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया। चुंगी दरों में समानता, कानूनों में समानता, चर्च के करों का अन्त आदि सामाजिक-आर्थिक भेदभाव को समाप्त करने में क्रान्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। सामन्त और चर्च भूमि की एवज में कागजी मुद्रा का प्रचलन फ्रांस में पहली बार क्रान्ति काल में ही हुआ था। सामाजिक वर्ग भेद समाप्त कर क्रान्ति ने फ्रांस में स्वच्छन्दता एवं स्वतन्त्रता का वातावरण बनाया। दास-प्रथा का अन्त स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार, तलाक प्रथा में सरल नियम आदि क्रान्ति कालीन शासन ने समाज कल्याणात्मक दृष्टि का परिचय दिया।

फ्रांस के लोगों ने समस्त मानव जाति के लिए अपना रक्त बहाया, अपार कष्ट सहन किये किन्तु उनके द्वारा क्रान्ति और क्रान्ति के विचार मानवता के लिए धरोहर है। यद्यपि यह क्रान्ति मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही और आर्थिक क्षेत्र में केवल कर्जो में डूबी रही फिर भी इसी क्रान्ति का परिणाम था कि नेपोलियन बोनापार्ट ने फ्रांस में सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में तानाशाही के रास्ते विश्व का शक्तिमान (इंग्लैण्ड के अतिरिक्त) राष्ट्र बना दिया। इस क्रान्ति द्वारा स्थापित निरंकुशता विरोधी भावना के फलस्वरूप 1830 ई. तथा 1848 ई. की क्रान्तियाँ हुई। इंग्लैण्ड में सुधारों की माँग के कारण 1832 ई. का सुधार एक्ट पारित हुआ। राष्ट्रीय भावना के फलतः इटली एवं जर्मनी का एकीकरण हुआ। इसलिए अन्त में विश्व को प्रभावित करने वाली यह क्रान्ति परिस्थितियों की उपज थी। इसके परिणाम ने इतिहास में नवीन विचारों का प्रादुर्भाव कर यूरोप की पुनर्व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार कर दिया था।

7
नेपोलियन बोनापार्ट

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म 15 अगस्त 1769 ई. को मध्यमवर्गीय इटेलियन परिवार में कोर्सिका नामक द्वीप पर हुआ था। उसका पिता कार्लो बोनापार्ट एक निर्धन वकील एवं माता लेटीजिया रेमोलिनों सौन्दर्ययुक्त कठोर परिश्रमी महिला थी। नेपोलियन के चार भाई तथा तीन बहिनें थी। दस वर्ष की अवस्था में उसे शैम्पेन क्षेत्र के ब्रिये के सैनिक स्कूल में भर्ती कराया गया। इसके बाद नेपोलियन 1784 ई. में पेरिस के सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने गया। 1785 ई. में उसे लेफ्टिनेन्ट बना दिया गया। इन दोनों स्कूलों में कुलीन वर्ग के युवकों का वर्चस्व था। यहां मध्यमवर्गी तथा इटालियन नेपोलियन को वर्ग-भेद का वातावरण देखने को मिला। निम्न वर्ग की हीन भावना से ग्रसित् नेपोलियन ने प्रतिक्रिया के रूप में हमेशा साहस का परिचय दिया। इसके साथ-साथ उसने कुलीन परिवारों से सम्बन्ध स्थापित कर अपने को कुलीन सिद्ध करने का प्रयास किया। उसने विद्यार्थी जीवन में भूगोल, इतिहास, गणित एवं तत्कालीन बौद्धिक विचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह वाल्तेयर, मोन्तेस्क्यू और रूसो की रचनाओं से अधिक प्रभावित था। नेपोलियन क्रान्ति प्रारम्भ होने के पूर्व नौकरी छोड़ कर अपनी मातृभूमि कोर्सिका चला गया था। तत्पश्चात् वह 1789 ई. में कुछ समय सैनिक-सेवा के बाद पुनः कोर्सिका में जाकर रहने लगा। 1792 ई. तक नेपोलियन ने फ्रांस की स्थिति का अवलोकन किया। वह जेकोबिन दल का सदस्य भी बना। इस समय वह स्वयं आर्थिक संकट में था 1793 ई. में कोर्सिका द्वीप पर अंग्रेजों के आक्रमण होने से नेपोलियन फ्रांस के तूलो नगर में आ गया। कुछ समय पश्चात् तूलो भी अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। नेपोलियन को अंग्रेजों के विरुद्ध तूलो अभियान का नेतृत्व प्रदान कर फ्रांस की सरकार ने उसका स्मरण किया। नेपोलियन ने 16 सितम्बर 1793 ई. को बड़ी वीरता एवं चतुरता से तूलो को अंग्रेजों से मुक्त करा दिया। इसके फलतः शेक्सपियर नेपोलियन से

काफी प्रभावित् एवं प्रसन्न हुआ। 1794 ई. में उसे पुरस्कार के रूप में "आर्टिलरी जनरल" अर्थात् फ्रांस का प्रधान तोपची नियुक्त किया गया। आंतक के शासन में रोबसपियर और उसके साथियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया तो नेपोलियन को भी कैद किया गया था। किन्तु तूलों की सेवा के कारण वह बच गया। 1795 ई. में जब थर्मोडेरियन प्रतिक्रिया के समय पेरिस की भीड़ ने कन्वेंशन का घेराव किया तब नेपोलियन ने सैनिक सहायता पहुंचा कर कन्वेंशन की रक्षा की थी। इसके परिणामस्वरूप कन्वेंशन ने उसे फ्रांस की आन्तरिक सेना का प्रधान सेनापति या मेजर जनरल बना दिया। इसके कुछ समय बाद नेपोलियन को मुख्य सेनापति या चीफ जनरल नियुक्त किया गया। इस प्रकार मात्र 27 वर्ष की उम्र में वह अपनी योग्यता एवं साहस के बल पर लेफ्टिनेन्ट के पद से उन्नति कर फ्रांस के प्रधान सेनापति के पद पर पहुँच गया। उसकी इस उन्नति मे रोबसपियर, कार्नो एवं सेनापति बरास का सहयोग भी था। नेपोलियन क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित स्वयं क्रान्तिकारी था। इसीलिए वह अपने को 'क्रान्ति का पुत्र' कहता था।

मेजर जनरल बनने के पश्चात् जोसेफाइन ब्यूहारनेंस नामक एक विधवा महिला नेपोलियन के सम्पर्क में आई। यह महिला कुलीन घराने की थी। रोबसपियर ने अपने पतन के कुछ दिनों पूर्व उसके पति को फांसी प्रदान की थी। दो बच्चों की मां जोसेफाइन से सेनापति बारास के अनैतिक सम्बन्ध थे। अन्य कई अधिकारियों के साथ भी उसके कुत्सित् सम्बन्ध होते हुए भी नेपोलियन उसके प्रति आकर्षित हुआ था। 9 मार्च 1796 ई. को दोनों ने विवाह कर लिया। उम्र में जोसेफाइन नेपोलियन से 6 वर्ष बड़ी थी। आश्चर्य था कि एक व्यापारी की पुत्री डैजरी से प्रेम होते हुए भी उसने जोसेफाइन जैसी महिला से शादी की संभवतः इसके पृष्ठ में नेपोलियन का महत्वाकांक्षी चरित्र काम कर रहा था जो कि जोसेफाइन के सामाजिक प्रभाव का लाभ उठाना चाहता था। किन्तु नेपोलियन और उसके मध्य पति पत्नी के स्थान पर प्रगाढ मित्र जैसे ही सम्बन्ध बन सके। जोसेफाइन के द्वारा नेपोलियन का निःसंतान रहना, नेपोलियन के दूसरे विवाह का माध्यम बन गया। इसीलिए 1810 ई. में मारी आन्वानेत की भतीजी एवं आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरिया लुइसा से नेपोलियन ने दूसरा विवाह किया। इस प्रकार राजवंश से सम्बन्ध स्थापित कर नेपोलियन ने अपनी हीन ग्रन्थि की तुष्टी की थी। लुइसा से एक पुत्र की प्राप्ति हुई।

नेपोलियन की योग्यता से प्रभावित होकर तत्कालीन डायरेक्टरी के सदस्य एवं युद्ध मंत्री कार्नो ने उसे इटली अभियान का प्रधान सेनापति नियुक्त किया था। इसके दो दिन पूर्व ही नेपोलियन ने जोसेफाइन से विवाह किया था। फिर भी वह अपनी सेना के साथ इटली के लिए प्रस्थान कर गया।

इटली की विजय (1796-1797 ई.) :—नेपोलियन ने मार्च-अप्रेल 1796 ई. में इटली पर आक्रमण किया। यद्यपि नेपोलियन के सैनिकों की संख्या शत्रु सेना से आधी थी। उसके सैनिकों के पास ठीक पोशाक तक न थी एवं उसके अधिकारियों के पास जूते तक नहीं थे। परन्तु नेपोलियन ने उत्साह एवं प्रतिभा के बल पर समस्त कठिनाइयों को नियंत्रित कर लिया। उसने अपने सैनिकों को प्रोत्साहित् करते हुए बड़ी तेजी से आल्पस पर्वत पार कर शत्रु को आश्चर्यचकित् कर दिया। इस यकायक आक्रमण का प्रतिरोध करने में सेना असमर्थ रही और उत्तरी इटली के सभी दुर्गों पर फ्रांस का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् नेपोलियन सार्डिनिया की सेना पर टूट पड़ा और उसे भी पराजित किया। सार्डिनिया ने नेपोलियन से संधि कर सेवाय और नीस के प्रदेश फ्रांस को देना स्वीकार कर लिया इसके बाद नेपोलियन ने अपना सम्पूर्ण ध्यान आस्ट्रिया पर केन्द्रित कर दिया।

आस्ट्रिया से युद्ध :—सर्व प्रथम नेपोलियन ने आस्ट्रिया के इटालियन राज्य लोम्बार्डी को विजय किया। इसके बाद उसने लोदी पुल पार कर आस्ट्रियन सेना पर आक्रमण करने के लिए पुल के एक छोर पर आग उगलते तोपखाने की परवाह किये बगैर शत्रु सेना को परास्त कर दिया। 'लोदी पुल का युद्ध' उसकी वीरता का ज्वलन्त उदाहरण था कि सैनिक हमेशा के लिए उसके भक्त बन गए। इस युद्ध के परिणाम स्वरूप मिलान प्रदेश पर फ्रांस का अधिकार हो गया। पराजित आस्ट्रिया की सेना ने मान्टुआ दुर्ग में शरण ली। नेपोलियन ने दुर्ग को आठ माह तक घेरे रखा। अन्ततः 13-14 जनवरी, 1797 ई. को रिवोली का प्रसिद्ध युद्ध लडा गया। इस युद्ध में आस्ट्रिया की सेना परास्त हुई तथा मान्टुआ दुर्ग पर नेपोलियन का अधिकार हो गया। इस युद्ध के पश्चात नेपोलियन आस्ट्रिया की सेना को खदेड़ता हुआ राजधानी वियना से 100 मील दूर रह गया तब आस्ट्रिया को सन्धि के लिए विवश होना पडा। 18 अप्रेल 1797 ई. को लियोबेन की विराम सन्धि हो गई।

पोप के साथ सन्धि – 17 फरवरी 1797 ई. को नेपोलियन ने शक्ति का भय दिखलाकर पोप को सन्धि स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया। इसके अनुसार पोप ने एविग्नोन पर फ्रांस का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसके साथ-साथ नेपोलियन को इस सन्धि से तीन करोड़ फ्रांक, 500 हस्तलिखित ग्रन्थ और बहुत से कलात्मक चित्र प्राप्त हुए। इसके बाद नेपोलियन ने वेनिस जीतकर आस्ट्रिया की राजधानी वियना की ओर प्रस्थान किया।

केम्पों फॉर्मियो की सन्धि—आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस द्वितीय ने नेपोलियन की सफलता से घबराकर 17 अक्टूबर 1797 ई. को नेपोलियन के साथ

केम्पोफोर्मियो की सन्धि करली। इसके अनुसार ग्रास्ट्रिया ने बेल्जियम फ्रांस को दे दिया, फ्रांस एवं जर्मनी के मध्य राइन प्रदेश भी फ्रांस के ग्राधिपत्य में सौंप दिया गया, इटली में लोम्बार्डी पर फ्रांस का प्रभुत्व स्वीकार किया गया एवं इनके स्थान पर फ्रांस ने वेनिस राज्य के इस्ट्रिया तथा डालमेशिया को ग्रास्ट्रिया के प्रभुत्व में दे दिया।

गणराज्यों की स्थापना—केम्पोफोर्मियों की संधि का लाभ उठाते हुए नेपोलियन ने फ्रांस की दक्षिण पूर्वी सीमा पर पुराने शासकों को हटाकर निर्बल गणतंत्रों की स्थापना कर फ्रांस पर इस ओर से आक्रमण के भय को सदैव के लिए समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त फ्रांस के गणराज्यवादियों के विश्व में गणराज्य भावना का प्रसार' की नीति को भी सार्थक किया। किन्तु फ्रांस में शासन करने वाली डायरेक्टरी नेपोलियन की शक्ति और प्रतिष्ठा से भयभीत थी अतः उसने इन गणराज्यों की स्थापना में कोई रुचि नहीं दिखलाई और उसे नियपोलिटन अभियान में भाग लेने का ग्रादेश दिया। पर नेपोलियन ने इसकी उपेक्षा करते हुए लोम्बार्डी में सिसएलपाइन **गणराज्य**, जिनेवा में **लगुरियन गणराज्य** एवं रोम में पोप को वन्दी कर **रोम गणराज्य**, दक्षिणी इटली में **पार्थिनोपियन गणराज्य** तथा स्विटजरलैंड में **हैल्वेटिन गणराज्य** की स्थापना की कन्वेंशन के शासन काल में हालैण्ड को हराकर **बटावियन गणराज्य** की स्थापना की जा चुकी थी। इस प्रकार गणराज्यों की शृंखला ने सम्पूर्ण यूरोप में एक खलबली मचा दी। इंगलैण्ड के अतिरिक्त यूरोप के मित्र राष्ट्र फ्रांस के साथ सन्धि कर चुके थे। किन्तु इन गणराज्यों ने राजतन्त्रात्मक सरकारों को चैन से सोने नहीं दिया और एक वर्ष के पश्चात ही फ्रांस के विरुद्ध यूरोपियन शक्तियों के द्वितीय गुट का गठन आरम्भ हो गया।

नेपोलियन की फ्रांस में वापसी—नेपोलियन ने अपनी विजयों को बराबर बढ़ा-चढ़ा कर प्रचार करने का तरीका अपनाया था। इसिलिए जब वह 5 दिसम्बर 1797 ई. को फ्रांस लौटा तो जनता ने प्राचीन रोम के सीजर की तरह उसका स्वागत किया। किन्तु चिड़चिडे नेपोलियन से कहा—छीः! लोगों का क्या है यदि मुझे फांसी के लिए ले जाया जा रहा होता तो भी यह लोग इतनी ही उत्सुकता से मेरे ग्रास-पास जमा हो जाते।" इन वाक्यों से नेपोलियन की प्रकृति का परिचय मिलता है कि वह कितना दौहरा चरित्र रखता था। वह ग्रादर भी चाहता था किन्तु इसका प्रयोग भी वह अपनी ख्याति की वृद्धि के लिए ही करता था।

फ्रांस में नेपोलियन की लोकप्रियता से घबरा कर डायरेक्टरी ने उसे फ्रांस से दूर रखने के लिए इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध के ग्रादेश दिये। नेपोलियन भी

जानता था कि अभी तक वह पूर्ण प्रसिद्धी का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सका है। इसी लिए उसने डायरेक्टरी के सामने मिश्र के अभियान का प्रस्ताव रखा जिसे डायरेक्टरी के द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

मिश्र का अभियान—मिश्र के अभियान से नेपोलियन दोहरा लाभ प्राप्त करना चाहता था। वह मिश्र को परास्त कर इंगलैण्ड के एशिया स्थित् उपनिवेश (मुख्यतः भारत) पर प्रहार कर उसकी पूर्ति के साधन को समाप्त करना चाहता था। साथ-साथ इसके परिणाम द्वारा एशिया में अपनी ख्याति को प्रतिष्ठित करना चाहता था। 19 मई 1798 ई. को लगभग 400 जहाजों को लेकर नेपोलियन मिश्र की ओर रवाना हुआ। उसके साथ 38 हजार सैनिक तथा चित्रकार, इतिहासकार, इंजीनियर, डॉक्टर आदि की संख्या लगभग 2 हजार थी। वह किसी भी प्रकार अंग्रेजों से छिप कर मिश्र पहुँच जाना चाहता था। किन्तु ऐसा कर पाना बड़ा मुश्किल काम था क्योंकि भूमध्य सागर में इंगलैण्ड का सुप्रसिद्ध सेनापति नेल्सन गश्त लगा रहा था। फिर भी बचता-बचाता नेपोलियन आगे बढ़ा और माल्टा पर अधिकार करने में सफल हो गया। इसके पश्चात् उसने अलेक्जेंड्रिया (सिकन्दरिया) के प्रसिद्ध बन्दरगाह को अधिकार में ले लिया। 21 जुलाई 1798 ई. को 'पिरामिडों के युद्ध' में मिश्र को हरा कर काहिरा पर अधिकार किया। इस सम्पूर्ण गतिविधि पर नेलसन की दृष्टि थी किन्तु वह नेपोलियन को घेर कर परास्त करना चाहता था इसीलिए उसने नेपोलियन को आगे से आगे बढ़ने दिया। 1 अगस्त 1798 ई. को नेल्सन ने 'अबूकर की खाड़ी' में पड़े हुए फ्रांसीसी बेड़ पर अचानक आक्रमण कर दिया। इसमें फ्रांस को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। यह आक्रमण इतिहास में "नीलनदी का युद्ध" कहलाता है। इस युद्ध में फ्रांस के चार जहाज ही सुरक्षित निकल कर भागने में सफल हुए। इस युद्ध ने नेपोलियन का फ्रास से संचार सम्बन्ध तोड़ दिया।

इसी समय टर्की ने भी फ्रांस क विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी किन्तु नेपोलियन न असीम साहस का परिचय देते हुए फरवरी 1799 ई. में सीरीया पर आक्रमण किया और गाजा व जाफा पर अधिकार भी कर लिया। किन्तु उसके द्वारा डाला गया एकरे का घेरा असफल हो जाने, सैनिकों में रेगिस्तान की गर्मी सहन करने की शक्ति पराकाष्टा पर पहुँचने और बीमारी फैल जाने के कारण नेपोलियन को काहिरा लौटना पड़ा। काहिरा में उसे सूचना मिली की इंगलैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध यूरोपीय राष्ट्रों का द्वितीय गुट बना लिया है, इटली से फ्रांसीसी सेनाओं को खदेड़ दिया गया है तथा फ्रांस पर किसी भी समय आक्रमण हो सकता है। इसके अलावा सबसे शुभ सूचना उसे यह मिली कि डायरेक्टरी के सदस्य जनता में बदनाम होते जा रहे हैं। नेपोलियन ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति

का यही समय अच्छा मानते हुए फ्रांस की ओर प्रस्थान किया। फ्रांस की अधिकांश सेना मिश्र के भाग्य पर छोड़ कर 21 अगस्त 1799 ई. को अपने कुछ विश्वस्त सेनानायकों के साथ नेलसन को चकमा देते हुए वह फ्रांस की ओर लौटा। 9 अक्तूबर 1799 ई. को उसने फ्रांस की धरती पर कदम रखा जहां उसका एक युद्ध विजेता एवं फ्रांस के नायक के रूप में स्वागत किया गया। उसने इस स्वागत के अवसर पर कहा —"मैं ठीक समय पर आया हूँ न अधिक पहले और न अधिक बाद, हर किसी को मेरा इन्तजार था।"

फ्रांस की जनता ने नेपोलियन के प्रचार माध्यमों से यही जाना था कि मिश्र के युद्ध में भी नेपोलियन सफल रहा है अतः जनता उसे युद्ध देवता के रूप में देख रही थी। नेपोलियन ने भी यही अवसर अच्छा मानते हुए बड़े नाटकीय ढंग से सत्ता को हस्तगत करने का कार्य किया।

डायरेक्टरी का पतनः –नेपोलियन ने उन नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया जो किसी न किसी कारण से वर्तमान संविधान में संशोधन चाहते थे। इन लोगों में पादरी आबसिए और बरासे मुख्य थे। दूसरी ओर विधानमंडल का अध्यक्ष नेपोलियन का भाई लूसियन बोनापार्ट था। सिए, बरास तथा ड्यूको ने नेपोलियन की योजनानुसार डायरेक्टरी की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिए। अन्य दो सदस्यों के द्वारा त्यागपत्र नहीं देने की अवस्था में इनको नजरबन्द कर दिया गया। 9 नवम्बर 1799 ई. को नेपोलियन ने दोनों सदनों को सम्बोधित किया परन्तु उसके भाषण का कोई प्रभाव सदस्यों में पैदा नहीं हुआ। सदस्यों की ओर से आवाज उठी कि "हम कामवेल का शासन नहीं चाहते हैं, तानाशाह का नाश हो" आदि। नेपोलियन सदस्यों के इस विरोध को देखकर घबरा गया और बेहोश हो गया। किन्तु लूसियन बोनापार्ट ने स्थिति को संभालते हुए सदन के बाहर खड़े सैनिकों के सम्मुख ओजस्वी भाषण देते हुए कहा कि "यदि नेपोलियन कभी भी निरंकुशता दिखलावे तो मैं पहला आदमी हूँगा जो यह तलवार इसको भोंक दूंगा।" उसका यह कहना था कि बाहर खड़े हुए सैनिक सभा भवन में घुस गये तथा सदस्य सभा भवन छोड़ कर भाग निकले। सायंकाल को पुनः दोनों सदनों की बैठक हुई जिसमें प्रस्ताव पारित् कर संचालक-मंडल (डायरेक्टरी) को समाप्त घोषित् करते हुए इसके स्थान पर तीन कॉन्सल या कोंसल नियुक्त किये गये। यह तीन कोंसल नेपोलियन बोनापार्ट, सिए और ड्यूकोस थे इसके साथ ही कुछ समितियाँ भी गठित की गई; जो कोंसल को नये विधान बनाने में सहयोग देने के लिए थी। इस प्रकार सत्ता हस्तगत करने की नेपोलियन-योजना पूर्ण हुई तथा वह 11 नवम्बर को पैरिस लौट आया। यह घटना फ्रांस में बगैर एक बून्द रक्त बहाये पूर्ण हुई थी तथा इसके घटित होने से यूरोप के इतिहास में कई बार युद्धों

में मानव रक्त बहा था। नेपोलियन इन कौंसलों में प्रथम कौंसल था अतः उसने देश में सुधार करने के लिए कई कार्य किये जिनमें संविधान की रचना, सैनिक अभियान एवं आन्तरिक सुधार मुख्य है। अब हम नेपोलियन के कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

प्रथम कॉन्सल-नेपोलियन की उपलब्धियाँ:—नेपोलियन ने 1799 ई. से 1802 ई. तक फ्रांस के प्रथम कॉन्सल के पद पर कार्य किया था। इस काल में अनेक समस्याएँ उसके सम्मुख थी किन्तु कुछ मुख्य समस्याओं पर उसने अधिक ध्यान देकर फ्रांस में व्यवस्था को शक्तिशाली बनाया।

(1) नया संविधान :—फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् चौथी बार संविधान परिवर्तन की आवश्यकता हुई। इसका कारण था कि डायरेक्टरी के शासन के स्थान पर कॉन्सल-शासन की व्यवस्था प्रारम्भ की गई थी। यह संविधान नेपोलियन ने शासन सम्भालने के एक माह में ही लागू कर कार्यान्वित कर दिया गया। नेपोलियन ने प्रथम कॉन्सल के अधिकार का प्रयोग कर अपने पूर्व कॉन्सल साय्री-सिए एवं ड्यूकोस के स्थान पर केम्बेसरी तथा लीब्रन को कॉन्सल नियुक्त कर अपने एकाधिकार को स्थापित किया। संविधान में नेपोलियन, केम्बेसरी तथा लीब्रन का कॉन्सल के रूप में नामाउल्लेख करते हुए कार्यपालिका की शक्तियाँ तीनों कॉन्सल में निहित की गई। किन्तु सर्वोच्च शक्ति प्रथम कॉन्सल को प्रदान की गई उसे अन्य देशों के साथ युद्ध अथवा संधि करने, विदेशों में राजदूत भेजने, मन्त्रियों, सैनिक अधिकारियों, न्यायाधीशों, राज्य के उच्च पदाधिकारियों आदि के अधिकार दिये गये। कॉन्सल का निर्वाचन सीनेट द्वारा 10 वर्ष के लिए होता था। किन्तु मध्य में वह अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उन्हें हटा भी सकती थी।

कार्यपालिका के अतिरिक्त संविधान में व्यवस्थापिका की दृष्टि से चार संस्थाओं की व्यवस्था रखी गई थी।

(अ) राज्य परिषद् :—इस परिषद् में नेपोलियन द्वारा मनोनीत कुछ विशेषज्ञ होते थे। यह लोग विधेयकों का प्रारूप तैयार करते थे।

(ब) ट्रिब्यूनेट :—राज्य परिषद् द्वारा तैयार किये गये विधेयकों पर वाद-विवाद करती थी किन्तु इसे मत देने का अधिकार नहीं था। इसके सदस्यों का निर्वाचन सीनेट के द्वारा 10 वर्ष के लिए किया जाता था। इसकी सदस्य संख्या 100 होती थी।

(स) व्यवस्थापिका—इसके सदस्यों की संख्या 300 थी। इन सदस्यों का निर्वाचन भी 10 वर्ष के लिए सीनेट द्वारा किया जाता था। व्यवस्थापिका के सम्मुख रखे गए विधेयकों पर गुप्त मतदान प्रणाली के आधार द्वारा इसके सदस्य मत दे सकते थे किन्तु विधेयकों पर विवाद करने का अधिकार नहीं था।

(द) सीनेटः—यह एक निर्वाचित् संस्था थी। इसमें 80 आजीवन सदस्य की व्यवस्था थी। यह संस्था संविधान की संरक्षिका मानी जाती थी। इसका कार्य यह निर्णय करना था कि जो कानून बनाया गया है वह संविधान के अनुकूल है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त यह कॉन्सलों, ट्रिब्यूनेट के सदस्यों एवं व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन भी करती थी। किन्तु अप्रत्यक्षतः प्राप्त सूचियों में से ही चुनाव करना पड़ता था। ऐसी सूचियां नेपोलियन द्वारा ही प्रस्तुत होती थी। इस प्रकार संविधान में फ्रांस के नागरिकों को मताधिकार प्रदान कर एक ढोंग रचा गया था। वास्तविक रूप में नेपोलियन ने जन-प्रभुत्व के स्थान पर निज-प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। फ्रांस में अपने सुधारों को लागू कर इस निज-प्रभुत्व पर लोकप्रियता की छाप और लगवा दी थी।

नेपोलियन द्वारा बनवाया गया उपरोक्त संविधान प्रजातान्त्रिक स्वरूप लिए एकतन्त्रात्मक था। यह तन्त्र नेपोलियन द्वारा नियंत्रित था। इस विधान में मानव अधिकारों की चर्चा तक नहीं की गई थी। इतिहासकार ड्रमन्ड के अनुसार "उसने (नेपोलियन) लोकतन्त्र को नष्ट करने के लिए लोकतन्त्रिय तरीकों का ही प्रयोग किया।" 1805 ई. में सीनेट द्वारा उसे मृत्युपर्यन्त कॉन्सल बने रहने का अधिकार प्रदान किया गया था और 1804 ई. में महत्वाकांक्षी नेपोलियन ने स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया। हम नेपोलियन के इस मार्ग की ओर ले जाने वाले उसके सुधारों को देखें जो कि लोक प्रिय हुए थे और नेपोलियन की उन्नति का आधार थे। कहा भी जाता है कि "नेपोलियन की ख्याति उसके द्वारा लड़े गए 39 युद्धों के कारण नहीं अपितु उसके द्वारा फ्रांस में किए गये सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक सुधारों का फल है। इन सुधारों के द्वारा फ्रांस के समाज और राजनीति में जो परिवर्तन आया वह भी एक क्रान्ति थी।

(2) नेपोलियन की व्यवस्था या सुधार :— नेपोलियन का ध्येय सामाजिक समानता स्थापित करना था। नेपोलियन कहता था कि "जनता स्वतन्त्रता नहीं चाहती अपितु समानता और बन्धुत्वता चाहती है।" इसी भावना से कार्य करते हुए प्राचीन मतभेद, दलबन्दी, और झगड़ों को भुलाकर सभी को समान स्थान दिया। परन्तु जो भी उसकी ओरसे असन्तुष्ट हुए उनको उनके सथा नष्ट करने में हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। उसने फ्रांस और स्वयं के प्रति वफादारी को ही प्राथमिकता प्रदान कर कुलीनों, पादरियों, अन्य भगोड़ों को फ्रांस में आमंत्रित किया, पूजा में छुट प्रदान की, सरकारी पद समान शर्तों पर सभी के लिए खोल दिए। इस प्रकार नेपोलियन ने फ्रांस की जनता को खुश करने के लिए निम्नलिखित सुधारात्मक मार्ग अपनाये थे :

(अ) प्रशासनिक सुधारः—राष्ट्रीय महासभा द्वारा फ्रांस की प्रशासनिक व्यवस्था को 83 देपारतमां (डिपार्टमेन्ट या विभागों) में विभाजित किया गया था। प्रत्येक देपारतमां का वहां का निर्वाचित् प्रतिनिधि होता था। डायरेक्टरी के

शासन में अधिकारी-निर्वाचन-पद्धति के स्थान पर नियुक्ति-प्रणाली प्रारम्भ की गई थी। नेपोलियन ने इसे ठोस रूप प्रदान करते हुए सम्पूर्ण फ्रांस को 83 **देपारतमां** में बांट दिया। प्रत्येक देपारतमां का अधिकारी **प्रिफेक्ट** कहलाता था। यह फ़िफेक्ट अधिकांशतः सैनिक अधिकारी होते थे। इनकी नियुक्ति नेपोलियन द्वारा की जाती थी और यह नेपोलियन के प्रति उत्तरदायी होते थे। देपारतमां या जिलों को उप-विभागों अर्थात एरोण्डिजमेन्ट (आदुए) में बांटा गया था। 83 देपारतमांओं में 318 **अरादुए** थे। अरादुए का अध्यक्ष **सब-प्रिफेक्ट** कहलाता था। अरादुए पुनः नगर या कम्यून में बंटे हुए थे। प्रत्येक कम्यून का अधिकारी **मेयर** होता था। मेयर तथा सब-प्रिफेक्ट की नियुक्तियाँ भी नेपोलियन द्वारा की जाती थी। सैनिक होने के कारण वह अधिकारियों और कर्मचारियों के जीवन एवं कार्यों में कर्मठता, कार्यकुशलता व अनुशासन का प्रबल समर्थक था। उसने प्रशासनिक कार्यों में क्षणिक शिथिलता प्रदर्शित करने पर अधिकारियों और कर्मचारियों को कठोर दण्ड देने में शिथिलता नहीं दिखलाई। परिणामस्वरूप केन्द्रिकृत शासन होते हुए भी जन सामान्य का जीवन सुरक्षित और शान्तिपूर्ण हो गया था। नेपोलियन की प्रशासनिक व्यवस्था का आधार नौकरशाही था फिर भी उसके कठोर नियंत्रण ने इसे कल्याणकारी व्यवस्था में बदल दिया था।

(ब) आर्थिक सुधारः नेपोलियन जानता था कि आर्थिक संकट के कारण ही फ्रांस में राजतन्त्र एव गणतन्त्र के शासन का अन्त हुआ है। अतः उसने प्रथमतः कर प्रणाली में सुधार किए। कर एकत्रित करने वाली संस्थाओं एवं ठेकेदारी-प्रणाली को समाप्त कर सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये। आयकर आय के अनुसार निर्धारित करते हुए बकाया करों की राशि को वसूल करने और कोष में जमा कराने की विशेष व्यवस्था की गई। भ्रष्ट एव बेईमान कर्मचारियों को कठोरतापूर्वक दण्डित किया जाने लगा। प्रत्यक्ष करों को समाप्त कर दिया गया यद्यपि इससे जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ गया था। किन्तु राज्य के खर्च में कमी कर मितव्ययता के मार्ग को अपनाने, सट्टेबाजी एवं स्टॉक एक्सचेंज पर नियंत्रण, सिक्कों के स्तरीकरण, पराजित् देशों से सैन्य एवं व्यवस्था खर्च की वसूली आदि द्वारा राज्य की आय को व्यवस्थित् किया गया। इसके साथ-साथ व्यापार एवं वाणिज्य के सुधार हेतु 1800 ई. में बैंक ऑफ फ्रांस की स्थापना की गई। इसी क्रम में "राष्ट्रीय उद्योग समिति" का गठन भी किया गया था। उसने व्यापारिक संघों को भी समाप्त कर दिया। पूंजी-पतियों एवं श्रमिकों के विवादों को सुलझाने के लिए व्यावसायिक समितियों का निर्माण किया। बेकारों को काम दिलाने की व्यवस्था की गई। चोर बाजारी, मुनाफाखोरी तथा जमाखोरी करने वालों के लिए दण्ड व्यवस्था कठोर रखी गई। कृषि के विकास के लिए सिंचाई एवं नहरों का प्रबन्ध किया गया, भूमि वितरण प्रणाली [illegible]

गया। खाद्य-सामग्री की वितरण प्रणाली एवं यातायात साधनों में सुधार के साथ-साथ फ्रांस में हिसाब-किताब की शुद्धता के लिए दशमलव पद्धति को लागू किया गया। आर्थिक सुधार हेतु नवीन प्रयोगों और मशीनों के अविष्कार हेतु इनाम आदि द्वारा प्रोत्साहन मार्ग अपनाया गया। इनके परिणामस्वरूप फ्रांस की आर्थिक स्थिति सुधार की ओर अग्रसर होने लगी। नेपोलियन की योजनाएं कितनी दूरदर्शी होती थीं इसका उदाहरण हमें स्वेज नहर की कल्पना से मिलता है जो नेपोलियन की एक आकांक्षा थी। यद्यपि यह योजना उसकी मृत्यु के पश्चात् पूरी हुई थी किन्तु उसकी उपयोगिता आज भी सर्वविदित है।

(स) शिक्षा-सम्बन्धी सुधारः—नेपोलियन ने प्राथमिक, उच्च माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय के तीन स्तरों में शिक्षा को वर्गीकृत किया। यद्यपि आंतक के शासन में कन्वेंशन द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बन चुकी थी किन्तु नेपोलियन ने उसमें कुछ परिवर्तन कर उसे लागू कर दी। शिक्षकों को केन्द्र से चयन तथा वेतन की प्रणाली अपनाई गई। नेपोलियन शिक्षा को धर्म से मुक्त मानते हुए इसे राजनीति का साधन मानता था। वह मुक्त चिन्तन की शिक्षा में विश्वास नहीं रखता था। हिटलर के नाजी-शिक्षा के सिद्धान्त मुख्यतः नेपोलियन के शिक्षा-सिद्धान्तों पर ही आधारित् थे। नेपोलियन ने शिल्प कला, मूर्तिकला, चित्र कला, संगीत कला. काव्य कला तथा व्यवसाय-विज्ञानों को प्रोत्साहन दिया विश्व विद्यालय में स्नातक को ही अध्यापक बनाया गया। इन अध्यापकों की नियुक्ति एवं निर्वाचन भी नेपोलियन ही करता था। पेरिस विश्व विद्यालय का पुनर्गठन कर फ्रांस की सम्पूर्ण शिक्षा को उससे सम्बन्धित कर दिया गया। निर्धन छात्रों को छात्रवृतियाँ प्रदान की जाने लगी। शोध कार्यों के लिए अलग संस्था खोली गई। नेपोलियन अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध था अतः पुस्तक, प्रेस, थीयेटर, ऑपेरा आदि पर उसका नियंत्रण था। वह स्वतन्त्रता को निश्चित् सिद्धान्त तक स्वीकार करता था वह कहता था "अच्छे तरीके अच्छे मास्तिष्क का निर्माण करते हैं और अच्छे सिद्धान्त अच्छे नागरिक।"

(द) विधि संहिता (नेपोलियन कोड):—1792 ई. में फ्रांस के भिन्न-भिन्न असमान कानूनों को सुधारने के तथा नये कानून बनाने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की गई। नेपोलियन ने इस कार्य को आगे बढ़ाते हुए 1804 ई. में न्यायधीशों एवं कानून के विशेषज्ञों का एक आयोग गठित किया। स्वयं नेपोलियन ने इस आयोग कीबैठकों में भाग लेकर 4 माह के कठोर परिश्रम के पश्चात् फ्रांस को ऐसी विधि संहिता प्रदान की जिसका अनुसरण हालैण्ड, बेल्जियम, जर्मनी तथा इटली ने भी किया। यद्यपि इस संहिता में कोई नई बात नहीं थी अपितु फ्रांस के अब तक बने कानूनों का मिश्रण ही थी। किन्तु इसमें सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार के अनुभवों की छाप थी। यह विधि संहिता नेपोलियन-कोड के नाम से विख्यात और ने

हुई। उसका आधार सामाजिक सामानता, धार्मिक स्वतन्त्रता एवं आर्थिक नियंत्रण पर आधारित था। नेपोलियन-कोड में वर्गीकरण के अनुसार पाँच भाग हैं—(1) नागरिक नियम (सिवील कोड), (2) सम्पत्ति सम्बन्धी नियम (3) नागरिक नियम पद्धति (4) फौजदारी नियम तथा (5) व्यापारिक नियम। नेपोलियन-कोड में पारिवारिक अनुशासन को अत्यधिक महत्व दिया गया था क्योंकि नेपोलियन इसे राष्ट्रीय अनुशासन की प्रथम पंक्ति मानता था। इसके अनुसार प्रत्येक परिवार का एक प्रधान माना गया जो कि परिवार के सभी सदस्यों का अधिकारी होता था। पुत्रों की आय पर भी उसका अधिकार होता था। स्त्रियों का पूर्णतः अपने पति के अधीन रख कर उन्हें अधिकारों से वंचित कर दिया गया। सिविल मैरेज तथा तलाक को मान्यता प्रदान कर इन पर लगे धार्मिक हस्तक्षेप हटा दिए गए। नेपोलियन के यह पारिवारिक कानून फ्रांस में कठोर पिताओं, आज्ञाकारी पुत्रों तथा परतन्त्र स्त्रियों की कल्पना द्वारा उत्पन्न हुए थे। भू-स्वीमात्व के नियम इतने कठोर किये गए जितने प्राचीन काल में भी नहीं थे। इससे किसानों की भूमि छीनने का अधिकार जाता रहा और वे नेपोलियन के भक्त हो गए। उसने मजदूरों की बढ़ती शक्ति पर अंकुश लगाया, ट्रेड युनीयनों को अवैध घोषित किया तथा कानून के सामने मालिकों को बड़ा माना। इसलिए कहा भी जाता है कि "नेपोलियन की समानता एक दिखावा थी, वह पूंजीवादी व्यवस्था का पोषक तथा बुर्जुआ क्रान्ति के चरमोत्कर्ष का केन्द्र था।" इतना होते हुए भी नेपोलियन के कानूनी सुधार फ्रांस एवं उसके लोगों के लिए महान उपलब्धि थे। हेज के अनुसार "फ्रांस की यह विधि संपिता हमें बहुत दिनों तक याद दिलाती रही की संसार का वह सबसे लाभदायक एवं सुखप्राद विधान था।" इसके द्वारा फ्रांस में कानूनी अराजकता निष्प्राण हो गई। सार्वजनिक क्षेत्र में नेपोलियन की यह अविस्मरणीय देन थी। नेपोलियन स्वयं भी कहता था" मेरी ख्याति तलवार में नहीं बल्कि मेरे कानूनों से है।" नेपोलियन वास्तव में एक नया जस्टिनियम (विधि निर्माता) था।

(घ) धार्मिक-सुधारः—फ्रांस की क्रान्ति के समय विश्वास प्रचलित था कि पादरी-क्रान्ति के विरोधी हैं। अतः गिरजाघरों की सम्पति जब्त कर उनको राज्य से वेतन दिया जाने लगा था। पादरियों को संविधान, देश और क्रान्ति के प्रति शपथ लेना अनिवार्य था। इस शपथ को नहीं लेने पर पादरियों को 'गुलोतीन' कर दिया जाता था नेपोलियन ने भी सेनानायक के रूप में 1796 ई. के इटली अभियान में रोम पर आक्रमण कर पोप को बन्दी बनाया था। कैथोलिक धर्म और पोप के प्रति राज्य की इस नीति से धार्मिक-आस्थावान लोग प्रसन्न नहीं थे। नेपोलियन ने इसी तथ्यों के फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में रचनात्मक नीति का अनुसरण किया।

केटलबी के अनुसार नेपोलियन के लिए धर्म मात्र उपयोगी राजनीतिक-

साधन, राष्ट्र की कल्पना को आकृष्ट करने वाला केन्द्र, सामाजिक बन्धन और रक्षा का माध्यम था। इसीलिए उसने जून 1801 ई. में पोप पायस सप्तम के साथ विचार-विमर्श कर एक समझौता किया। इस समझौते को कनकार्दा अथवा कन्कोदार्त्त कहा जाता है। इसके अनुसार पादरियों की नियुक्त नेपोलियन द्वारा होगी किन्तु उन्हे पद-विभूपित करने का कार्य पोप करेगा। राज्य के प्रति शपथ ग्रहण करने वाले पादरियों को भी चर्च मान्यता देगा। चर्च की सम्पत्ति नहीं लौटाई जाएँगी अपितु गिरजाघर वापस दे दिये जाएँगें। पादरियों को राज्य वेतन देगा और वे फ्रांस के गणतन्त्र और कॉन्सल के लिए प्रार्थना करेगें। ईसाई धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों को भी स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इन समझौतों के कारण ही नेपोलियन को "द्वितीय कॉसंटेन्टाइन" भी कहा जाता है वह कहता था कि "मैं मिश्र में मुसलमान, फ्रांस में रोमन, तथा यहूदी में सोलोमन हूँ। लोग कहते हैं कि मैं पोप का अनुयायी हूँ परन्तु मैं कुछ भी नहीं। मनुष्य का कोई न कोई धर्म अवश्य होना चाहिए, वह धर्म सरकार के हाथ में होना चाहिए। मैं फ्रांस की जनता की प्रसन्नता के लिए कैथोलिक होकर रहूँगा। मैं भगवान में विश्वास नहीं करता "इस प्रकार नेपो-लियन का अपना कोई धर्म नहीं था अपितु वह धर्म को राजनीतिक हथियार के रूप में काम ले रहा था। नेपोलियन की इस कार्यवाही से फ्रांस की अधिकांश जनता सन्तुष्ट हो गई थी।

(क) सार्वजनिक-कार्यः—अपने शासन-काल में अधिकतर युद्धों में व्यस्त होते हुए भी नेपोलियन ने सार्वजनिक निर्माण और जनहित कार्यों में रुचि प्रदर्शित की थी। उसने युद्ध-बन्दियों से सड़के, नहरें तथा पुलों का निर्माण कार्य कराया था। पेरिस से उत्तरी इटली तक का राजमार्ग बनवाकर संचार-व्यवस्था को सरल किया। पेरिस के चारों ओर भव्य सड़कों का निर्माण कराया। यद्यपि पेरिस-इटली का मार्ग सैनिक सुविधा को ध्यान में रख कर बनाया गया था किन्तु इससे व्यापारियों को भी लाभ हुआ था। 1811 ई. तक फ्रांस में 229 राजपथों का निर्माण कर पेरिस को देश के प्रत्येक कोने से जोड़ दिया गया। पेरिस को कला-कृतियों और बागों से सजा कर संसार का सुन्दर नगर बना दिया। वह आधुनिक पेरिस का निर्माता था। विजय अभियानों में देश-विदेश की कला को पेरिस में लाकर "लुब्रे के संग्रहालय" को संसार का श्रेष्ठ संग्रहालय बना दिया। उसके स्थापत्य-प्रेम का प्रतिक पेरिस का "चर्च ऑफ मिडिलियानी" है।

(ख) अन्य सुधारः—नेपोलियन ने भी पदोन्नति का आधार योग्यता बनाया था। उसने पादरियों एवं कुलीनों के विशेषाधिकार तो नहीं लौटाये किन्तु क्रान्ति काल में किये गए कार्यो के प्रति उन्हें क्षमा कर दिया। इसके फलस्वरूप 40 हजार

से अधिक परिवार फ्रांस छोड़ कर गये थे वापिस फ्रांस आ गये। नेपोलियन ने उनकी सम्पति को लौटाने का विश्वास दिलाया। नेपोलियन ने जन साधारण एवं पदाधिकारियों में राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित करने के लिए 'सत्कार वितरण' प्रारम्भ किया। इसके लिए 'लीजियन ऑफ ऑनर' नामक संस्था का गठन किया। इसके द्वारा समाज और राज्य के प्रति अद्वितीय सेवा करने वालों को सैनिक तथा नागरिक सत्कार की उपाधियाँ दी जाती थी।

इन उपरोक्त सुधारों को देख कर यही कहा जा सकता है कि जो कार्य जर्मन में बिस्मार्क, रुस में स्टालीन चीन में चांगकाउशेक एवं टर्की में मुस्तफा कमालपाशा ने किया उससे भी बाद कर फ्रांस के लिए नेपोलियन किया। इसीलिए कहने में किंचित् भी संकोच नहीं है कि नेपोलियन की ख्याति उसके साहस सूझ तथा सुधारों से है।

(3) **कोन्सल के रुप में सैनिक अभियान**—प्रथम कोन्सल बनते ही नेपोलियन ने अभियानों की सार्थक योजना बनाने का कार्य किया। क्योंकि सेनापति के रुप में की गई उसकी सभी कार्यवाहियां यूरोपीय शक्तियों के द्वितीय गुट-संगठन ने नष्ट कर दी थी। कैम्पोफोमियां की सन्धि टूट चुकी थी। फ्रांस-द्वारा स्थापित गण-राज्य समाप्त कर दिये गये थे। नेपोलियन ने यूरोपीय-गुट के तीन राष्ट्रों आस्ट्रेलिय, इंग्लैंड तथा रुस में से रुस के साथ सम्पर्क किया। इस समय रुस का जार कैथराइन का निकम्मा पुत्र था। उसने नेपोलियन के प्रभाव में आकर युद्ध से पृथक होते हुए, इंग्लैण्ड के विरुद्ध चार उत्तरीराज्यों का तटस्थ संघ बनाकर इंग्लैण्ड के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी तोड़ दिय इंग्लैण्ड को कूट नीति के द्वारा दुर्बल बनाकर नेपोलियन ने आस्ट्रेलियां पर आक्रमण किया। यह आक्रमण आल्पस को लांघ कर एक सप्ताह की अवधि में किया गया था। आस्टेलिया की सेनाएं सभी जगह पराजित हुई। अतः बाध्य होकर 9 फरवरी 1801 ई० को आस्ट्रेलिया द्वारा लूनेविले की सन्धि की गई। यह सन्धि कैम्पोफोमिया की प्रतिलिपि ही थी इंग्लैण्ढ ने चार तटस्थ राज्यों के विरुद्ध अभियान में कोपनहेगन में डेनमार्क के समुद्री बेड़े को पूर्णतः नष्ट कर दिया। 20 अप्रेल 1801 में डेनमार्क की पराज के बाद नेपोलियन को इंग्लैण्ड से युद्ध करते रहने में कोई लाभ नहीं दिख रहा था। इंग्लैण्ड भी 10 वर्ष तक संघर्ष करते करते उब चुका इंग्लैण्ड की घरेलू स्थिति भी युद्ध करने के लिए बाध्य कर रही थी। अतः बगैर शर्त युद्ध बन्दी के लिए 27 मार्च 1802 ई. में **अमीनस** सन्धि की गई। इसके अनुसार एक-दूसरे के किए प्रदेश लौटाये गए। लुनेविले की संधि को इंग्लैंड ने मान्यता दे दी। किन्तु दोनों के मध्य एक वर्ष ही शान्ति रही। मई में पश्चात् इंग्लैण्ड द्वारा फ्रांस पर आक्रमण कर दिया गया। इसके 1803 ई.दोनों के मध्य

वाटरलू की पराजय 1815 ई. तक युद्ध चलता रहा। इस प्रकार नेपोलियन पुनः युद्धों का देवता बन गया था।

(4) कादूदाल षडयन्त्र—1893–1804 ई. के लगभग फ्रांस में बूर्बों राजवंश के समर्थक पुनः सक्रिय हो गए थे। उनमें से कुछ ने नेपोलियन को समाप्त करने का षडयन्त्र भी रचा था। किन्तु यह असफल हो गया। इसी प्रकार लन्दन में रह रहे लुई सोलहवें के भाई आर्त्वा के काउन्ट को फ्रांस का राजा बनाने की असफल योजना भी बनाई गई। इसके मुख्य नेता–जा जंकादूलाल और पीशेग्र थे। कादूलाल और उसके साथियों को कैद कर गोलियों से उड़ा दिया एवं पीशेग्र कारावास में ही मर गया था। इस घटना से नेपोलियन के मन में सम्राट बनने की इच्छा अधिक प्रबल हो गई। इसके लिए अप्रत्यक्षतः नेपालियन की इच्छानुसार ट्रीब्यूनेट में जनतन्त्र को समाप्त कर नेपोलियन को सम्राट बनाने का प्रस्ताव रखा गया। सीनेट ने यह प्रशताव स्वीकार करते हुए नेपोलियन को सम्राट घोषित कर दिया।

सम्राट के रुप में नेपोलियन

सीनेट में घोषित किया गया कि "यह परिवर्तन फ्रांसीसी जनता के हितों को दृष्टि में रखमें रखते हुए किया गया है।" इसके पश्चात् 35 लाख के बहुमत से जनता द्वारा नेपोलियन को सम्राट स्वीकार कर लिया गया। 2 दिसम्बर 1804 ई. को नेपोलियन का राज्यभिषेक धूम-धाम के साथ नोटरडम के गिरजाघर में पोप के सम्मुख सम्पन्न हुआ था। नेपोलियन ने राजमुकुट पोप के हाथों ने नहीं अपितु अपने हाथों द्वारा अपने सिर पर रख लिया। नेपोंलियन का यह कार्य उसकी महत्वाकांक्षा के अनुरूप ही था। उसने स्वयं लिखा है कि "मुझे फ्रांस का मुकुट धूल में पड़ा मिला और मैने उसे तलवार की नोंक से उठाकर पहन लिया।"

सम्राट बनने के पश्चात् वह सम्पूर्ण यूरोप की शान्ति के लिए एक शक्तिशाली यूरोपीय सम्राट की कल्पना स्वयं के रूप में देखना लगा। 1804 ई. से 1810 ई. का उसका शासनकाल इस कल्पना को पूर्ण करने का संघर्ष काल ही था। अपनी मृत्यु तक व यूरोप का सम्राट बनने के लिए युद्धों में उलझा रहा जिनमें उसे कई बार सफलता मिली किन्तु अन्ततः इसका परिणाम उसका पतन एवं मृत्यु ही रहा।

यूरोपीय सम्राट बनने के प्रयास—जैसाकि नेपोलियन के कॉन्सल के शासन काल में लिखा जा चुका है कि 18 मई 1803 ई. को इंग्लैण्ड ने पुनः फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसका मूलतः कारण दोनों देशों की आर्थिक प्रतिस्पर्धा थी किन्तु नेपोलियन की औपनिवेशिक नीति, इटली के गणतन्त्र का

अध्यक्ष पद, फ्रांस के मित्र देशों द्वारा इंग्लैण्ड के माल पर चुंगी की ऊँची दरें लगाना, नौ-सैनिक युद्ध की तैयारी तथा नेपोलियन द्वारा इंग्लैण्ड की आलाचना जैसे कई कारण सम्मिलित रहे थे। फ्रांस के शक्तिशाली बनने के पूर्व इंग्लैण्ड ने युद्ध घोपित् कर नेपोलियन को आश्चर्य चकित कर दिया था। फिर भी नेपोलियन ने इंग्लैण्ड का प्रत्यूत्तर देने हानोवर जर्मन) पर लिया। इससे जर्मन के बन्दरगाह इंग्लैण्ड के लिए बन्द हो गये। इसके साथ-साथ वूलों के बन्दरगाह पर नेपोलियन ने एक विशाल सेना रख कर इंग्लैण्ड के व्यापार को नष्ट करने की योजना बनाई। नेपोलियन इंग्लैण्ड को आर्थिक युद्ध द्वारा झुकना चाहता था। किन्तु इंग्लैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध स्वीडन, रूस एवं आस्टिया का तीसरा गुट बना लिया। यद्यपि प्रशा की सहानुभूति यूरोपीय गुट की ओर थी परन्तु प्रशा ने तटस्थ बने रहने का आ आग्रह कर फ्रांस के विरुद्ध मोर्चा नहीं खोला। नेपोलियन ने अपनी नीति को बदल कर इंग्लैण्ड के स्थान पर आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। क्योंकि आस्ट्रिया ही ऐसा देश था जो बार-बार पराजित होने पर भी फ्रांस के विरुद्ध यूरोप के गुट में सम्मिलित होता आ रहा था।

नेपोलियन ने 13 नवम्बर 1805 ई. को आस्ट्रिया की केना को जर्मनी के रास्ते जाकर पीछे ने आक्रमण द्वारा पराजित कर दिया। नेपोलियन अपनी सेना सहित आस्ट्रिया की राजधानी वियना में घुस गया। इसी समय प्रशा भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। आस्ट्रिया और प्रशा की सम्मिलित सेनाएँ 2 दिसम्बर 1805 ई. को आस्टरजिल के युद्ध में नेपोलियन द्वारा परास्त कर दी गई। यह विजय राज्यभिषेक की वर्षगांठ का तोहफा थी। इस युद्ध के बाद प्रेस वर्ग की सन्धि द्वारा आस्ट्रिया के बहुत से प्रदेश छीन लिए गए तथा उसे तृतीय गुट से अलग होना पड़ा। 1806 ई. में प्रशा को पुनः ओस्टार्ड और जेना के युद्ध में करारी हार का मुंह देखना पड़ा। प्रशा के साथ सन्धि में पौलेण्ड के एक भाग पर नवीन राज्य "वार्सा की डची" की स्थापना की गई और नेपोलियन को मित्र सैक्सनी को इसका शासक बनाया गया। प्रशा की सेनाएं कम करते हुए क्षति- पूर्ति अदा नहीं करने तक प्रशा में फ्रांस की सेनाएं रख दी गई। इस युद्ध में की सेनिक अयोग्यता का प्रदर्शन यूरोप के सम्मुख स्पष्ट हो गया।

आस्ट्रिया एवं प्रशा के पश्चात् इंग्लैंण्ड को छोड़ कर यूरोप में फ्रांस का एक शत्रु रूस शेप था। जून 1807 ई. में नेपोलियन ने रुस के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। फीडलैंड के युद्ध में रुस की हार हुई। जार में नेपोलिन से टिलसिट की सान्ध कर यूरोप को पूर्वी भाग पर रुस के तथा पश्चिम भाग पर फ्रांस के प्रभाव को स्वीकार कर लिया। रुस ने इंग्लैण्ड के साथ व्यापार नहीं करने का वचन दिया। उत्तरी यूरोप के तटीय राज्यों- डेनमार्क, पुर्तगाल और स्वीडन ने भी फ्रांस को इंग्लैण्ड से व्यापार करने का वचन दिया।

इंग्लैण्ड को छोड़ कर इस समय तक नेपोलियन ने यूरोप की सभी शक्तियों को पराजित कर अपनी कीर्ति चारों और फैला दी थी। वह यूरोप का सार्वाधिक शक्तिशाली सम्राट हो गया था। लगातार 3 वर्षों में तीन शक्तियों को पराजित करने का कार्य अभी तक सेनानायक ने नहीं किया था जो कि नेपोलियन ने अपने उदम्य साहस द्वारा कर दिखलाया। टिलासिट की सन्धि के साथ ही यूरोप का तीसरा गुट भी समाप्त हो गया। ने अब सारा ध्यान इंग्लैंड पर केन्द्रीत किया। वह जानता था कि जल युद्ध में फ्रांस कभी भी इंग्लैंड के साथ आर्थिक युद्ध को तेज करते हुए एक योजना बनाई। यह योजना **'महाद्वी- व्यवस्था'** के नाम से प्रसिद्ध है।

महाद्वीपीय व्यवस्था—इंग्लैण्ड का जीवन महाद्वीप के वाणिज्य और व्यापार पर निर्भर करता था। यदि उसे नष्ट कर दिया जाय तो इंग्लैण्ड विवश होकर फ्रांस से हार स्वीकार कर लेगा। इसी योजना को महाद्वीपीय व्यवस्था अर्थात् इंग्लैन्ड की आर्थिक नाकेबन्दी कहा गया।

1792 ई. में कन्वेंशन की सरकार द्वारा इंग्लैण्ड के सामान के आयात पर रोक लगा दी गई थी। किन्तु उस समय फ्रांस के उद्योगों का पूर्णतः विकास नहीं होने के कारण फ्रांस की यह नीति सफल नहीं हो सकी। 1792 ई. से 1803 ई. के मध्य फ्रांस के उद्योगों का विकास तेजी से हुआ था। 1801 ई. में नेपोलियन ने हालैण्ड, वेल्जियम, और इटली के प्रदेशों में चुंगी की दरें ऊंची करवा कह वां इंग्लैण्ड के सामान का आयात रोकने में सफलता प्राप्त की थी। 21 नवम्बर 1806 ई. में नेपोलियन जब वर्लिन में था तब उसन अपने मित्र राष्ट्रों और अधीन राज्यों को इंग्लैण्ड के साथ व्यापार रोकने के आदेश प्रसारित् किये। यह आदेश **वर्लिन आदेश** के नाम से पुकारे गए। इसके अनुसार फ्रांस एवं यूरोप के वन्दरगाह इंग्लैण्ड के जहाजों के लिए वन्द किये जाने, इंग्लैण्ड के उपनिवेशों के साथ भी व्यापार न करने तथा तटस्थ देशों के जहाजों को इंग्लैण्ड जाते समय लूटने की स्वतन्त्रता के आदेश दिये गए थे।

नेपोलियन ने रूस की ओर जाते हुए 25 जनवरी 1807 ई. को **वारसा आदेश** 17 दिसम्बर 1807 ई. को रूस से लौटते हुए **मिलान आदेश** तथा 18 अक्तूबर 1810 ई. को फांस से **फातेब्लू आदेश** प्रसारित कर वार्लिन आदेश को ही दोहराया। फातेब्लू आदेश में नेपोलियन ने घोषित किया कि फ्रांसीसी साम्राज्य में पाया जाने वाला समस्त ब्रिटिश-याल जब्त कर जला दिया जाए तथा अवैद्य ढंग से ब्रिटिश माल का आयात करने वालों को दण्डित करने के लिए; विशेष न्यायालय स्थापित कर कठोर से कठोर दण्ड दिये जायें। इन आदेशों का पालन कराने में नेपोलियन ने स्वयं रुचि ली। उसने देशों को दण्ड दिया जिन्होंने महा-

द्वीपीय नीति का विरोध किया। उसने हालैण्ड और पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया और प्रशा, आस्ट्रिया, और स्वीडन को यह योजना स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उसने स्वयं फ्रांस, इटली, राइन संघ और वारसा की ग्राण्ड डची में आदेश के पालनार्थ कार्यवाही का संचालन किया।

इंग्लैण्ड का प्रत्युत्तर—यूरोप के अधिकांश देश नेपोलियन से भयभीत थे अतः उन्होंने ऊपरी मन से इस योजना को स्वीकार कर लिया था। पर व्यवहार में इस योजना को अंगीकार करने का तात्पर्य अपने अपने देश को आर्थिक संकट में डालना था। उस समय में यूरोप के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था इंग्लैण्ड को कच्चा माल निर्यात करने; तथा बदले में तैयार माल को आयात करने पर निर्भर थी। नेपोलियन अपनी सैनिक सफलता के गर्व में इस तथ्य को भूल गया था कि यह योजना यूरोप के देशों में आर्थिक मंदी को उत्पन्न ही नहीं करेगी बल्कि वहां की जनता में असंतोष और फ्रांस प्रति वैमनस्य को भी जन्म दे देगी। ऐसा हुआ भी क्योंकि इंग्लैण्ड इस तथ्य से परिचित था। यद्यपि नेपोलियन की घोषणाओं से इंग्लैण्ड घबरा गया था और टिलसिट की संधि से रूस द्वारा प्रदत्त आश्वासन निश्चित्तः इंग्लैण्ड के लिए एक खतरा था। किन्तु इंग्लैण्ड ने धैर्यपूर्वक नेपोलियन के आर्थिक युद्ध का सामना किया। इंग्लैण्ड ने नेपोलियम के आदेशों की प्रतिक्रिया में 1807 ई में **आर्डर्स इन कौंसिल** के नाम से पुकारे जाने वाले आदेश प्रसारित किये। इनके अनुसार यदि किसी भी जहाज में फ्रांस अथवा उसके उपनिवेशों का बना हुआ माल पाया गया तो इंग्लैण्ड उसे जब्त कर लेगा। तटस्थ राज्यों के जहाजों को यूरोप में किसी भी बन्दरगाह की ओर प्रस्थान करने से पूर्व ब्रिटीश-बन्दरगाह पर ठहरना होगा। इंग्लैण्ड ने तटस्थ राष्ट्रों के लिए अपने यहां से व्यापार की छूट देते हुए फ्रांस एवं उसके साथी देशों के लिए व्यापार पर नियंत्रण लगा दिया। साथ ही फ्रांस और उसके मित्र देशों के जहाजों को पकड़ने और लूटने के आदेश भी प्रदान कर दिये। नेपोलियन के मित्र देशों में डेनमार्क का समुद्री बेड़ा शक्तिशाली माना जाता था। इंग्लैण्ड ने इसे कोपेनहेग के युद्ध द्वारा बिल्कुल नष्ट कर दिया था। जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इस प्रकार इंग्लैण्ड ने अपनी सूझ बूझ से नेपोलियन के द्वारा संचालित आर्थिक-युद्ध को जल-युद्ध की ओर परिवर्तन कर दिया। डेनमार्क के जहाजी-बेड़े के नष्ट हो जाने से इंग्लैण्ड का समुद्र में पुनः एक छात्र प्रभुत्व स्थापित हो गया था इसीलिए उसने फ्रांस के जहाजों की समुद्र में नाकाबन्दी कर फ्रांस और उसके मित्र देशों के लिए आर्थिक संकट उत्पन्न करना शुरु कर दिया।

महाद्वीपीय व्यवस्था के परिणाम—1806 से 1814 ई. तक इंग्लैण्ड और फ्रांस के मध्य आर्थिक युद्ध चलता रहा। किन्तु फ्रांस के मित्र देश चोरी-छिपे

इंग्लैण्ड से व्यापार करते रहे थे। इस व्यवस्था के परिणामस्वप यूरोप में काला-बाजारी उत्पन्न हो गई जिसका फल हुआ कि यूरोप के देशों में वस्तुओं का अभाव एवं उंचे मूल्य की वृद्धि ने वहां की आर्थिक व्यवस्था को चोट पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया। इंग्लैण्ड से माल के आयात का प्रतिबन्ध कितना कठोर था, इसका उदाहरण हमें नेपोलियन के सैनिकों द्वारा प्रयुक्त इंग्लैण्ड के बने बटन और जूतों द्वारा हो जाता है। 1810 ई. के पश्चात् रूस ने भी महाद्वीपीय व्यवस्था पर फ्रांस का विरोध करना शुरु कर दिया था। इस प्रकार टिलसिट की सन्धि समाप्त होने लगी थी। इस व्यवस्था ने फ्रांस के मध्यम वर्ग को भी असन्तुष्ट कर दिया क्योंकि उनका माल उनके गोदामों में सड़ने लगा था। इस व्यवस्था के नियंत्रण ने नेपोलियन को और अधिक कठोर बना दिया था फलस्वरूप उसे अपने मित्र देशों और अपने ही भाई हालैण्ड के शासक लुई बोनापार्ट से विरोध सहना पड़ा। इस प्रकार महाद्वीपीय व्यवस्था ने जहां नेपोलियन को अपने ही मित्र देशों के विरुद्ध युद्ध के लिए परिस्थितियों का निर्माण कराया वहाँ नेपोलियन के साम्राज्य और स्वयं का पतन कराने में भी इसी व्यवस्था के परिणाम का हाथ था। संक्षेप में हम कह सकते है कि इंग्लैण्ड को समाप्त करने की यह व्यवस्था परिणामतः नेपो-लियन के आत्महत्या की व्यवस्था थी जो स्वयं नेपोलियन के द्वारा निर्माण की गई थी।

नेपोलियन का पतन–1801 ई. में नेपोलियन और पोप के मध्य 'कनकॉर्दा' नामक समझौते का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। किन्तु यह समझौता 6–7 वर्षों में महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण निर्बल हो गया था। पोप इंग्लैण्ड तथा फ्रांस मध्य संघर्ष में तटस्थता की नीति अपनाना चाहता था जबकि नेपोलियन इसे नहीं चाहता था। महाद्वीपीय व्यवस्था को लागू करने के लिए जब नेपोलियन ने पोप पर दबाव डाला तो पोप ने इस व्यवस्था को पालन करने और कराने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इस कारण नेपोलियन ने पोप के राज्य को छीन कर 1809 ई. में पोप को वेटिकन में बन्दी बना लिया। इसके पूर्व पोप ने नेपोलियन को ईसाई समाज से बहिष्कृत करते हुए यूरोप के ईसाईयों से नेपोलियन के विरुद्ध धर्म युद्ध छेड़ने की अपील कर, यूरोप के ईसाईयों को नेपोलियन का शत्रु बना दिया था। इस प्रकार धर्मांध लोग गुप्त रूप से नेपोलियन के पतन की तैयारियों में लग गये।

पुर्तगाल पर अधिकार—1801 ई. में फ्रांस ने अपने मित्र देश स्पेन से महाद्वीपीय व्यवस्था को पुर्तगाल में भी लागू कराने के लिए कहा। परिणामस्वरूप स्पेन ने पुर्तगाल पर आक्रमण कर उसे 1804 ई. में इग्लैण्ड के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ने के लिए विवश कर दिया। इससे पुर्तगाल को एक तटस्थ देश

के रूप में स्वीकार कर लिया गया परन्तु पुर्तगाल अप्रत्यक्षतः इंग्लैण्ड से व्यापार करता रहा था। 1808 ई. में पुर्तगाल को दण्ड देने के लिए फ्रांस की सेना ने ने पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल का वर्गेन्जा शाही-परिवार ब्राजिल भाग गया। पुर्तगाल को फ्रांसीसी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

स्पेन पर अधिकार एवं स्पेनी विद्रोह—पुर्तगाल के अभियान के समय नेपोलियन से स्पेन के शासक चार्ल्स चतुर्थ को फ्रांस की सीमा पर बुलाकर बन्दी बना लिया। यद्यपि नेपोलियन की यह कार्यवाही वृद्ध चार्ल्स के निकम्मे पुत्रों तथा चार्ल्स की रानी से उसके मंत्री के प्रेम सम्बन्धों को देखते हुए मंत्री के अभाव को समाप्त करने के लिए की गई थी। किन्तु नेपोलियन ने अपने भाई नेपल्स के शासक जोसेफ को स्पेन का राजा बना दिया तो स्पेन की जनता ने जोसेफ के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। इस विद्रोह के पृष्ठ में स्पेन के कैथोलिक पादरियों का का बड़ा हाथ था। जोसेफ इस विद्रोह का सामना करने में असमर्थ रहा और एक माह में ही फ्रांस भाग आया। नेपोलियन ने इस विद्रोह को कुचलने के लिए 1808 ई. में स्पेन पर आक्रमण कर दिया। विद्रोह को दबाकर जोसेफ को पुनः गद्दी पर बैठाया गया इसके पश्चात् नेपोलियन अपने भाई की सहायता के लिऐ एक विशाल सेना स्पेन में छोड़ 1809 ई. के आरम्भ में मध्य यूरोप की गतिविधियों को दबाने चला गया। नेपोलियन की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर इंग्लैण्ड ने 1812 –1813 ई. में सेलमेन्का तथा विक्टोरिया के युद्धों में स्पेन की जन सहायता से फ्रांसीसी सेना को परास्त कर स्पेन और पुर्तगाल को फ्रांस से मुक्त करा दिया। इस युद्ध में इंग्लैण्ड के सेनापति आर्थर वेलजली की मुख्य भूमिका थी।

नेपोलियन ने राजतन्त्रों की बड़ी-बड़ी सेनाओं को युद्ध में परास्त कर दिया था फिर स्पेन में उसकी हार कैसे हो गई ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि फ्रांस में बुरबों वंश के शासन को समाप्त करने के लिए जो नारा दिया था एवं जनाक्रोश खड़ा किया था। उसी प्रेरणा ने स्पेन की जनता में राष्ट्रीय स्वाभीमान जाग्रत कर थोपे गए विदेशी शासक के विरुद्ध 'जुनटा' के रूप में जन आन्दोलन खड़ा करा दिया। नेपोलियन की सेना शासक के विरुद्ध नहीं अपितु जनता के विरुद्ध लड़ी थी। उस जनता से पोप की अपील का धार्मिक जोश एवं इंग्लैण्ड का सैनिक प्राप्त था। नेपोलियन ने स्वयं स्पेन के युद्ध को "साधुओं का युद्ध कहा था। स्पेन में फ्रांसीसी सेना को भूख, बीमारी तथा प्राकृतिक विपदाओं के साथ-साथ जन- असहयोग का सामना करना पड़ा। नेपोलियन के योग्य नेतृत्व के अभाव में फ्रांस की सेना इंग्लैण्ड से स्पेन में पराजित हो गई किन्तु नेपोलियन यूरोप के युद्धों को छोड़कर स्पेन नहीं आ सका। नेपोलियन ने लिखा है कि "स्पेन के नासूर ने

मुझे बर्बाद कर दिया।" इस प्रकार नेपोलियन की स्पेन में पराजय होना यूरोप में एक अनहोनी घटना थी।

आस्ट्रिया से युद्ध:—नेपोलियन की स्पेन में व्यस्तता का लाभ उठार 1089 ई. में आस्ट्रिया ने युद्ध की घोषणा करते हुए बवेरिया पर आक्रमण कर दिया। नेपोलियन स्पेन से वियन पहुँच जहाँ **बेगराम के युद्ध** में आस्ट्रिया को परास्त किया। इस प्रकार नेपोलियन द्वारा आस्ट्रिया को चौथी बार हरायागया था। आस्ट्रिया फ्रांस के मध्य 1809 ई. की **शोब्रुन की सन्धि** ने आस्ट्रिया के बड़े भू-भाग को फ्रांस में मिला दिया। आस्ट्रिया की सैनिक संख्या का निर्धारण कर दिया गया। यहाँ तक नेपोलियन ने आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरिया लुइस से मार्च 1810 ई. विवाह कर आस्ट्रिया को अपमानित करने में कसर नहीं छोड़ी। विवाह के साथ उसने अपनी पूर्व पत्नी जोसेफाईन को तलाक दे दिया था। 1811 ई. में लुइसा से उत्पन्न पुत्र को रोम का शासक घोषित कर अपने वंश के लोगों को यूरोप का शासक बनाये रखने की नीति को आगे बढ़ाया। आस्ट्रिया की इस पराजय ने आस्ट्रिया और प्रशा को स्पेन प्रेरणा लेने के लिए प्रेरित किया। आस्ट्रिया और प्रशा के जनाक्रोश के प्रति नेपोलियन की उदासीनता ने अन्तः नेपोलियन को पतगा-

मास्को अभियान: —1807 ई. टिलसिट की सन्धि ने रूस एवं फ्रांस को मित्र अवश्य बना दिया था। परन्तु उनकी यह मित्रता अधिक दिनों तक नहीं चली। आस्ट्रिया के विरोध जार का तटस्थ रहना नेपोलियन को क्रोधित् कर गया था। जबकि रुस का जार अलक्जेण्डर नेपोलियन द्वारा कस्तुनियन रुस को नहीं देने, जर्मनी के ओल्डेनबुर्ग की डची को फ्रांस में मिलने (इस डची पर का बहनोई शासक था); पोलेण्ड के प्रति फ्रांस की लालायित् दृष्टि आदि कारणों से रुष्ट था। अतः जब नेपोलियन ने जार को कठोरता पूर्वक महाद्वीप व्यवस्था का पालन करने के लिए कहा तो जार से न केवल असंतोषजनक उत्तर दिया बल्कि उसने तटस्थ देशों के जहाजों को रुसी बन्दरगाहों में आने के लिए सुविधाएँ भी प्रदान कर दी। इस पर नेपोलियन ने 24 जून 1812 ई. को रुस पर आक्रमण कर दिया। इस अभियान में फ्रांसीसी सैनिकों की संख्या 6 लाख थी। रूस सेनाएँ अपनी परम्परा- गत युद्ध पद्धति के अनुसार पीछे हटती गई। और शत्रु की रसद सामग्री को समाप्त करने के लिए खेत-खलिहान जलाती हुई पटी। 14 सितम्बर 1812 ई. को नेपोलियन मास्को पहुँच गया एवं 22 अक्टूबर तक जार से समझौते की आशा में वहीं रहा। इस मौसम में रूस की कड़कड़ाती सर्दी में जहाँ उसके सैनिक बगैर युद्ध मरने लगे वहाँ घास के अभाव में घोड़े भी प्राण छोड़ने लगे। इससे तंग होकर नेपोलियन फ्रांस की ओर लौट पड़ा। लौटते समय रूसियों ने फ्रांसीसी सेना पर गुरिल्ला पद्धति द्वारा पीछे से आक्रमण कर दिया। हजारो

सैनिक भूख, ठंड तथा यूसियों के आक्रमण से रोज मरने लगे। इस प्रकार 6 लाख में से 20 हजार फ्रांसीसी सैनिक ही लौट सके। मास्को से जर्मनी के मध्य की यह नेपोलियन की सैन्य-यात्रा उसके जीवन की सर्वाधिक दुखद घटना थी। 13दिसम्बर को जर्मनी में पहुँचे नेपोलियन के शेष सैनिक अस्वस्थ, फटेहाल और भूख से पीड़ित थे।

उक्त प्रायद्वीपीय युद्धों का महत्वः—नेपोलियन 19 वीं शताब्दी का अत्यन्त सहासी व्यक्ति था। उसने निरन्तर युद्ध करते रहने और अपने सैनिकों की संख्या कम होने पर भी साहस नहीं खोया। उसने नये सैनिकों को भर्ति कर विभिन्न स्थानों पर युद्ध चालू रखा। किन्तु इन युद्धों से उसके अनुभवी सेनानायक एवं प्रशिक्षित् सैनिक धीरे-धीरे समाप्त होने गए। उसकी नयी सेना में 14-15 वर्ष के बच्चे तक भर्ति किए गए थे। फिर भी नेपोलियन ने 1813 ई. में अपनी योग्यता के बल पर लुटजेन तथा। बाटजेन के युद्ध में रूस एवं प्रशा की सेना को परास्त कर एक बार अपनी श्रेष्टता सिद्ध कर दी। स्पेन और पुर्तगाल को सेनापति आर्थर वॉले-जली (ड्यूक ऑफ वेलिंगटन) द्वारा मुक्त करा दिये जाने से नेपोलियन की शक्ति क्षिण हुई किन्तु आस्ट्रिया के युद्ध में नेपोलियन ने आस्ट्रिया को परास्त कर अपनी खोई प्रतिष्ठा का पुनः प्राप्त किया। जब मास्को अभियान में नेपोलियन को इतनी बड़ी सैनिक क्षति हुई तो यूरोप में नेपोलियन के विरुद्ध चौथे गुट का निर्माण हो गया इस प्रकार नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था ने महाद्वीपीय युद्धों को जन्म दिया और महाद्वीपीय युद्धों की निरन्तर ने नेपोलियन की प्रतीभा और दूरदर्शिता को कुंठित कर दिया। परिणामस्वरूप वह परिस्थितियों से पराजित होकर एल्बा में निर्वासित शासक जीवन व्यतित करने के लिए बाध्य कर दिया गया था।

लाइपजिग का युद्धः—रूस, प्रशा तथा स्वीडन की सेना ने जर्मनी में नेपोलियन के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया था। इंग्लैण्ड तो ऐसे अवसर की तलाश में ही था अतः वह भी इस संघ में सम्मिलित हो गया। उसने इस संघ को आर्थिक सहायता का आश्वासन भी दिया। प्रशा और नेपोलियन के मध्य जब आस्ट्रिया का चांसलर मेटरनिख समझौता कराने में असफल हो गया तो आस्ट्रिया भी मित्र राष्ट्रों के संघ में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार पांच राष्ट्रों के संघ के साथ यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राष्ट्रों की अप्रत्यक्ष सहानभुति भी थी। अगस्त 1813 ई. में यूरोपीय राष्ट्रों के इस चौथे संघने नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इस संघ की 5 लाख सेना का नेतृत्व मेटरनिख कर रहा था। नेपोलियन ने भी 4½ लखा सेना सहित् ड्रेडेन में इसका प्रतिरोध किया और संयुक्त सेनाओं को अन्तिम बार परास्त किया। पर मित्र रास्ट्रों ने पराजित होकर भी

उत्साह नहीं छोड़ा तथा अक्टूबर 1813 ई. को लाइपजिग के युद्ध में नेपोलियन को पराजित कर राइन नदी के पार फ्रांस की ओर खदेड़ दिया। चार दिनों तक चलने वाले इस युद्ध को राष्ट्रों का युद्ध या 'बेटल ऑफ नेशन्स' कहा जाता है। इस पराजय के पश्चात् नेपोलियन के सम्मुख संघ ने समझौते का प्रस्ताव रखा किन्तु नेपोलियन ने इस अविस्कार कर दिया। इस पर रूस और प्रशा की सेनाएँ पेरिस में घूस गई और नेपोलियत को (31 मार्च 1814) बन्दी बना लिया गया।

इस युद्ध ने नेपोलियन का सितारा अस्त कर दिया। राइन संघ के राज्य मित्र राष्ट्रों से मिल गए। हालैण्ड ने भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर प्रिंस ऑफ ऑरेंज को अपना शासक स्वीकार लिया। डेनमार्क भी राष्ट्रों का साथ देना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि नेपोलियन के सम्बन्धियों ने भी नेपोलियन का साथ छोड़ दिया। फ्रांस में भी पादरियों के विरोध तथा अनिवार्य सैनिक सेवा के विरोध ने जनता को नेपोलियन का विरोधी बनाना शुरू कर दिया था। इसी तरह इटली और प्रशा की जनता भी नेपोलियन के प्रति आक्रमक हो गई। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लाइपजिग के युद्ध का परिणाम यूरोपीय राष्ट्रों का एक मंच पर संगठित बनाना तथा राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित राष्ट्रीय स्वार्थों की प्रतिद्वन्दात्मक नीतियों को उत्पन्न होना था।

नेपोलियन का पतनः--नेपोलियन ने पराजय के पश्चात् मित्र राष्ट्रों के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि वह फ्रांस छोड़ने को तैयार है किन्तु उसके पुत्र को उसका उत्तराधिकारी और पत्नी को संरक्षिका मान लिया जाए। यह प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र ने स्वीकार नहीं किया अपितु इसके स्थान पर जार नेपोलियन को इटली के पश्चिम में स्थित 19 मील लम्बा तथा 6 मील चौड़ा एल्ब द्वीप दे दिया। मई में फोन्तेब्लू की व्यक्तिगत सन्धि में नेपोलियन को एल्बा का शासक स्वीकार हुए फ्रांस के कोष से 2 लाख फ्रैंक प्रति वर्ष दिये जाने की व्यवस्था की गई। उसके परिवार के सदस्यों के लिए भी पेन्शन निश्चित की गई।

नेपोलियन के एल्बा जाने के पश्चात् फ्रांस के साथ नयी व्यवस्था के लिए 1814 ई. में पेरिस की सन्धि की गई। इसके अनुसार बूर्बो वंश की फ्रांस में पुनः स्थापना की गई। लुई सोलहवें के भाई लुई अठारहवें को फ्रांस का सम्राट बनाया गया। फ्रांस की सीमाएँ 1692 ई. के अनुसार निर्धारित की गई। फ्रांस पर किसी भी प्रकार का हर्जाना नहीं लगाया गया। युद्धोत्पन्न अन्य समस्याओं के समाधान के लिए आस्ट्रिया की राजधानी वियना में एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस तरह पेरिस की प्रथम सन्धि फ्रांस के लिए एक उदार सन्धि थी।

वियना सम्मेलन में यूरोपीय शासकों, कलाकारों, तथा महत्वपूर्ण व्यक्तिओं ने खूब आनन्द किया। 10 माह तक चले इस सम्मेलन की कोई कार्य सूची नहीं थी। विषय–वार्तालाप शिकार खेलते हुए या खाना खाते हुए होता था। सभी देश। कुछ न कुछ प्राप्त करने की आशा में थे। किन्तु किसी भी देश को एक दूसरे पर भरोसा नहीं था। फ्रांस में लुई अठारहवें से जनता बहुत आशा रखती थी किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ तो वह निराश होने लगी। ऐसी दशा में नेपोलियन; अपने गुप्तचरों से सूचना प्राप्त कर, मार्च 1815 ई. में एक हजार सैनिकों के साथ फ्रांस में आ धमका। उसने अपने को पुनः फ्रांस का सम्राट घोषित कर दिया फ्रांस की जनता में भी उसका अभूतपूर्व स्वागत किया। लुई अठारहवें नेपोलियन ने डर कर बेल्जियम भाग गया। नेपोलियम की इतनी लोकप्रियता देखकर यूरोपीय राष्प्र अपने मतभेद भूलाकर एक बार फिर नेपोलियम के विरुद्ध सक्रिय हो गए।

वाटरलू का युद्ध – मित्र राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरुद्ध अपनी सेना को दो भागों मै विभाजित कर नेपोलियन को घेरने की योजना बनाई इस संयुक्त सेवा के एक भाग का नेतृत्व प्रशा का सेनापति ब्लूचर तथा दूसरे भाग का नेतृत्व इंग्लैण्ड का केनापति ड्यूक ऑफ वेलिंगटन कर रहा था। नेपोलियन ने इन दोनों सेनाओ को संयुक्त होने के पूर्व पराजित करने के योजना बना कर प्रशा के सेना-नायक ब्लूचर को पराजित कर दिया। अन्त में 18 जून 1815 ई. को वाटरलू के मैदान में नेपोलियन और वेलिंगटन के मध्य घमासान युद्ध हुआ। दोपहर पश्चात् वेलिंगटन की सेना थकने लगी थी कि ब्लूचर ने अपनी सेना के सहयोग से युद्ध में प्राण फूंक दिये इस प्रकार नेपोलियन वाटरलू के युद्ध में अन्तिम बार पराजित हुआ। यह युद्ध उसके जीवन का 40वाँ युद्ध था। नेपोलियन पराजित होकर पेरिस भागा। वहां जन-असहयोग के कारण उसने अमेरिका भागने की योजना बनाई किन्तु अंग्रजी सेना की एक टुकड़ी द्वारा पकड़ लिया गया। अब नेपोलियन को सेन्ट हेलना के द्वीप में बन्दी बनाकर रखा गया था। इस द्वीप में ही 6 वर्ष व्यतीत करते हुई 1821 ई. में नेपोलियन की मृत्यु हो गई। नेपोलियन मृत्यु के साथ-साथ फ्रांस की क्रान्ति का प्रथम अध्याय भी समाप्त हो गया।

वाटरलू युद्ध के दस दिन बाद वियना समझौते पर हस्ताक्षर किये गए। इसमें फ्रांस पर फिर बुर्बो वंश का शासन स्थापित करते हुए फ्रांस की सीमाएं 1789 ई. के अनुसार निश्चित् की गई। फ्रांस पर 70 करोड़ फ्रेंक युद्ध क्षतिपूर्ति के थोपे गए तथा क्षतिपूर्ति नहीं करने तक वेलिंगटन के नेतृत्व में मित्र देशों की सेना फ्रांस में रखी फ्रांस ने 3 वर्ष में ही सभी क्षतिपूर्ति अदा कर अपने को यूरोपीय राष्ट्रों के प्रभुत्व से मुक्त कर।

अब हम उस महान सेनानायक एवं अद्भुत प्रतिभाशाली यूरोप के सम्राट नेपोलियन के पतन के कारणों का संक्षिप्त विवेचन करेंगें।

नेपोलियन के पतन के कारण

नेपोलियन का उदय यूरोप में अभूतपूर्व घटना थी। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर और एक साधारण सैनिक के रूप में जीनन प्रारम्भ कर वह फ्रांस का सम्राट वन गया – यह उसके अदम्य साहस, असीम वीरता, अतुल महत्वकांक्षा एवं अद्वितीय योग्यता का परिचायक था। परन्तु उस महान प्रतिभावान व्यक्ति का पतन जिन नाटकीय परिस्थितियों में हुआ उन पर विचार करना बहुत कठिन है। नेपोलियन के जीवन पर कई शोध कार्य हो चुके हैं। किन्तु कोई भी इतिहास-कार नेपोलियन के पतन के कारणों पर एकमत नहीं हैं फिर किसी घटना के घटित होने में एक कारक के स्थान पर कई कारक कार्य करते हैं। अतः हम उन्हीं कारकों को क्रम में देखेंगे —

(1) **नेपोलियन की महत्वाकांक्षा:—** नेपोलियन की महत्वाकांक्षा उसके पतन का कारण थी। वह सम्पूर्ण यूरोप का शासक बनने की कल्पना करना था। 1807 ई. तक वह स्वयं को शार्लेमां का उत्ताराधिकारी मानने लगा था। उसने अपनी महात्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अनेक देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया था। फलतः यह राष्ट्र उसके कट्टर शत्रु बन गए। क्रान्ति का पुत्र कसलाने वाला क्ष्यक्ति राजतन्त्रवादी वन गया। इससे न तो गणतन्त्रवादी नेपोलियन को चाहते थे और न वूर्वो वंश के समर्थक राजतन्लवादी। इसीलिए उसे कादूदाल षडयन्त्र का सामान करना पड़ा था। उसने स्वतन्त्रता के नाम पर दमन और स्वेज्छाचारी शासन स्थापित कर क्रान्ति की भावना को लोप कर दिया था। फलस्वरूप फ्रांस की क्रान्ति और राष्ट्रीयता की भावना स्पेन के संघर्ष में उभर कर नेपोलियन के पतन का कारण बन गई।

(2) **सैनिकवादी साम्राज्य:—** नेपोलियन का साम्राज्य उसके व्यक्तित्व और उसकी सैनिक शक्ति पर आधारित था। उसके व्यक्तित्व में जब तक चमत्कार बना रहा तब तक फ्रांस एवं अन्य देश के लोग उससे दबते रहे। किन्तु उसकी असफलता के प्रारम्भ होते ही लोगों ने उसका साथ छोड़ दिया। उदाहरण के रूप में 1814 ई. की प्रथम पराजय के पश्चात नेपोलियन के प्रमुख सहायक तलेरां ने ही उसे उत्तारने का प्रस्ताव रखा था। इसी प्रकार नेपोलियन की शक्ति का आधार सैनिकवाद था जो कि निरन्तर यद्धों से झर्झर हो गया था। उसके योग्य सेनानायक और सैनिक इन युद्धों में समाप्त होते गए थे। फिर उसकी सेना पहले स्वतन्त्रता, समान्ता और वन्धुत्व के आदर्श के लिए लड़ती थी। किन्तु नेपोलियन ने जब इन आदर्शों को ताक पर रख दिया तो क्रान्तिकारी सेना का जोश भी

शनैः शनैः ठण्डा होता गया। अब एक स्वेच्छाचारी शासक की सेना और नेपोलियन की सेना में कोई अन्तर नहीं था। राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत सेना का निरंकुशवाद समाप्त करने का ध्येय नेपोलियन की निरंकुशता प्रसार में लगा दिया गया तो अन्य राष्ट्रों की सेना ने इस निरंकुशता का डट कर विरोध करना आरम्भ कर दिया। अन्य राष्ट्रों की सेना के पृष्ठ में वहां की जनता का भी हाथ था। इस प्रकार नेपोलियन की स्वेच्छा-चारिता को यूरोप के जन आन्दोलनों से मुकाबला करना पड़ा था। ऐसे संघर्षों में नेपोलियन का सैनिकवादी साम्राज्य कितने दिनों तक चल सकता था। ज्योंही नेपोलियन की सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी त्योंही चारों ओर जनसंघर्ष एवं विद्रोह तेज हो गए और अन्त में सदैव विजयी नेपोलियन पराजय से पतनगामी बन गया।

(3) चारित्रिक दुर्बलताः—इतिहासकार होलैण्ड रोज के अनुसार 'नेपोलियन का जिद्दी स्वभाव ही उसके पतन का खास कारण था। वह अपने को इतना अधिक बुद्धिमान समझता था कि अपने अनुभवी परामर्शदाताओं के परामर्श को भी ठुकरा कर स्वेच्छा से काम करता था। तलेरां तथा फोश जैसे अनुभवी राजनीतिज्ञों को भी वह अपना विश्वासपात्र नहीं मानता था। तलेरां ने उसे स्पेन पर आक्रमण नहीं करने का परामर्श दिया था किन्तु उसने अपनी ही मनमानी की। आस्ट्रिया का चांसलर उसे फ्रांस का सम्राट बनाये रखना चाहता था इसलिए उसने नेपोलियन को मित्र राष्ट्रों से सन्धि करने का प्रस्ताव किया पर उसने कहा कि "मैं मर जाऊंगा परन्तु एक इन्च भूमि भी नहीं दूंगा।' रूस नेपोलियन के अच्छा साथी था पर उसने उस पर आक्रमण कर विश्वासघात का कार्य किया। प्रशासनिक कार्यों में वह 18 घन्टे व्यतीत करता था और 15 मिनिट भोजन पर व्यय करता था। पर उम्र के साथ-साथ वह प्रशासनिक कार्यों से दूर होता गया। दूसरे विवाह के पश्चात तो नेपोलियन ने प्रशासनिक कार्यों से मुँह मोड़ लिया। इससे उसके सहयोगी और अधिक शिथिल हो गए और प्रशासन में भाई-भतिजावाद अकर्मण्यता आदि अवगुण उत्पन्न होने लग गए। इस प्रकार नेपोलियन के घमण्ड, हठी स्वभाव, प्रशासनिक उपेक्षा एवं विलासता ने उसके पतन को सरल बना दिया था।

(4) राष्ट्रीयता की भावना का उदयः—नेपोलियन ने पराजित देशों में जो राष्ट्रीयता का प्रसार किया वह भी उसके पतन का एक कारण था। नेपोलियन ने राईन संघ का निर्माण कर तथा अपने को इटली का सम्राट घोषित कर इन देशों में राष्ट्रीय भावना का प्रसार कर दिया था। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भावना अन्य देशों में उग्र होती गई त्यों-त्यों लोगों के मन में नेपोलियन को एक विदेशी मानते हुए घृणा उत्पन्न होती गई। हेजन के अनुसार "राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की धारा

नेपोलियन की योजना और नीति के विरुद्ध जा रही थी।" नेपोलियन ने लोगों की इस भावना का तिरस्कार किया तो यही राष्ट्रीयता से ओत प्रोत भावना उसके का पतन का निमित्त बन गई।

(5) इंग्लैण्ड की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड विश्व का एक सम्पन्न राष्ट्र बन गया था। इसीलिए उसने फ्रांस के विरुद्ध सतत अभियान चलाये रखा। इंग्लैण्ड ने फ्रांस विरोधी राष्ट्रों को सैनिक और आर्थिक सहायता प्रदान कर यूरोप में नेपोलियन की शक्ति को निरन्तर उलझाये रखा उसने बार-बार नेपोलियन विरोधी यूरोपीय संघों का निर्माण कर फ्रांस की कूटनीतिक स्थिति पर प्रहार किया। इसीलिए कहा भी जाता है कि "नेपोलियन वाटरलू के युद्ध में नहीं बल्कि मानचेस्टर के कपड़े के कारखानों और बरमिंघम की लोह-भट्टियों द्वारा परास्त किया गया था।

(6) इंग्लैण्ड की नौसैनिक शक्ति – इंग्लैण्ड की नौसेना विश्व में अपराजित शक्ति थी। यह भी आश्चर्य है कि नेपोलियन जीवन भर इंग्लैण्ड को परास्त करने के सपने देखता रहा पर उसने कभी फ्रांस की नौसेना की ओर ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था की सफलता भी नौसैनिक शक्ति पर ही अधारित थी। इंग्लैण्ड ने अपनी इसी शक्ति के बल पर महाद्वीपीय व्यवस्था को समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त नौसैनिक शक्ति के आश्रय पर ही इंग्लैण्ड ने नेपोलियन को तीन बार पराजित कर यूरोप के सम्मुख अपनी सैनिक साख को बनाये रखा। इसी कारण यूरोप के राष्ट्र इंग्लैण्ड के नेतृत्व में तथा नेपोलियन के विरोध में सम्मिलित हो गए।

(7) अन्य कारण – महाद्वीपीय व्यवस्था, पोप से शत्रुता, स्पेन एवं जर्मन में राष्ट्रीयता का दमन तथा मास्को अभियान भी नेपोलियन के पतन के कारण थे। किन्तु इनका उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है अतः इसे पुनः यहां दोहराना उचित नहीं होगा। डॉ. स्लोन लिखता है कि "नेपोलियन के पतन के समस्त कारण एक ही शब्द थकान में निहित है। नेपोलियन निरन्तर परिश्रम और युद्धों से थक गया था। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। होलैण्ड रोज लिखता है कि फाण्टेन्ल्यू छोड़ने से पूर्व नेपोलियन ने काफी मात्रा में अफीम खा ली थी क्योंकि उसे विश्राम की आवश्यकता थी। अस्वस्थ्य एव शिथिल नेपोलियन के सम्बन्धी जिनके लिए उसने सदैव उन्नति का मार्ग बनाया वही कृतघ्न निकले। केरोलीन एवं जेरोक के कारण इटली और जर्मनी में नेपोलियम के शासन का अन्त हुआ। जोसेफ की अयोग्यता ने स्पेन में नेपोलियन के शासन का अन्त किया। स्वयं नेपोलियन ने संस्मरण में लिखा है कि "मैंने अपने सम्बन्धियों के प्रति जितना अच्छा व्यवहार किया उतनी ही उन्होंने मुझे हानी पहुँचाई।"

अन्त में उसके पतन की स्थिति का पटाक्षेप उस मार्मिक दृष्टान्त से किया जा सकता है कि—नेपोलियन ने एडमिरल मैटलैण्ड के सम्मुख आत्म समर्पण करते हुए एक प्रार्थना भेजी— "मैं स्वयं को थेमिस्टोकिल्स की भांति ब्रिटिश जनता की उदारता के ऊपर छोड़ता हूँ, मैं अपने को आपकी (इंग्लैण्ड) विधियों के संरक्षण में रखता हूँ।" किन्तु इंग्लैण्ड ने नेपोलियन की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं देकर मात्र बारह सेवकों के साथ नेपोलियन को सेंट हेलना में भेज दिया।

नेपोलियन का पतन यूरोप में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, सिविलकोड तथा सैनिक साम्राज्यवाद के ऐसे पौधे प्रत्यारोपण कर गया जिनके फलों ने भावी यूरोप में क्रान्तियों युद्धों तथा गुट बन्दियों को जन्म दिया तथा विश्व में सैनिक साम्राज्यवादी भावना का विस्तार किया। महान सैनिक, महान विजेता, योग्य शासक, महान पश्चिमी, साहित्य एवं कला प्रेमी; वक्ता, कुशल नेता एवं राजनीतिज्ञ नेपोलियन का चरित्र कई विशेषताओं और दुर्बलताओं से परिपूर्ण होते हुए भी इतिहास का आलोकिक पृष्ट है।

———

8

चीन का अभ्युदय

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चीन :

विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में चीन की सभ्यता भी एक स्थान रखती है। तिब्बत की पर्वतमाला से निकलकर प्रशान्त महासागर में गिरने वाली ह्वांगहो तथा यांगत्सेकियांग नामक नदियों के उपजाऊ भू-भाग में चीन की सभ्यता पल्लवित होती रही और इसने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अपने प्राचीन स्वरूप को बनाये रखा था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक राजनीतिक दृष्टि से चीन एक राज्य के स्थान पर साम्राज्य था। यह साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था जिनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती थी। 19वीं शताब्दी में चीन 18 प्रान्तों की राजनीतिक इकाई था। शासन का सर्वोच्च अधिपति शासक होता था किन्तु शासन नागरिक और सैनिक वर्गों में विभाजित था। नागरिक प्रशासन के पदाधिकारियों की नियुक्ति परीक्षा-प्रणाली द्वारा होती थी। सामान्यतः शासन चीन के महान् विचारक कन्फ्यूसियस के सिद्धान्तों और ताओवाद पर आधारित था। शासन की सबसे छोटी इकाई गांव होता था जिसका शासन वृद्ध पंचों द्वारा संचालित होता था। इस प्रकार चीनी शासन तंत्र में विकेन्द्रीकरण अधिक था। यही कारण था कि चीन पर जब जब भी विदेशी आक्रमण हुए आक्रांता आसानी से सफल हो गये।

सन् 1214 ई. में विश्व-विख्यात चंगेज खां ने चीन किन-वंश क र ास्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसने 1227 ई. में अपनी मृत्यु के पूर्व तक, चीन साम्राज्य को प्रशान्त महासागर से पश्चिम में काला सागर तक विस्तृत कर दिया था। चंगेज के पुत्र और उत्तराधिकारी उदगई खां (1227-1242 ई.) की मृत्यु के बाद एक अन्य मंगोल नेता कुबलई खां चीन का सम्राट बना। उसने युआन वंश की नींव डाली। यह वंश 1368 ई. तक चीन में शासन करता रहा। कुबलई खां का काल मंगोल शासन का वैभव काल था। इसके शासन काल में वेनिस निवासी मार्कोपोलो ने चीन की यात्रा की तथा उसके वर्णन तत्कालीन चीन की समृद्धि को बतलाते हैं। 1368 ई. में मंगोल शासक की निर्बलता का लाभ उठा कर मिंग-वंश

के लोगों ने शासन पर अधिकार कर लिया किन्तु 1644 ई. में इस वंश का भी पतन हो गया। तत्पश्चात् चीन पर मंचू-वंश ने प्रभुत्व स्थापित किया। इस वंश का शासन 1911 ई. तक बना रहा और चीन के राजवंश के इतिहास में यह वंश अन्तिम था।

सामाजिक-आर्थिक जीवन की दृष्टि से चीनी जीवन में कुटुम्ब का अत्यधिक महत्व था। कुटुम्ब केवल जीवित सदस्यों की इकाई ही नहीं थी अपितु इसमें मृतकों का भी सम्मानित स्थान रहता था। कुटुम्ब संयुक्त परिवार प्रणाली पर आधारित थे। पूर्वजों के लिखित आलेखों का आदर किया जाता था। पूर्वजों की पूजा की जाती थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति गौण थी, मात्र वंश वृद्धि ही विवाह का आधार था। पुत्रोत्पन्न पर हर्ष प्रकट किया जाता था। कृषि व्यवस्था पर आधारित चीन के सामाजिक जीवन में व्यापारियों का स्थान विद्वान और कृषकों के पश्चात् माना जाता था। व्यापारी संघ-प्रणाली (Guild system) से आबद्ध रहते थे। व्यापार वृद्धि के लिये स्थान-स्थान पर मेलों का आयोजन किया जाता था। चीन के उद्योग-धन्धों में रेशम वस्त्र का निर्माण मुख्य धन्धा था। 19वीं सदी के प्रारम्भ में विदेशी व्यापार के लिये चांदी का और आन्तरिक व्यापार में तांबे का सिक्का प्रचलित था। चीनी लोग साहूकार संस्था में विश्वास रखते थे। चीन में ही सर्वप्रथम कागजी मुद्रा का प्रयोग किया गया था। चीन में कन्फ्यूसियस एवं लाओ-त्से के विचार अधिक प्रचलित थे। बौद्ध धर्म का समर्थक चीन इस्लाम विचार से अछूता नहीं था। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चीन धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी धार्मिक उदारता से प्रेरित नहीं था। बौद्ध मूर्ति-पूजक भविष्य-विश्वासी, तंत्र-मंत्र समर्थक, आतिथ्य-प्रेमी, पुरोहितों व भिक्षुओं से प्रभावी ग्रामीण-समाज का स्वरूप लिये चीन का सांस्कृतिक जीवन बड़ा प्रभावशाली रहा था। विभिन्न बोलियों से युक्त चीनी लिपिक एक ही थी। इस लिपि के अक्षर अधिक और जटिल थे। चीनी साहित्य समृद्ध था। इस प्रकार चीन को अपनी सभ्यता पर गर्व था और विदेशियों से सम्पर्क स्थापित करना इस गर्व के विरुद्ध मानते थे। एक प्रकार से चीनी लोग 'कूप-मण्डूप' थे जो स्वयं के अतिरिक्त अन्य देशों के लोगों को जंगली मानते थे।

पश्चिमी देशों का चीन के प्रति आकर्षण :—मार्को-पोलो के वर्णन को पढ़-सुन कर यूरोप के व्यापारी चीन की ओर आकर्षित हुए। सर्वप्रथम पुर्तगाल का रैफल परेस्ट्रेला 1516 ई. में चीन के समुद्री तट पर उतरा। किन्तु इसे चीन में प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। 1519 ई. में थामस पिरेज के नेतृत्व में एक अन्य पुर्तगाली-प्रतिनिधि-मण्डल पेकिंग पहुँचा। मालाया के सुल्तान से उनके दुर्व्यवहार को सुनकर चीन के मिंग वंश के सम्राट कांगटी ने थामस पिरेज से मिलना

अस्वीकृत कर दिया तथा पिरेज़ को बन्दी बना लिया। इस प्रकार बन्दी जीवन में ही 1523 ई. को कैन्टन में उसकी मृत्यु हो गई किन्तु पुर्तगाल के व्यापारी निरन्तर प्रयत्न करते रहे और कैन्टन के समीप एक द्वीप को व्यापारिक केन्द्र बनाने में सफलता प्राप्त की। 1557 ई. में उन्होंने मकाओ पर अधिकार कर लिया जो कि आज भी पुर्तगाल के अधीन है।

पुर्तगाल के व्यापारियों के पैर जमते देखकर यूरोप के अन्य देश भी चीन की ओर बढ़े। 1557 ई. में स्पेनवासी, 1604 में डच लोग तथा 1637 ई. में अंग्रेज चीन पहुँचे। रूस 1689 ई. तक शान्तिपूर्वक यूरोपवासियों का चीन प्रदेश देखता रहा और अन्त में नरचिन्सक की संधि द्वारा उसे चीन में व्यापार करने तथा पेकिंग में अपना मिशन भेजने की अनुमति मिल गई। इस प्रकार रूस ही प्रथम देश था जिसे चीन में व्यापार करने के लिये विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया। 1698 ई. में फ्रांस तथा 1732 ई में स्वीडन का जहाज भी चीन पहुँच गया। यूरोप की इस प्रतिस्पर्धा में 1784 ई. तक अमेरिका भी पीछे नहीं रहा। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चीन का दोहन करने यूरोप के कई देश चीन में विद्यमान थे। यूरोप के व्यापारियों के साथ-साथ ईसाई धर्माधिकारी भी चीन पहुँचे। आतिथ्य प्रेमी, धर्म सहिष्णु चीनी लोगों ने इनको आदर दिया, धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान की। फलतः चीन में कैथोलिक धर्म का प्रचार बढ़ने लगा वहाँ चीन निवासियों की पाश्चात्य धर्म, विज्ञान और साहित्य के प्रति रुचि बढ़ने लगी। मिंग वंश के अन्तिम काल में जैसूट लोगों ने राजपरिवार के कई सदस्यों को इसाई बना लिया था किन्तु मंचु-वंश के शासक कन्फ्यूसियस विचार-धारा के कट्टर समर्थक थे। मंचु सम्राट कांग-हसी (1662-1722 ई.) ने इस विचारधारा को ईसाई विचारधारा में सम्मिलित करने का आदेश दिया। किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारक निरन्तर आश्वासन देने के पश्चात् भी पोप के भय से इसे क्रियान्वित नहीं कर सके। इसीलिये कांग-हसी के उत्तराधिकारियों युंग-चेंग (1722-1736 ई.) तथा चिएन-लुंग (1736-1796 ई.) ने धर्म प्रचारकों का कठोरता से दमन करना प्रारम्भ कर दिया। फिर 1800 ई. तक यूरोप का व्यापार कैन्टन बन्दरगाह तक सीमित था। अतः अंग्रेजों ने समान धार्मिक और व्यापारिक सम्बन्ध बनाने हेतु 1793 एवं 1816 ई. में सम्राट के निवेदनार्थ दो प्रतिनिधि मण्डल लार्ड मैकार्ट तथा लार्ड एमहर्स्ट के नेतृत्व में भेजे परन्तु इन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

इंग्लैण्ड द्वारा चीन में कार्यवाही :—उपरोक्त दोनों प्रतिनिधि मण्डलों की असफलता के पश्चात् इंगलैण्ड के शासक जार्ज तृतीय ने चीनी शासक को आज्ञा-पत्र भेजा जिसे ठुकराते हुए चीन के सम्राट ने स्पष्ट कर दिया कि वह पश्चिमी

व्यापारियों को केवल व्यापारियों के रूप में देखना चाहता है; उसे पश्चिमी देशों से संधि करने में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस प्रकार इंग्लैण्ड समझने लग गया कि चीन को बगैर सबक दिये मामला सुलझेगा नहीं। लार्ड नेपियर के प्रति चीन के व्यवहार ने भी इंग्लैण्ड को अधिक उग्र बना दिया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत की अफीम चीन को भेजती थी बदले में रेशम आदि का आयात करती थी। यद्यपि चीन की सरकार प्रारम्भ से ही अफीम आयात के विरुद्ध थी किन्तु सामाजिक व्यसन ने इस व्यापार को घटाने के स्थान पर दिनों-दिन बढ़ाया। 1818 से 1833 ई. के आंकड़ों से इसका प्रमाण मिलता है कि जहां पूर्व में अफीम का व्यापार 17% था वहां 1838 ई. तक 50% हो गया था। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की सफलता से चीनी रेशम का विदेशी निर्यात घट गया था अतः अफीम का मूल्य चीन को चाँदी में चुकाना पड़ रहा था। इस प्रकार चीन की आर्थिक दशा दयनीय होने लगी थी वहां अफीम चीन की चेतना पर अधिकार करने लग गई थी। ऐसी स्थिति में चीन के शासकों ने अफीम के आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये। किन्तु लुके-छुपे व्यापार चलता रहा। 1834 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफीम व्यापार में एकाधिकार को समाप्त करने के पश्चात् इंग्लैण्ड के व्यापारी इस व्यापार को करने में स्वतन्त्र हो गये। अतः इंग्लैण्ड की सरकार ने कैन्टन में इंग्लैण्ड के व्यापार की देख-रेख हेतु लार्ड नेपियर की नियुक्ति की। नेपियर राजनीतिक-महत्वाकांक्षी था। वह अपने को ब्रिटिश शासन का प्रतिनिधि मानते हुए कैन्टन आया और वहां के वायसराय द्वारा अगवानी नहीं करने पर नेपियर ने इसे ब्रिटिश शासन का अपमान माना। यद्यपि नेपियर ब्रिटिश दूत नहीं था। उसकी नियुक्ति केवल व्यापार-संरक्षण हेतु की गई थी। नेपियर ने वायसराय के प्रति जो अपमान व्यक्त किया उससे रुष्ट होकर वायसराय ने अंग्रेज कर्मचारियों को फैक्टरी से बाहर जाने के आदेश दे दिये। नेपियर कैन्टन में डटा रहा किन्तु स्थिति को पहचान कर मेकाओ लौट गया जहां दो सप्ताह पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई। नेपियर के प्रति इस अपमानजनक व्यवहार ने इंग्लैण्ड को और अधिक रुष्ट कर दिया।

प्रथम अफीम-युद्ध (1839-44ई.)—चीन के सम्राट द्वारा अफीम व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने पर भी चीन में अफीम आती रही तो सम्राट ने इसको पूर्णतः रोकने के लिए एक योग्य प्रशासक, राष्ट्रप्रेमी, दृढ़ संकल्पी व्यक्ति लिन-त्से-हू की नियुक्ति की। 1839 ई. में ब्रिटिश अधिकारी कैप्टन ईलियट जब 20 हजार अफीम के बक्से लेकर कैन्टन पहुँचा तो लिन ने इन बक्सों को नष्ट करवा दिया। कैप्टन ईलियट ने लिन की कार्यवाही को स्वीकार तो कर लिया किन्तु चीन के शासक को सूचित भी कर दिया कि लिन की इस कार्यवाही का बदला रानी विक्टोरिया द्वारा अवश्य लिया जायेगा। कैन्टन में खड़े दो ब्रिटिश-पोतों ने वहां एकत्रित 21 चीनी नौकाओं को नष्ट कर दिया। फलतः चीन और इंग्लैण्ड के

मध्य प्रथम अफीम युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसकी प्रतीक्षा इंगलैण्ड कुछ वर्षों से कर रहा था। चीन ने बगैर सोचे-समझे, इंगलैण्ड की शक्ति का अनुमान लगाये बिना युद्ध प्रारम्भ कर दिया और तीन वर्ष तक युद्ध चलता रहा। 1815 ई. में नेपोलियन के पश्चात् इंगलैण्ड को अपनी सुरक्षा की चिन्ता नहीं रही अतः वह अपनी शक्ति बढ़ाते हुए विश्व का शक्तिशाली देश बन गया था। ऐसे शक्तिशाली देश के सम्मुख परम्परागत युद्ध करने वाला देश चीन कब तक टिक सकता था। इंगलैण्ड की विश्व प्रसिद्ध जल-सेना ने चीन के तटीय-स्थान विजित करने प्रारम्भ कर दिये। 13 जुलाई, 1842 ई. को चीन का प्रसिद्ध बन्दरगाह शंघाई अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। अंग्रेज सिकियांग जीत कर नानकिंग की ओर बढ़ने लगे तब चीन ो लगने लगा कि अंग्रेजों से संधि करना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार 29 अगस्त, 842 को नानकिंग की संधि द्वारा युद्ध समाप्त हुआ।

नानकिंग की संधि के अनुसार चीन ने अपने पांच बन्दरगाहों-कैन्टन, मोय, फूचो, निगपो तथा शंघाई को अंग्रेज व्यापारियों के लिये खोल दिया तथा ांगकांग द्वीप इंगलैण्ड को सौंप दिया (यह आज भी इंगलैण्ड के अधिकार में है)। ो-होंग नामक चीनी व्यापारी की अविकृत संस्था को समाप्त कर दिया गया। ायात-निर्यात कर की व्यवस्था को सुस्पष्ट किया गया। चीन में बसे हुए अंग्रेजों ो विशेषाधिकार प्रदान किये गये, अब उनके अभियोग केवल अंग्रेज न्यायाधीश ो सुन सकते थे। चीन को अफीम बक्सों के हर्जाने के रूप में 3 करोड़ तथा युद्ध ातिपूर्ति के 7 करोड़ रुपये इंगलैण्ड को देने पड़े। 12 वर्ष पश्चात् 1845 ई. इस संधि को दोहराने की व्यवस्था रखी गई। चीन के सम्राट को धार्मिक हिष्णुता की घोषणा के साथ कैथोलिक धर्माधिकारियों को धार्मिक स्वतन्त्रता ी पड़ी।

नानकिंग की संधि के परिणामों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि ंगलैण्ड को केवल अफीम निर्यात में लाभ मिला जबकि उसने सोचा था कि उसका य माल भी वहाँ खूब बिकेगा। चीनी लोगों ने इंगलैण्ड के अन्य माल के प्रति ई उत्साह नहीं दिखलाया। फलतः इंगलैण्ड का व्यापारिक लाभ अर्जित करने स्वर्ण-सपना घाटे का सपना बन गया था। इस संधि ने चीन की आर्थिक वस्था को हिला दिया इसलिये इसकी पूर्ति हेतु किसानों पर नाना प्रकार के कर ाये गये परिणाम स्वरूप कृषक अपनी जमीन बेच-बेच कर मजदूरी पेशे को नाने लगे। इस संधि ने चीनीवासियों के मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा को और कर दिया। किन्तु इसका सर्वाधिक लाभ, इतिहासकार कैटलबी के अनुसार ा यूरोपीय देशों को मिला। ब्रिटिश बंदूकों ने चीन में एक दरार बना दी, इस दरार ा न केवल पश्चिमी देशों का व्यापार चल पड़ा अपितु इस दरार द्वारा यूरोप अन्य जातियों ने भी चीन में प्रवेश किया। 3 जुलाई 1844 ई. को वांघिया

संधि द्वारा, अमेरिका ने, 24 अक्तूबर 1844 ई. को ह्वामगोआ संधि द्वारा फ्रांस ने तथा 1847 ई. में नार्वे और स्वीडन ने भी चीन से संधियां कर अपने लिये विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये। इस प्रकार नानकिंग संधि पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा चीन में प्रवेश करने के प्रयत्नों की सफलता ही कही जा सकती है।

इंगलैण्ड नानकिंग संधि से संतुष्ट नहीं था क्योंकि वह अपने व्यापार के प्रसार हेतु चीन के भीतर प्रवेश चाहता था। अफीम के व्यापार के बारे में पूर्णतः स्पष्टीकरण चाहता था। इसके अतिरिक्त अन्य पश्चिमी राष्ट्र केवल पांच बन्दरगाहों से संतुष्ट नहीं थे। वहां चीन निवासी मुख्यतः कैन्टन-वासी अंग्रेजों के प्रति घृणा रखते थे। समय-समय पर इश्तिहारों द्वारा अपनी भावना प्रकट करते थे अतः अंग्रेज इस दुर्व्यवहार से नाराज होते जा रहे थे। इस नाराजगी का प्रकटीकरण पारस्परिक मार-पीट आदि में झलकता था। पाश्चात्य देश नानकिंग संधि को दोहराने पर बल देने लगे जिससे उन्हें अधिक से अधिक आर्थिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों किन्तु चीन की सरकार इस अपमानजनक संधि को दोहराना नहीं चाहती थी। ऐसे समय में दो घटनाएं घटित होने से पुनः युद्ध की स्थिति बन गई।

द्वितीय अफीम-युद्ध (1856-60 ई)—लोरचा एरो नामक एक जहाज कैन्टन बन्दरगाह पर इंगलैण्ड का झण्डा लहराये हुए खड़ा था। इस जहाज का स्वामी येह्-मिंग-चिन नामक एक चीनी तस्कर था। कैन्टन के वायसराय ने तस्करी के आरोप में जहाज को अपने अधिकृत कर चीनी तस्कर को बन्दी बना लिया। अंग्रेजों ने अपने संरक्षित् जहाज तथा चीनी तस्कर को लौटाने की मांग की किन्तु वायसराय द्वारा इसे ठुकरा दिया गया। ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने इस पर नानकिंग संधि को दोहराने पर बल दिया किन्तु चीन सरकार ने इसके प्रति उपेक्षा दिखलाई।

1856 ई. में फ्रांस का एक कैथोलिक पादरी चीन के भीतर आपत्तिजनक कार्यवाही और अनधिकृत ईसाई धर्म प्रचार करने के आरोप में चीन की पुलिस द्वारा बन्दी बना लिया गया। चीनी न्यायालय में उस पर अभियोग चलाया गया और न्यायालय ने मृत्यु दण्ड घोषित कर दिया। इस समय फ्रांस का शासक नेपोलियन तृतीय अपनी प्रभुसत्ता सुदृढ़ करने के प्रयत्न में असफलता देख रहा था अतः इंगलैण्ड के आश्रय द्वारा अपनी स्थिति सुधारना चाहता था। क्रीमिया के युद्ध में इंगलैण्ड का साथ देकर मित्रता स्थापित करने के पश्चात् वह इस मित्रता को मजबूत करना चाहता था। अतः वह चीन के प्रति इंगलैण्ड को उत्साहित कर रहा था एवं फ्रांस के कैथोलिकों को सन्तुष्ट करके चीन में मृत्युदण्ड प्राप्त पादरी का पक्ष उभार रहा था। 1857 ई.. में इंगलैण्ड ने सैनिक कार्यवाही कर कैन्टन पर अधिकार कर लिया किन्तु भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध आन्दोलन होने से उसे सैनिक कार्यवाही शिथिल करनी पड़ी। इसीलिये उसने फ्रांस, अमेरिका

और रूस से चीन के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही का अनुरोध किया। फ्रांस तो तैयार ही था अतः इंग्लैण्ड के साथ हो गया, अमेरिका आश्वासन देता रहा तथा रूस घटनाओं का अवलोकन करता रहा था। कैन्टन विजय के पश्चात् अंग्रेजी सेनाएं टाकू दुर्ग की ओर बढ़ी अन्ततः चीन की सुरक्षा को खतरा देखकर टिन्टसिन के वायसराय ने टिन्टसिन की सन्धि कर ली। किन्तु पेकिंग की सरकार ने इसे स्वीकृत नहीं किया। फलतः ब्रिटिश सरकार ने क्रुद्ध होकर चीन की शक्ति को कुचलने होड युद्ध पुनः प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः 1858 ई. में पेकिंग की सरकार ने टिन्टसिन की शर्तों को मान्यता देते हुए अंग्रेज प्रतिनिधियों को पेकिंग आने की अनुमति प्रदान कर दी।

टिन्टसिन की संधि द्वारा अफीम के व्यापार पर चीन का हस्तक्षेप सर्वथा समाप्त कर दिया गया। पांच बन्दरगाहों के स्थान पर विदेशी व्यापार हेतु चीन के ग्यारह बन्दरगाह खोल दिये गये। धर्म-प्रचारकों को धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता एवं पासपोर्ट धारक विदेशियों को चीन में कहीं भी भ्रमण की सुविधा प्रदान कर दी गई। किन्तु टिन्टसिन की संधि की पुष्टि हेतु पेकिंग सरकार की मान्यता आवश्यक थी। पेकिंग सरकार ने पेकिंग जाने के लिये फ्रांसिसियों और अंग्रेजों को गुलामों के मार्ग से अनुमति प्रदान की वहीं अमेरिका और रूस को उस मार्ग से बुलाया जिससे उनके साथ चीन की समता का व्यवहार झलकता था। इस प्रकार के व्यवहार से अंग्रेजों ने क्षुब्ध होकर फ्रांस के साथ पेकिंग पर आक्रमण कर (1860 ई. में) उसे जीत लिया। चीन का सम्राट हिसएन-फेंग जेहोल की ओर भाग गया अतः उसके भाई राजकुमार कुंग को वार्ता करनी पड़ी। टिन्टसन संधि के अतिरिक्त अंग्रेजों को कुछ और सुविधाएं प्रदान की गईं जो **पेकिंग कन्वेनशन 1860 ई.** के नाम से विख्यात है।

इस कन्वेनशन द्वारा 11 बन्दरगाहों के अतिरिक्त 5 और बन्दरगाह तथा टिन्टसिन विदेशियों के लिए खोल दिये गये। कोलून को इंग्लैण्ड के अधिकार में दे दिया गया। धर्म प्रचारकों के प्राणरक्षा की गारन्टी सहित फ्रांस के पादरियों को चीन में कहीं भी भूमि क्रय करने और चर्च बनाने की अनुमति प्रदान की गई। चीनी कानून से विदेशियों को मुक्त कर दिया गया। व्यापारिक लेन-देन में विदेशियों को संविदाओं (अनुबन्धों) की छूट दी गई। इस प्रकार इस संधि ने विदेशियों के लिये चीन के द्वार पूर्णतः खोल दिये यहां पश्चिमी राष्ट्रों ने आर्थिक लाभ अर्जित करने के साथ-साथ राजनीतिक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिमी देशों ने शंघाई में एक स्थायी सेना का गठन किया जो पश्चिमी व्यापारियों की सुरक्षा के लिये तैयार रहती थी।। यद्यपि इंग्लैण्ड के प्रति आक्रोश जनता में व्याप्त था फिर भी चीन ने यह स्वीकार कर लिया था कि उसकी शक्ति अन्य की तुलना में तुच्छ है। अतः उसने अपनी बन्द आँख की नीति का परित्याग

कर खुली आँख से दुनियां को देखने का निश्चय किया। इस हेतु 1861 ई. में चीन की सरकार ने विदेश विभाग की स्थापना की। किन्तु विभिन्न राष्ट्रों से समझौतों के पश्चात् चीन को बाह्य आक्रमणों से राहत मिली किन्तु आन्तरिक दृष्टि से मंचू शासकों की दुर्बलता, अधिकारियों की भ्रष्टता, कृषकों पर भारी कर विदेशियों के प्रभुत्व तथा चीन की आर्थिक अव्यवस्था के विरोध में किये गये, आन्दोलन चीन की मंचू सरकार को कचोट रहे थे। इनमें ताई-पिंग की क्रांति मुख्य थी।

ताईपिंग की क्रांति (1851–64 ई.) :—दो अफीम युद्ध में चीन की पराजय ने स्पष्ट कर दिया था कि चीन की सरकार और सम्राट विदेशियों को बाहर निकालने में असमर्थ है। अतः इस कार्य को करने में जनता ने मोर्चा सम्भाला। किसान, मजदूर, कारीगर, विद्वान, नाविक, पूंजीपति, शिक्षक आदि ने एक साथ क्रांति को सहयोग दिया। चीन की आबादी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थी इस पर टिप्पणी करते हुए जी. आई. टायलर लिखते है कि "स्थाई रूप से कंगालों की बढ़ती हुई आबादी ने क्रांति के लिये कच्चा माल उपलब्ध कर दिया था।" अंग्रेजों की क्षति-पूर्ति को पूरा करने हेतु किसानों पर आर्थिक भार बढ़ा दिये गये। विदेशी सस्ते कपड़े ने चीन के चतुर कारीगरों को भूख के हवाले कर दिया। चीन के बन्दरगाह विदेशियों के लिए खोले जाने के फलस्वरूप कैन्टन से अन्य बन्दरगाहों तक माल-लाद-लेजाने वाले हजारों नाविक बेकार हो गये। इजराइल एप्सटीन लिखता है कि व्यापारी और पैसा उधार देने वाले जो रेशम के उत्पादन में पैसा लगाते थे अब विदेशी माल में पैसा लगाने लगे। ऐसी अवस्था में चीन की सरकार द्वारा विदेशियों से संधि करने के पश्चात् भी जनता विदेशियों से लड़ती रही थी। और शाही सेनाओं से अधिक जनता को सफलता प्राप्त हुई थी। यद्यपि चीन की साम्राज्ञी जुड़सी के सेनापति सेग्न कुओफान ने विदेशियों की सैन्य सहायता से अन्ततः यह आन्दोलन कुचल दिया था। फिर भी 1850 से 1865 ई. के अल्प काल (15 वर्ष) तक क्रांतिकारियों ने चीन में एक स्वतन्त्र सरकार चलाई।

यद्यपि चीन में 1840 ई. से ही सरकार के विरुद्ध आन्दोलन हो रहे थे किन्तु 1849 ई. के भयंकर अकाल में मंचू शासन की निष्क्रियता के फलस्वरूप जनता अधिक उग्र हो गई। इसी समय जनता को हुंग-हू-चुआन नामक एक योग्य नेता भी मिल गया। चुआन का जन्म कैन्टन जिले के एक गांव क्वाग-तुंग में हुआ था। हुंग-हू-चुआन किसान का पुत्र था अतः कृषकों पर राज्य के अत्याचार वह प्रारम्भ से देखता आया था। फिर उसकी चेतना पर बिशप रोबर्टस का भारी प्रभाव था। उसमें राजनीतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का समन्वय था। वह पेशे से शिक्षक था। वह स्वयं मंचू-सरकार का कट्टर विरोधी था अतः उसने अपने साथियों के सहयोग से एक गुप्त संस्था "शांगति हुई का निर्माण कर, सरकार का विरोध तथा जनता का समर्थन प्राप्त करते हुए अपना क्रांतिकारी कार्यक्रम चालू

रखा। उसने यूरोप का दौरा भी किया जहां उस पर समाजवाद का भारी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार जहां वह साम्राज्यवाद, शोषण और राज्य के दैविक सिद्धान्त का अन्त चाहता था वहां वह स्वयं को ईसा का छोटा भाई मानते हुए ईश्वरीय संदेश द्वारा क्रांति को स्थापित करना चाहता था। उसका नारा था—**वैल फैड वैल क्लेड** अर्थात् अच्छा भोजन अच्छे वस्त्र। हर आदमी भेदभाव रहित सारे देश में भ्रमण कर सके, हर आदमी को अच्छा भोजन और काम के साधन मिलें। संयुक्त परिवार प्रथा समाप्त हो। विदेशी शक्तियां चीन के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करें। इस प्रकार उसने जनता में अशान्ति का लाभ उठा कर 11 जनवरी, 1851 ई. को अपने सहयोगियों के साथ चीन में **ताईपिंग तिएन कुओ** अर्थात चिर-शान्ति की स्वर्गीय राज्य की घोषणा करते हुए 12 जनवरी, 1852 ई. को एक क्रांतिकारी सरकार का गठन कर दिया। इस क्रांतिकारी सरकार ने नानकिंग को विजित कर उसे अपनी राजधानी बनाया। 1852 से 1853 ई. तक क्रांतिकारी सरकार की सेनाओं ने दक्षिण चीन, हुनान और चांगशाह के प्रदेशों पर अधिकार कर उत्तरी चीन की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। हिसांग नदी के तटवर्ती नगरों पर अधिकार करती हुई क्रांतिकारी सेना 1860 ई. तक चीन की राजधानी पेकिंग के समीप पहुँच गई। इसी समय टिन्टसिन की संधि को अस्वीकृत करने पर फ्रांस और ब्रिटेन की सेना भी पेकिंग की ओर बढ़ रही थी। सम्राट ऐसी परिस्थितियों से डर कर पेकिंग से भाग गया। जब मित्र राष्ट्र की सेनाओं ने पेकिंग पर प्रभुत्व स्थापित कर पेकिंग कन्वेनशन में चीन की मंचू सरकार से संधि कर ली तब मंचू सरकार के सहयोगार्थ मित्र राष्ट्र की सेनाओं ने क्रांतिकारियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। अंग्रेज जनरल गोर्डन की सहायता से मंचू सरकार द्वारा क्रांतिकारियों का सफाया किया जाने लगा। 1862 ई. में नानकिंग जीत लिया गया। 1864 ई. में ताईपिंग क्रांति के नेता टी सेंग क्युवा फेन ने आत्महत्या कर ली। चुंग-वांग द्वारा फेन के पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित किया गया परन्तु कुछ माह पश्चात् ही दोनों को फांसी दे दी गई। हुंग-हू-चुआन की हत्या 1858 ई. में जमींदारों द्वारा करा दी गई थी। इस प्रकार क्रांतिकारी सरकार योग्य नेतृत्व के अभाव में असफल हो कर समाप्त हो गई। इसके सदस्यों को विदेशों में भागने के लिए बाध्य होना पड़ा जहां से वह चीन के लोगों में क्रांति का स्फुरण करते रहे।

इस असफल क्रांतिकारी सरकार ने अल्पकाल में ही महत्वपूर्ण सुधार किये। अपने अधीन क्षेत्र की सम्पूर्ण भूमि कृषकों में वितरित कर दी तथा किसानों को सहकारी कृषि करना सिखलाया। जमींदार और सामन्तों को समाप्त कर दिया गया। इतिहासकार आगस्टस लिडले लिखता है कि "आकाश के नीचे सारी भूमि, आकाश के नीचे रहने वालों द्वारा जोती जानी चाहिये अतः उन्हें मिलकर जोतने

दो"–का सिद्धान्त क्रांतिकारियों द्वारा प्रयोग में लिया गया। दूसरा सुधार सैन्य संगठन का था। नई कामगार सेना का संगठन कर उन्हें वेतन के स्थान पर जिन दुर्गों को वह जीतती थी उसकी सम्पत्ति सैनिकों में बांट दी जाती थी। यह सेना ईश्वरीय क्रांति की तरह ईश्वरीय सेना मानी जाती थी। यह सेना युद्ध के साथ-साथ विकास का कार्य भी करती थी। तीसरा सुधार अफीम प्रयोग को बन्द करना था। जुआरी और अफीम प्रयोगकर्त्ताओं को कठोर दण्ड दिया जाता था। चौथा सुधार स्त्रियों की दशा सुधारने का था। स्त्रियों को बेचना, उनकी वैश्यावृत्ति, लोहे के जूते पहनाना, दहेज, तथा बहुपत्नि विवाह अवैध घोषित किया गया। पांचवां सुधार श्रमिकों की दशा सुधार का था। अस्वास्थ्यकारी मकानों को तुड़वा कर नये मकान बनाये गये। मजदूरों की आमदनी और स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया गया। इन सुधारों तथा क्रांतिकारी सरकार की आर्थिक प्रगति को देखकर ही अंग्रेज प्रतिनिधि हैनरी ने कहा था कि–ताईपिंग राज्य में जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा मांचू साम्राज्य से कहीं अधिक है। जमींदार, सामन्त और व्यापारियों ने अपने स्वार्थों के खातिर इस क्रांति के पीठ में छुरा घोंप दिया फिर भी इस क्रांति ने निर्बल शासन के प्रति घृणा जगाकर देश में एक शक्तिशाली, सामाजिक आर्थिक समानता स्थापित करने वाली सरकार की स्थापना की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। इसी का एक परिणाम 1900 ई. की बॉक्सर क्रांति थी।

1876 ई. में मार्गरी नामक एक अंग्रेज नागरिक की चीनियों द्वारा हत्या करने पर इंग्लैण्ड ने "मार्गरी हत्याकाण्ड" का लाभ उठाते हुए चीन में और अधिक सुविधायें प्राप्त कर ली। 1884 ई. में फ्रांस द्वारा अनाम पर अधिकार करने के कारण चीन-फ्रांस का युद्ध हुआ। इस युद्ध में चीन पराजित हुआ और उसे कोचीन-चीन फ्रांस के हवाले करना पड़ा। रूस ने पूर्व में ही विशिष्ट सुविधा में प्राप्त आमूर नदी के उत्तरी चीनी प्रदेश और उसूरी नदी के पूर्वी प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार की होड़ से जापान भी प्रभावित हुआ। 1874 ई. में प्रशान्त महासागर में स्थित चीन के रियुक्यु द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् जापान ने कोरिया की अपना रुख किया।

चीन-जापान युद्ध (1894–95 ई.) :—16वीं शताब्दी में कोरिया के प्रश्न पर चीन-जापान संघर्ष हो चुका था। जापान की इसमें पराजय हुई थी। तभी से कोरिया चीन का एक भाग था। किन्तु चीन ने उस पर अपना साम्राज्यवादी प्रभुत्व नहीं थोप कर स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी थी। 1876 ई. में कोरिया जापान संधि में जापान ने कोरिया को स्वतन्त्र राष्ट्र माना था। 1885 ई. में चीन-जापान के मध्य कोरिया-करार हुआ था कि कोई भी देश एक दूसरे की पूर्व सूचना बगैर कोरिया में सेना नहीं भेजेगा। किन्तु 1894 ई. में टोंघको दल के

नेतृत्व में कोरिया में विद्रोह हुआ तो कोरिया के सम्राट की प्रार्थना पर चीन ने वहां सैनिक सहायता भेज दी। 1885 ई. के समझौते का उल्लंघन मानते हुए जापान ने भी अपनी सेनाएं सिउल में रवाना कर दी। इस प्रकार दोनों में संघर्ष के आसार बढ़ने लगे परन्तु जापान ने राजनीति से काम लेते हुए अपनी सेनाएं वहां से हटा लीं। चीनवासी भी 1885 ई. के समझौते से रूष्ट थे क्योंकि वह कोरिया को चीनी अंग मानते हुए उसकी सुरक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। जापान ने सेनाएं तो हटा लीं पर वह युद्ध का बहाना ढूंढ रहा था। कोरिया को प्रभाव में कर वह मंचूरिया और फारमोसा जैसे समृद्ध प्रदेशों को हथियाना चाहता था। फिर जापान को रूस के कोरिया में बढ़ते प्रभाव से भी चिन्ता थी। इसी प्रकार चीन और कोरिया की निर्बलता जापान को स्पष्ट हो चुकी थी, पश्चिमी राष्ट्रों के साथ कोरिया की आर्थिक-संधियाँ जापान को अपनी सुरक्षा के संकट के रूप में दिखलाई दे रही थी। फिर जापान उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक तक पाश्चात्य ढंग से गठित जापानी सैन्य शक्ति का प्रदर्शन कर विश्व को अपनी भावना (साम्राज्यवादी) का परिचय देना चाहता था।

इसके लिए शीघ्र ही जापान की एक कार्यवाही ने युद्ध को उत्पन्न कर दिया। 1894 ई. में चीन का एक जहाज कोरिया की ओर जा रहा था। जापान के सैनिकों ने उसे मार्ग में पकड़ कर आत्मसमर्पण का आदेश दिया। चीनी जहाज के कैप्टन द्वारा आदेश ठुकराने पर जापान के सैनिकों ने उस पर आक्रमण कर दिया। जहाज में सभी व्यक्ति मारे गये। इस घटना से क्रुद्ध हो कर चीन ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। नौ माह के इस थल-जल युद्ध में चीन प्रत्येक स्थान पर पराजित हुआ। जापान की सेना ने कोरिया में प्रवेश कर मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। चीन के सुदृढ़ बन्दरगाह पोर्ट आर्थर पर भी जापानी सेना का कब्जा हो गया। 1895 ई. के आरंभ में जापानी सेनाएं शांटुंग पहुंच गई, फरवरी में वी-है-वी के पतन के पश्चात् टिन्टसिन और पेकिंग पर खतरा देखते हुए चीन की सरकार शिमोनोस्की संधि (अप्रैल 1885 ई.) करने पर बाध्य हो गई। चीनी अधिकारी लि-हूंग-चांग ने जापान के साथ संधि वार्ता की।

इस संधि द्वारा कोरिया पूर्णतः स्वतन्त्र स्वीकार किया गया। मंचूरिया का लिआओ तुंग प्रदेश, फारमोसा द्वीप, पेस्केडोरस तथा लिआओ-टुंगा प्रायद्वीप जापान को दे दिये गये। शान्सी, चुन्किंग, सूचाओ तथा हैंगचाओ नामक चार बन्दरगाह जापानी-व्यापार के लिए खोल दिये गये। चीन ने युद्ध हर्जाना नहीं चुकाने तक वी-है-वी जापान के अधिकार में दे दिया।

चीन-जापान युद्ध के परिणामों ने जहाँ पश्चिमी राष्ट्रों को जापानी शक्ति का परिचय दे दिया वहाँ पश्चिमी राष्ट्र पूर्वी खरबूजे (चीन) को अपने-अपने प्रभाव

क्षेत्र में विभाजित करने हेतु उतारु हो गये। इंगलैण्ड ने बर्मा की सीमा पर सुविधाएं प्राप्त की, फ्रांस ने रेल तथा खान-खनन में विशेष अधिकार प्राप्त किये, रूस ने ट्रांस-साइबेरियन रेलवे-निर्माण का अधिकार प्राप्त कर लिया, 1899 ई. में जर्मनी ने दो जर्मन पादरियों की हत्या की आड़ लेकर टिंसिगटाओ पर अधिकार कर विशिष्ट सुविधाओं के बदले में चीन को ऋण प्रदान किया तथा लियाओ तुंग प्रायद्वीप जापान से पुनः चीन को दिलवा दिया। इसके पूर्व जापान के "पीले साम्राज्यवाद" को रोकने रूस, जर्मनी और फ्रांस ने जापान को चेतावनी दी कि वह मंचूरिया में अधिकृत प्रदेश पुनः चीन को लौटा दे। जापान ने भी स्थिति की गंभीरता को देख कर इन देशों का सुझाव मान लिया। फिर भी जापान को चीन में अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के समान व्यापारिक-समता का अधिकार मिलना जापान की एशिया में श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये काफी था। चीन-जापान युद्ध जहाँ चीन की शक्ति के अन्त की पराकाष्ठा थी वहाँ जापान की शक्ति के उदय का द्योतक थी। अमेरिकी "उन्मुक्त द्वार की नीति" की घोषणा से चीन के विभाजन को राहत मिली। इतिहासकार कैटलवी के अनुसार चीन-जापान युद्ध के साथ एक युग का अन्त हुआ और दूसरे का प्रारम्भ। ....चीन जापान के युद्ध ने सुदूरपूर्व की समस्याओं में एक ऐसे युग का श्रीगणेश किया जो 1919 की वर्साई की संधि तक चला।"

बॉक्सर क्रांति (1900 ई.)—चीन की पराजय ने चीनी देशप्रेमियों को निर्बल सरकार के प्रति पुनः क्रांति की ओर प्रेरित किया। 1866 ई. में देश भर में विदेशियों और सरकार की नीतियों के विरोध में प्रदर्शन हुए। इस विरोध को व्यक्त करने वालों में डॉ. सन-यात-सेन भी थे; जिन्होंने चीन में सर्वप्रथम जनतन्त्र की नींव रखी थी। सम्राट कुआंग-डू-सू के द्वारा सुधार स्वीकार भी किये गये किन्तु वह चीनी-जनता की भावना को पुष्ट नहीं करते थे। आन्दोलनकारियों का नारा था—"विदेशियों से छुटकारा पा लो तो सारी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी"। चीन की विधवा साम्राज्ञी त्सूहसी की सहानुभूति भी आन्दोलनकारियों के साथ थी किन्तु यह मात्र अपनी गद्दी को सुरक्षित करने का ढोंग था जबकि इस आन्दोलन के विरुद्ध वह पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग मांग रही थी। शानतुंग प्रांत से प्रारम्भ होने वाला बॉक्सर आन्दोलन (मुष्टि विद्रोह) चीन के कई प्रान्तों में फैलता चला गया। 1899 ई. में बॉक्सर लोगों ने विदेशी दूतावासों को घेर लिया। जर्मन राजदूत की हत्या कर दी गई। फलतः इंगलैण्ड का जहाजी बेड़ा चीन पहुँच गया। इससे आन्दोलनकारी अधिक उग्र हो गये और उन्होंने पेकिंग में विदेशियों को लूटना और मौत के घाट उतारना प्रारम्भ कर दिया। इस पर 4 अगस्त 1900 ई. को विदेशियों की संयुक्त सेना ने विद्रोहियों का दमन करना शुरु किया। अंग्रेजी सैनिकों को भारतीय सैनिकों की सहायता से पेकिंग में सफलता मिली। 15 अगस्त को चीन की विधवा रानी सम्राट के साथ पेकिंग

से सियान भाग गई। संयुक्त सेना ने आन्दोलन को वर्बरतापूर्वक कुचला ही नहीं अपितु गाँव के गाँव उजाड़ कर चीन में आंतक का राज्य स्थापित कर दिया। रानी के भाग जाने पर विदेश यात्रा पर गये 77 वर्ष के वृद्ध ली-हुंग-चांग को सम्राट बनने हेतु आमंत्रित किया गया। दिसम्बर 1900 ई. में संधि वार्त्ता प्रारम्भ हुई किन्तु विदेशियों के पारस्परिक अविश्वास के परिणामतः **बॉक्सर प्रोटोकोल** नामक संधि 7 सितम्बर, 1901 ई. को सम्पन्न हुई।

बॉक्सर प्रोटोकोल की शर्तों के अनुसार देशभक्त शांटुग गवर्नर ली-हू-शीन के साथ 103 चीनी उच्चाधिकारी फांसी पर लटका दिये गये। कई अधिकारियों को कठोर दण्ड दिया गया। युद्ध का खर्च चीन पर थोप दिया गया जिसे 1940 ई. तक 40 किश्तों में चुकाना था। विदेशी अब राजकीय उच्च पदों पर नियुक्त किये गये। दो वर्षों के लिये चीन में शस्त्र आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दूतावासों और विदेशी व्यापारिक संस्थानों की सुरक्षा के नाम पर विदेशियों ने चीन की सुरक्षा, व्यवस्था पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, रूस, फ्रांस, जापान, इटली, आस्ट्रिया, हंगरी आदि को सेना और शस्त्र रखने का अधिकार मिल गया। एक प्रकार से बॉक्सर-प्रोटोकोल ने चीन के निवासियों को चीन में दूसरे दर्जे का नागरिक बना दिया था। इस प्रोटोकोल ने मरते हुए मंचू शासन को 10 वर्ष का जीवन-दान दे दिया वहाँ विदेशियों की पारस्परिक फूट ने चीन को विभाजन से बचा लिया किन्तु क्रांति के जो अंगारे ऊपर से बुझा दिये गये वे अन्दर ही अन्दर निरंतर सुलगते रहे थे। यद्यपि मित्र राष्ट्रों के इस आर्थिक दोहन ने चीन में यातायात, शिक्षा, उद्योग आदि का विकास भी किया किन्तु चीन को शोषण करने की नीति जनता को अन्दर ही अन्दर उबाल रही थी। 1905 ई. में रेलमार्गों के निर्माण का कार्य विदेशियों को सौंपने पर सरकार के प्रति विरोध भड़क उठा। जनता ने "अधिकार वापस लो" का नारा बुलंद किया। जनता ने रेल कम्पनी को सहयोग नहीं दिया और कम्पनी का दीवाला निकल गया।

क्षतिपूर्ति चुकाने के लिये जनता पर आर्थिक भार बढ़ता चला गया और दूसरी ओर चीन की आबादी चक्रवात गति से बढ़ने लगी। फलतः चीन की सरकार पर जनसंख्या का भार बढ़ने लगा। सरकार के टार्ड्ज सुधार और वैधानिक सुधार से जनता संतुष्ट नहीं हुई अकाल, बाढ़, महामारी के प्रकोपों ने स्थिति अधिक विकट कर दी। ऐसी दशा में विदेशियों द्वारा चीन के दोहन का कार्य यथावत चलता रहा। सितम्बर 1911 ई. में चीनी जनता ने खुला शान्तिपूर्वक विरोध किया। दुकानें बन्द कर दी गई, कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी, छात्रों ने स्कूल जाना बन्द कर दिया, करों की अदायगी रोक दी गई।

चीन की राज्य क्रांति (1911 ई.) :—उपरोक्त विरोध को डॉ. सनयात सेन

का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था। 10 अक्तूबर, 1911 ई. को हाको में अकस्मात एक बम विस्फोट हुआ। तलाशी लेने पर पुलिस को पता चला कि यह क्रांतिकारियों का एक अड्डा था। पुलिस को यह क्रांतिकारियों की एक सूची प्राप्त हुई जिसमें कई सैनिक अफसरों का भी नाम था। पुलिस कार्यवाही से डर कर इन अधिकारियों ने अपने सेनापति ली युआन हूंग को विद्रोह का नेतृत्व करने के लिये बाध्य किया। हूंग के नेतृत्व में सैनिकों ने मध्य चीन के बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। दूसरी ओर डॉ. सनयात सेन के विचारों से प्रभावित आन्दोलनकारियों के संरक्षण में कई प्रान्तों ने मंचू शासन को उखाड़ दिया। इन प्रान्तों ने स्वतन्त्र चीन का गठन कर ब-तिंग-फांश के नेतृत्व में काम चलाऊ गणतन्त्र की घोषणा कर दी। इसकी राजधानी शंघाई थी। मंचू सरकार ने क्रांति को रोकने के लिये हुकुआंग प्रान्त के गवर्नर युआन शीकाई को मुख्य सेनापति बना कर भेजा किन्तु शंघाई और कैन्टन दोनों ही केन्द्रों की विद्रोही सेना का संचालन योग्य सेनापति कर रहे थे अतः युआन शिहकाई और क्रांतिकारियों के मध्य समझौते की बातचीत शुरू हुई। इसी मध्य क्रांतिकारियों ने नानकिंग को भी जीत लिया था। दूसरी ओर गणतंत्र समर्थकों ने सनयात सेन को स्वतन्त्र चीन का राष्ट्रपति घोषित कर दिया तथा कैन्टन को राजधानी घोषित किया। युआन शीकाई एक कूटनीतिज्ञ और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह संवैधानिक राजतन्त्र का पक्षपाती था। अतः 8 नवम्बर, 1911 ई. को चीन की राष्ट्रीय सभा ने शीकाई को पेकिंग सरकार प्रधानमन्त्री निर्वाचित कर लिया तो उसने क्रांतिकारियों को दबाना प्रारम्भ कर उन्हें समझौते पर मजबूत किया। वैसे शीकाई के पास भी सैनिकों को वेतन चुकाने के लिये रिक्त कोष था तो गणतन्त्र सरकार को भी अपनी आर्थिक कठिनाइयां थी। सनयात सेन ने चीन की एकता की दृष्टि से युआन शीकाई को संयुक्त चीन का राष्ट्रपति स्वीकार करते हुए 12 फरवरी 1912 ई. को अपना पद त्याग दिया। इसके पूर्व 18 नवम्बर 1911 ई. को मंचू सम्राट ने भी चीन की नई सरकार को अपना शासन सौंप दिया था। इस प्रकार इस क्रांति ने मंचू शासन का अन्त कर एशिया में प्रथम प्रजातन्त्र की स्थापना की। इस क्रांति के उपरान्त चीन में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन आरम्भ होने लगे थे। चीन के इतिहास में यह क्रांति एक राष्ट्रिय आन्दोलन पुकारी जाती है वहां यह सुधारवादी आन्दोलन भी थी।

प्रथम रिपब्लिक शासन

युआन शीकाई का शासन (12 फरवरी, 1912 ई. 6 जून, 1916 ई.)—सनयातसेन से समझौते के समय युआन शीकाई ने चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना का वचन दिया था पर शीघ्र ही उसने अपनी चालबाजियों से क्रान्तिकारियों को मन्त्रिमण्डल छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। उसने सरकार और प्रान्तों में अपने समर्थक लोग नियुक्त किये। सनयातसेन के समर्थकों का दमन करने 4 नवम्बर,

1913 ई. को कुओमिन्ताँग दल को गैर कानूनी घोषित कर दिया। इस प्रकार सनयातसेन के सदस्य गिरफ्तार किये जाने लगे और बहुत से विदेशों में भाग गये। इस प्रकार चीन की संसद में अब केवल युआन शीकाई समर्थक तथा मध्यम-मार्गी सदस्य रह गये। इन मध्यममार्गी सदस्यों को शीकाई ने पैसों से अपना समर्थक बना लिया। ऐसी नाममात्र की पार्लियामेण्ट ने एक नया संविधान बनाया जिसमें सर्वोच्च शक्ति राष्ट्रपति युआन शीकाई के हाथ में सुपुर्द कर दी। युआन को दस वर्ष के लिए स्थायी राष्ट्रपति नियुक्त करते हुए संसद ने उसे अधिकार दिया कि दस वर्ष बाद परिस्थितिनुसार राष्ट्रपति अपना कार्यकाल बढ़ा सकता है अथवा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता है। ऐसे संविधान के तहत मार्च, 1914 ई. को शीकाई ने स्थायी राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। डॉ. सनयातसेन को अब निश्चय हो गया कि उनके गणतन्त्र का सपना तानाशाही में परिवर्तित हो रहा हैं अतः उन्होंने अपने दल के साथ क्रान्ति को पूर्ववत प्रारम्भ रखा। 1915 ई. में युआनशिकाई ने अपने-आपको सम्राट घोषित किया फलतः युनान प्रान्त में शिकाई के विरुद्ध भयंकर विद्रोह उबल पड़ा। चीन के अन्य प्रान्त भी विद्रोह की लपेट में आने लगे। विद्रोह बढ़ता देख पश्चिमी राष्ट्रों ने युआन शिकाई पर सम्राट की घोषणा को समाप्त करने के लिए दबाव डाला। युआन ने अपनी घोषणा वापिस ले ली। विरोधियों के साथ प्रजातन्त्र की स्थापना हेतु समझौते की वार्ता के अनन्तर 6 जून 1916 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार चीन पुनः स्वेच्छाचारीतन्त्र के जबड़ों में जाने से बच गया।

युआनशीकाई के काल में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया था। इस युद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी और टर्की के खिलाफ फ्राँस, ब्रिटेन और रूस लड़ाई कर रहे थे। जापान और ब्रिटेन परस्पर सन्धि (1902 ई.) में बन्धे हुए थे अतः जापान ने इस महायुद्ध का लाभ, चीन में जर्मनी प्रान्तों पर अधिकार कर, उठाना चाहा। युआन शीकाई इस युद्ध के प्रति उदासीन था। वह चाहता था कि चीन की भूमि पर यह युद्ध नहीं हो किन्तु जापान ने शांटुंग पर आक्रमण कर, टिसिंगटाओ पर अधिकार कर लिया। इसके उपरान्त जापान ने चीन के सम्मुख 21 मांगें रखीं। इन मांगों को युआनशीकाई ने उदासीन मन से स्वीकार कर चीन को जापान संरक्षित क्षेत्र बना दिया।

ली युआन हूंग का राष्ट्रपति काल—युआनशीकाई की मृत्यु के पश्चात् उपराष्ट्रपति तथा मंचू सरकार के विरुद्ध सैनिक विद्रोहियों का सेनापति नेता ली युआन हूंग चीन का राष्ट्रपति बना। ली युआन हूंग ने चीन में विरोध को देखते हुए पुनः गणतन्त्र सरकार के गठन की घोषणा की। उसने तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया तथा पार्लियामेण्ट की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए मन्त्रीमण्डल को शासन का सूत्र थमा दिया। इस प्रकार शासन में तुआन ची जुई की स्थिति

महत्वपूर्ण हो गई। जुई पूर्व में युआनशीकाई का अधीनस्थ कर्मचारी रह चुका था और उसके पक्ष का समर्थक था। अतः उसने भी ली युआन हूंग की उपेक्षा कर स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया। 1917 ई. तक पुनः गणतन्त्र का सपना धूमिल हो गया जबकि राष्ट्रपति और संसद की इच्छा के विरुद्ध जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया तथा जापान के प्रभाव को चीन में स्वीकार कर लिया। इस पर राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री को पद से हटा दिया किन्तु उसने सैनिक प्रान्त पतियों के सहयोग से चीन में विद्रोह प्रारम्भ करा दिये। अतः उसे प्रधानमन्त्री का पद नहीं त्यागना पड़ा अपितु ली युआन हूंग ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

तुआन ची जुई का एकाधिपत्य—ली के राष्ट्रपति पद से हटते ही उपराष्ट्रपति फेंग कुओ चंग ने राष्ट्रपति का स्थान ग्रहण किया। यह भी तुआन ची जुई की प्रभुता पसन्द नहीं करता था। वह स्वयं एक शक्तिशाली सेनापति रह चुका था और सेना का एक बड़ा भाग उसके आधिपत्य को स्वीकार करता था। तुआन ची जुई ने जब राष्ट्रपति का विरोधी रुख देखा तो उसके लिए आवश्यक हो गया कि कार्यवाहक राष्ट्रपति के स्थान पर स्थायी चुनाव करावे। अक्तूबर 1918 को फेंग का कार्यकाल भी समाप्त हो रहा था। इसका लाभ उठा कर प्रधानमन्त्री ने पार्लियामेन्ट का अधिवेशन बुलाया तथा पद, प्रतिष्ठा और पैसे के बल पर अपने समर्थक ह्सू शिह-चंग को राष्ट्रपति निर्वाचित करा दिया। इस प्रकार तुआन ची जुई ने पार्लियामेण्ट, राष्ट्रपति और सेना को प्रलोभन द्वारा अपने हाथों की कठपुतली बनाकर चीन में स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करना प्रारम्भ कर दिया।

14 अगस्त, 1917 ई. को तुआन ची जुई ने चीन को महायुद्ध में सम्मिलित कर दिया। जुई इस युद्ध से कुछ लाभ उठाना चाहता था जिसमें मुख्यतः अफीम युद्ध, बॉक्सर क्रान्ति में थोपे गये हर्जाने में कमी तथा कुछ वर्षों तक क्षतिपूर्ति स्थगित करने, मित्र राष्ट्रों की सेना चीन से हटाने आदि की शर्तें थीं। युद्ध में भाग लेने से चीन में जर्मनी और आस्ट्रिया की सम्पत्ति पर चीन का प्रभुत्व, बॉक्सर विद्रोह में थोपी गई जर्मन क्षतिपूर्ति की समाप्ति, अन्य देशों की क्षतिपूर्ति में 5 वर्ष का स्थगन तथा युद्ध समाप्ति पर सन्धि परिषदों में चीन का प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया गया। चीन को लाभ होने के साथ-साथ मित्र राष्ट्रों को भी कई लाभ मिले—चीन से हजारों मजदूर प्राप्त हुए जिससे यूरोपीय मजदूरों को सेना में भरती करना सम्भव हो सका। चीन के तट पर खड़े जर्मन जहाज जापानी प्रतिरोध के कारण चीन में फंस गये थे जब चीन युद्ध में उतर गया तो जर्मन जहाजों और पनडुब्बियों पर स्वतः मित्र राष्ट्रों का कब्जा हो गया फलतः मित्र देशों की नाविक शक्ति में वृद्धि हो गई। चीन से मित्र राष्ट्रों को कच्चा माल और भोजन प्रचुर मात्रा में मिलने लग गया।

व्यावसायिक क्षेत्र में 1876 ई. में चीन में प्रथम रेल लाईन का निर्माण हुआ। यह लाइन शंघाई से वूसूंग तक बनाई गई थी. पर चीन की परम्पराई जनता रेलवे के इतनी विरुद्ध थी कि 1877 ई. में इस लाईन को उखाड़ कर पटरियों को फार्मूसा द्वीप में डाल दिया कि उन्हें पुनः न लाया जा सके। फिर भी प्रगति रोकना जनता के लिए सम्भव नहीं था, 1881 ई. में पुनः रेल लाईन का निर्माण किया गया और उसके बाद लाईनों का निर्माण निरन्तर चालू रहा। 1885 ई. में प्रथम बार टेलीग्राफ प्रारम्भ किया गया, 1878 ई. में पहली कोयला खान, 1890 ई. में प्रथम आयरन वर्क्स की स्थापना हुई। इतना होते हुए भी चीन की जनता प्रगति की विरोधी थी। इसी कारण ली चुंग चांग जैसा शिक्षित व्यक्ति भी अपनी इच्छानुसार चीन की उन्नति करने में असमर्थ रहा पर डॉ. सनयातसेन और च्यांग काई शेक के काल में व्यापार और व्यवसाय ने प्रगति की। इसका कारण दोनों नेताओं द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियाँ थीं। चीन की मुद्रा पद्धति में सुधार, नवीन कानूनों का निर्माण, सैन्य संगठन में सुधार आदि कार्य कुओमिंग-तांग दल की उपलब्धि थी। 1900 ई. से 1930 ई. तक विदेशी व्यापार में 350 गुना वृद्धि हुई। कुओमिंग तांग दल के प्रथम प्रधान डॉ. सनयात सेन के विचार साम्यवादियों से मिलते-जुलते थे अतः उसने भूमि व्यवस्था के सुधार को ही कृषकों की दशा में उन्नति स्वीकार किया। पर उसके उत्तराधिकारी पर पूंजीवादी व्यवस्था का प्रभाव अधिक होने से कृषकों की दशा के प्रति च्यांग काई शेक उदासीन ही रहा।

साम्यवादी सरकार ने कृषि सम्बन्धी सुधारों को महत्व प्रदान कर 1950 ई. में सामन्तों और धनिक कृषकों से भूमि छीन कर भूमिहीन कृषकों में बाँट दी। सुधारों के विरोधियों को कठोर दण्ड दिया। 1953 ई. में सहकारी कृषि व्यवस्था प्रारम्भ की गई, 1956 ई. में सामुदायिक तथा 1958 ई. में कम्यून व्यवस्था प्रारम्भ कर दी गई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि अन्य व्यवसाय और उद्योग आदि सामूहिक रूप से कम्यूनों द्वारा संचालित किये जाने लगे। साम्यवादी चीन की औद्योगिक प्रगति का अंकलन 1964 ई. में टोकियो में आयोजित औद्योगिक प्रदर्शनी में चीन के माल के प्रदर्शन से किया जा सकता है। 1960 ई. से औद्योगिक क्षेत्र में चीन स्वावलम्वी देश बन गया।

1966 ई. में माओ की विचारधारा का विरोध उग्र रूप में उठा क्योंकि माओ जनसाधारण की सत्ता में विश्वास रखता था वहाँ ल्यू शाओ ची जैसे नेता शिक्षित वर्ग के अधीन सत्ता में। फलतः चीन में माओ के इशारे पर "सांस्कृतिक क्रान्ति" उठी और 1968 ई. में माओत्से की विजय हुई। इस प्रकार वैचारिक क्रान्ति चीन में अभी भी विद्यमान है। यद्यपि माओत्से तुंग की मृत्यु हो चुकी है फिर भी उसके विचार चीन को आगे बढ़ा रहे हैं।

———

महत्वपूर्ण हो गई। जुई पूर्व में युआनशीकाई का अधीनस्थ कर्मचारी रह चुका था और उसके पद का समर्थक था। अतः उसने भी ली युआन हुंग की उपेक्षा कर स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया। 1917 ई. तक पुनः गणतन्त्र का सपना धूमिल हो गया जबकि राष्ट्रपति और संसद की इच्छा के विरुद्ध जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया तथा जापान के प्रभाव को चीन में स्वीकार कर लिया। इस पर राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री को पद से हटा दिया किन्तु उसने सैनिक प्रान्त पतियों के सहयोग से चीन में विद्रोह प्रारम्भ करा दिये। अतः उसे प्रधानमन्त्री का पद नहीं त्यागना पड़ा अपितु ली युआन हुंग ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

तुआन ची जुई का एकाधिपत्य—ली के राष्ट्रपति पद से हटते ही उपराष्ट्रपति फेंग कुओ चंग ने राष्ट्रपति का स्थान ग्रहण किया। यह भी तुआन ची जुई की प्रभुता पसन्द नहीं करता था। वह स्वयं एक शक्तिशाली सेनापति रह चुका था और सेना का एक बड़ा भाग उसके आधिपत्य को स्वीकार करता था। तुआन ची जुई ने जब राष्ट्रपति का विरोधी रुख देखा तो उसके लिए आवश्यक हो गया कि कार्यवाहक राष्ट्रपति के स्थान पर स्थायी चुनाव करावे। अक्तूबर 1918 को फेंग का कार्यकाल भी समाप्त हो रहा था। इसका लाभ उठा कर प्रधानमन्त्री ने पार्लियामेन्ट का अधिवेशन बुलाया तथा पद, प्रतिष्ठा और पैसे के बल पर अपने समर्थक ह्सू शिह-चंग को राष्ट्रपति निर्वाचित करा दिया। इस प्रकार तुआन ची जुई ने पार्लियामेण्ट, राष्ट्रपति और सेना को प्रलोभन द्वारा अपने हाथों की कठपुतली बनाकर चीन में स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करना प्रारम्भ कर दिया।

14 अगस्त, 1917 ई. को तुआन ची जुई ने चीन को महायुद्ध में सम्मिलित कर दिया। जुई इस युद्ध से कुछ लाभ उठाना चाहता था जिसमें मुख्यतः अफीम युद्ध, बॉक्सर क्रान्ति में थोपे गये हर्जाने में कमी तथा कुछ वर्षों तक क्षतिपूर्ति स्थगित करने, मित्र राष्ट्रों की सेना चीन से हटाने आदि की शर्तें थीं। युद्ध में भाग लेने से चीन में जर्मनी और आस्ट्रिया की सम्पत्ति पर चीन का प्रभुत्व, बॉक्सर विद्रोह में थोपी गई जर्मन क्षतिपूर्ति की समाप्ति, अन्य देशों की क्षतिपूर्ति में 5 वर्ष का स्थगन तथा युद्ध समाप्ति पर सन्धि परिषदों में चीन का प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया गया। चीन को लाभ होने के साथ-साथ मित्र राष्ट्रों को भी कई लाभ मिले—चीन से हजारों मजदूर प्राप्त हुए जिससे यूरोपीय मजदूरों को सेना में भरती करना सम्भव हो सका। चीन के तट पर खड़े जर्मन जहाज जापानी प्रतिरोध के कारण चीन में फंस गये थे जब चीन युद्ध में उतर गया तो जर्मन जहाजों और पनडुब्बियों पर स्वतः मित्र राष्ट्रों का कब्जा हो गया फलतः मित्र देशों की नाविक शक्ति में वृद्धि हो गई। चीन से मित्र राष्ट्रों को कच्चा माल और भोजन प्रचुर मात्रा में मिलने लग गया।

पेरिस की सन्धि परिषद् और वर्साय की सन्धि—(1919 ई.) में चीन की दोनों सरकारों (पेकिंग सरकार जिसका नेतृत्व तुआन ची जुई कर रहा था और केन्टन की सरकार जो डॉ. सनयातसेन के नेतृत्व में थी के प्रतिनिधि सम्मेलन में सम्मिलित हुए। दोनों सरकारों की मुख्य माँग यह थी कि जापान द्वारा अधिकृत चीन के जर्मनी क्षेत्र (शांतुंग और मंचूरिया) चीन को लौटा दिये जावें किन्तु इस पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। जापान ने शांतुंग में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित नहीं करने का वचन देते हुए आर्थिक विशेषाधिकारों को बनाये रखा। वर्साय की सन्धि में भी चीन के पक्ष का अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने समर्थन तो किया किन्तु मित्र राष्ट्रों के स्वार्थों ने उसकी एक न चलने दी। फलतः युद्ध के पश्चात् चीन को जो आशा थी वह पूर्ण नहीं हुई अतः चीनी प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। चीन के हस्ताक्षरों के बिना ही वर्साय सन्धि पूर्ण कर ली गई, इसी के परिणामस्वरूप 20 मई, 1921 ई. को चीन जर्मन से पृथक् सन्धि करने पर बाध्य हुआ। जर्मन-चीन सन्धि का महत्व केवल इसी में व्यक्त किया जा सकता है कि दो उपेक्षित राष्ट्र परस्पर मित्र बन गये।

वाशिंगटन सम्मेलन (नवम्बर, 1912 ई.)—में चीन के प्रति किये गये निर्णयों में "नौ राष्ट्रों की सन्धि" का महत्वपूर्ण स्थान है। चीन में जापान की बढ़ती हुई शक्ति, नौसैनिक प्रतिस्पर्धा को हल करने और चीन-जर्मनी सन्धि को मजबूत नहीं होने देने की दृष्टि से अमेरिका ने सम्मेलन में सम्मिलित सभी राष्ट्रों पर "उन्मुक्त द्वार" की नीति का पालन करने जोर डाला। नौ राष्ट्रों की सन्धि चीन के लिए "मैग्नाकार्टर" थी। इससे चीन की प्रादेशिक अखण्डता और स्वतन्त्रता बनाये रखने का आश्वासन मिल गया; साथ ही जापान ने शांतुग प्रदेश लौटाने का आश्वासन भी दिया। इस प्रकार वाशिंगटन सम्मेलन चीन के लिए लाभप्रद रहा।

तुआन ची जुई पैसों और पद के प्रलोभनों द्वारा भी अपनी स्थिति सुरक्षित नहीं रख सका क्योंकि चीन में सेनापतियों का पारस्परिक संघर्ष और सत्ता की होड़ प्रारम्भ हो गई थी इस होड़ में चांग-त्सो-लिन एवं त्साओ कुन की सम्मिलित कार सेना ने पेकिंग पर आक्रमण किया और तुआन ची जुई परास्त हो गया। 1920 ई. से 1922 ई. तक चांग-त्सो-लिन चीन का अधिनायक रहा। 1922 ई. में त्साओ कुन ने एक अन्य सेनापति पेई-फू के सहयोग से चांग को हटा दिया। चांग भाग कर मंचूरिया पहुँचा जहाँ उसने मंचूरिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर अपना अलग राज्य स्थापित कर दिया। पेकिंग में वू पेई-फू ने सत्ता हस्तगत की। इस प्रकार 1917 ई. से 1926 ई. तक उत्तरी चीन विभिन्न सेनापतियों (तुचुन) का संघर्ष स्थल रहा। यह सेनापति यद्यपि अपने को प्रधानमन्त्री घोषित करते थे किन्तु यह काल सैनिक शासन की अराजकता का युग ही था। 1926 ई. तक कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकार भली-भांति व्यवस्थित और सुदृढ़ हो चुकी थी। अतः केन्टन

की सेनाओं ने पेकिंग की ओर प्रयाण कर चीन के विभिन्न स्वतन्त्र सेनापतियों को एक-एक कर परास्त किया।

कुओमिंग–तांग दल

डा० सनयातसेन (1866–1925 ई.)—आधुनिक चीन के इतिहास में डा. सनयातसेन का स्थान अमेरिका का जार्ज वाशिंगटन, भारत के महात्मा गांधी और रूस के लेनिन के समकक्ष है। सेन का जन्म केन्टन के बन्दरगाह से 60 कि.मी. दूर हिचांग-शान नामक ग्राम में एक किसान परिवार के यहाँ हुआ था। इनके जन्म से दो वर्ष पूर्व ताईपिंग की क्रांति हो चुकी थी, अतः इन पर क्रांति का प्रभाव स्वाभाविक था। 13 वर्ष की अवस्था में यह अपने व्यापारी भाई के पास हवाई द्वीप के विख्यात नगर होनोलूलू चले गये। यहाँ इनकी प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् अंग्रेजी शिक्षा प्रदान की गई। यहीं इन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और अंग्रेजों के अधीन हांगकांग में चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन कर डाक्टर बने। अपना व्यवसाय प्रारम्भ करने में इनको विदेशियों के विरोध का सामना करना पड़ा अतः असफल होकर 27 वर्ष की अवस्था में चीन लौट आये। 1895 ई. में जब जापान ने चीन को पराजित किया तो उन्होंने इसका दोषी मंचू सरकार को माना। उन्होंने मंचू सरकार का विरोध तथा विदेशियों को वाहर करने के मन्त्र के साथ अपने समर्थकों का छोटा सा गुट वनाया। यह गुट चीन में सुधार और मंचू शासन के विरुद्ध विद्रोह में विश्वास रखता था। इस गुट को 'हांशिग चुंग हू' (चीनी पुनर्जागरण सभा) कहा गया। 1895 ई. में इस गुट ने कैन्टन में क्रान्ति की असफल चेष्टा की फलस्वरूप इसके अनेक सदस्य मारे गये और सनयातसेन को भी चीन से भागना पड़ा। अपने प्रवासकाल में सनयातसेन ने एशिया, यूरोप तथा अमेरिका का विस्तृत भ्रमण किया। वहाँ असंख्य प्रवासी चीनियों को अपना अनुयायी वनाकर क्रान्ति की मशाल जलाये रखी। 1905 ई. हांशिग चुंग हू को विस्तृत कर अपने संगठन का नाम 'तुंग मेंग हुई' (सामान्य शक्तियों का संगठन) रखा। यह संगठन गणतन्त्री सरकार का आधार था। इस संगठन को दक्षिण चीन के प्रान्तों में विरोध भड़काने में वहुत सफलता मिली। विदेशों से भी इसको सहायता प्राप्त थी। चीन की सरकार ने सनयातसेन के वध की कीमत 50 हजार डालर घोषित कर रखी थी। सनयातसेन के विदेश प्रवास के दौरान उनकी अनुपस्थिति में उनका दल चीन में कार्यरत था। 1911 ई. की क्रान्ति में वह चीन लौट आये जहाँ उन्हें कैन्टन की सरकार का अस्थाई राष्ट्रपति घोषित किया गया। किन्तु शीघ्र ही 1912 में देश हित, एकता और एकीकरण के लिए अपना पद युआन शीकाई के पक्ष में त्याग दिया। थोड़े ही समय में युआन शीकाई ने प्रजातन्त्र का आवरण उतारकर सनयातसेन के समर्थकों का सफाया प्रारम्भ कर दिया।

अतः सनयात ने चीन के अन्य दलों के साथ अपने दल तुंग मेंग हुई को सम्मिलित कर 'कुओमिंग-तांग' (राष्ट्रीय दल) का गठन किया। 1913 ई. में युआन शीकाई ने इस दल को अवैध घोषित कर दिया और दल के प्रमुख, सेन के मित्र सुंग चाओजिन को फांसी पर लटका दिया। अतः सनयातसेन पुनः गुप्त प्रचार में लग गये और युआन शीकाई की मृत्यु तक उन्होंने कैन्टन में एक समानान्तर सरकार खड़ी कर दी। इस सरकार का राष्ट्रीयता, जनतन्त्र और जनता की जीविका मुख्य लक्ष्य था। किन्तु सरकार के सम्मुख आर्थिक संकट की समस्या थी। इस हेतु सनयातसेन ने इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका से सहायता मांगी किन्तु कोई लाभ नहीं मिला। इस कारण समाजवादी सनयातसेन को साम्यवादी रूस की शरण लेनी पड़ी। 1923 ई. में रूसी सलाहकार माइकेल बोरोडीन चीन आये उन्होंने कुओमिंग तांग दल का गठन रूसी साम्यवादी पार्टी के आदर्श के अनुरूप किया। 1924 ई. में कैन्टन में इस दल का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और इस प्रकार डॉ. सनयातसेन चीन के क्रान्तिकारियों के अग्रज और पूजनीय बन गये। इस समय में एक सैनिक विद्यालय भी स्थापित किया गया जो क्रान्ति और देश की रक्षा के लिए सैनिक तैयार करता था। इस विद्यालय का अध्यक्ष च्यांग-काई शेक को बनाया गया। इसके विद्यार्थियों में चुतेह, लिन पिआओ, चाऊ एन लाई आदि आधुनिक चीन के निर्माता सम्मिलित थे। मास्को में स्थापित विश्वविद्यालय में हजारों चीनी युवक-युवतियों को साम्यवादी शिक्षा दी जाने लगी। फलतः कुओमिंग तांग दल चीन की मुख्य शक्ति बन गया। किन्तु इसकी पूर्ण प्रगति सनयातसेन नहीं देख सके, कलेजे में केन्सर के कारण 12 मार्च, 1925 ई. को उनका देहान्त हो गया।

च्यांग काई शेक (1827 ई.)—सनयातसेन की मृत्यु के पश्चात कुओमिंग-तांग दल का प्रधान च्यांग काई शेक को बनाया गया। इसका जन्म 30 अक्तूबर, 1827 ई. को चेकियांग प्रान्त में एक राज्याधिकारी के परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु हो जाने से च्यांग काई शेक को काफी दिक्कतें उठानी पड़ी थी। 1906 ई. में उसने 'पाओतिंग' के सैनिक विद्यालय में शिक्षा-ग्रहण प्रारम्भ की; बाद में उच्च सैनिक शिक्षा हेतु उसे जापान भेजा गया। जापान में वह सनयातसेन के प्रभाव में आया और 'तुंग मेंग हुई' का सदस्य बन गया। 1911 ई. में चीन लौटने पर उसने क्रान्तिकारी दल का साथ दिया। जब युआन ने राष्ट्रवादी दल का दमन प्रारम्भ किया तो वह चुपचाप व्यवसाय में लग गया। किन्तु डॉ. सेन ने कैन्टन में पुनः अपनी पृथक् सरकार स्थापित की तो च्यांग को आगे आने का अवसर मिल गया। उसे सेन ने सैनिक संस्था का अध्यक्ष बनाया। इस प्रकार सेन की मृत्यु के पश्चात वह दल का अध्यक्ष और सेना का प्रधान सेनापति बना। इस महत्वपूर्ण पद पर उसने अपने विरोधियों का सफाया करना प्रारम्भ

लिया तथा डॉ. सेन के परिवार से विवाह सम्बन्ध बना कर अपनी स्थिति अधिक सुदृढ़ कर ली। च्यांग काई शेक के नेतृत्व में कुओमिंग तांग सरकार ने उत्तरी चीन पर सैनिक अभियान द्वारा सफलता भी प्राप्त की। परन्तु शीघ्र ही 1927 ई. तक कुओमिंग तांग दल में फूट पड़ गई। एक दल शेक का समर्थक था तो दूसरा साम्यवादी विचारधारा का। फिर भी इस समय में उसने शंघाई के धनाढ्य व्यापारियों, डॉ. सेन के पुत्र सुन, तथा कुओमिंग तांग दल के वरिष्ठ नेता हू हान का सहयोग प्राप्त कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया। ईसाई धर्म ग्रहण कर पश्चिमी राष्ट्रों की कृपा द्वारा उसने 6 जुलाई, 1928 ई. को चीन में एक प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना की। इस सरकार का राष्ट्रपति च्यांग काई शेक निर्वाचित हुआ और इसकी राजधानी नानकिंग रखी गई। 1931 ई. तक दल की फूट राजनीतिक संघर्ष पर उतर आई और 1947 ई. तक चीन के इतिहास में गृह युद्ध चला।

चीन का गृह युद्ध

निःसन्देह च्यांग काई शेक प्रारम्भ में रूस के प्रभाव में था। 1925 ई. के एक भाषण में उसने कहा था कि—"यदि हमने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है तो उसका श्रेय हमारे सोवियत रूस के साथियों को है।" किन्तु साम्यवादी विचारधारा का चीन में तीव्र प्रभाव शेक अधिक सहन नहीं कर सका क्योंकि साम्यवादियों ने चीन में आंतक फैलाना प्रारम्भ कर विदेशियों को मौत के घाट उतारना प्रारम्भ कर दिया तो पश्चिमी राष्ट्रों में मुख्यतः इंगलैण्ड ने शेक से इसका हर्जाना मांगते हुए उन सैनिक अधिकारियों को दण्डित करने का आश्वासन चाहा। च्यांग ने यह आश्वासन प्रदान किया फलतः साम्यवादी शेक से चिढ़ गये। च्यांग के समर्थकों में मुख्यतः सुंग, कुंग, च्यांग, और चैन वंश के लोग थे जो कि पूंजीवादी विचारधारा को मानते थे और पश्चिमी देशों के सहयोग से चीन का औद्योगिक विकास चाहते थे। इंगलैण्ड इसके लिए सहायता देने को तैयार था। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव में आकर च्यांग साम्यवादियों को दण्डित करने के लिए उद्यत हो गया। जब च्यांग काई शेक पेकिंग अभियान में व्यस्त था उस समय साम्यवादी कियांगसी प्रान्त में अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। उन्होंने आन्हुई और फुकिएन प्रदेश पर अपना अधिकार कर भूमि सुधारों से वहाँ की जनता को प्रभावित कर लिया था। इस प्रकार रूस और चीनी साम्यवादी प्रभाव से चिढ़ कर उसने रूसियों को चीन से निकलने की आज्ञा दी तथा साम्यवादी प्रभावयुक्त विद्यार्थियों को मौत के घाट उतारना प्रारम्भ कर दिया। 1934 ई. के मध्य च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों के विरुद्ध पांच अभियान किये। इसमें पांचवां सर्वाधिक भयंकर था। कियांगसी में माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में (1931 ई. से) साम्यवादी

सरकार कार्य कर रही थी। कियांगसी को शेक की सेना ने घेर लिया। माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में एक लाख साम्यवादी पश्चिम की ओर रवाना हुए। चीनी इतिहास में यह साम्यवादी-यात्रा "दी-लोंग मार्च" (The Long March) के नाम से विख्यात है। इसके पश्चात् साम्यवादी उत्तर की ओर बढ़े, इस प्रकार लगभग 9000 कि. मी. का फासला तय कर एक लाख में से 20 हजार जीवित साम्यवादी येनान व शेन्सी में सुरक्षित पहुँच गये। यह दोनों प्रदेश चीन के उत्तर-पश्चिम में रूस की समीप थे। यहां माओ-त्से-तुंग साम्यवादी सेना का अध्यक्ष बन गया।

चीन-जापान संघर्ष (7 जुलाई, 1937 ई)--मंचूरिया में चांगत्सोलिन और उसका पुत्र चांग दुसेहलिंग एक प्रकार से स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे थे। इस तरह चीन में तीन सरकारें विद्यमान थी च्यांग काई शेक ने चीनी एकीकरण योजना के अन्तर्गत मंचूरिया के विरुद्ध भी युद्ध छेड़ दिया। चांगत्सोलिन की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने मंचूरिया को शेक सरकार के अधीन सम्मिलित कर दिया। इस घटना से जापान नाराज हो गया क्योंकि एक स्वतन्त्र गवर्नर से अपनी मांगें मनवाना जापान के लिए जितना सरल था उतना चीन की पश्चिमी राष्ट्र समर्थित च्यांग काई शेक की सरकार से मनवाना सरल नहीं था। इसके विपरीत जापान का शत्रु देश रूस उत्तरी मंचूरिया में अपना प्रभाव बढ़ाने में लगा हुआ था। इसके साथ-साथ च्यांग काई शेक जापान से निरन्तर मांग कर रही थी कि जापान दक्षिण मंचूरियन रेलवे का अधिकार चीन को सौंप दे और अपनी सेनाएं वहां से हटा ले। चीन के लिआओतुंग से जापान को हटने के लिए भी नानकिंग सरकार जोर डाल रही थी। फिर चीन की सरकार ने हजारों चीनियों को मंचूरिया में बसाना प्रारम्भ कर दिया था अतः इन सभी कारणों से क्रोधित हो साम्राज्यवादी जापान ने अपनी अधीनता में मंचूरिया में स्वतन्त्र सरकार स्थापित करने का निश्चय किया। इस हेतु 18 सितम्बर, 1931 ई. को जापान को बहाना मिल गया। रात्रि को मुकदन नगर के समीप स्थित जापानी सैनिकों की छावनी के पास बनी रेल लाइन पर एक बम विस्फोट हुआ। जापानियों ने इसका दोष चीनी-सेना पर मढ़ते हुए मुकदन नगर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापानी सेना ने मंचूरिया को रौंद डाला 1931 ई. के अन्त तक सम्पूर्ण प्रदेश अधिकृत कर, 18 फरवरी, 1932 ई. को एक स्वतन्त्र राज्य 'मंचूको' की घोषणा की। चीन के पदच्युत मंचूवंश के सम्राट को इसका शासक नियुक्त कर 15 सितम्बर, 1932 ई. को इस राज्य को मान्यता प्रदान कर दी यद्यपि इसका वास्तविक शासन जापान के हाथों में ही था।

चीन की सरकार ने जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की परन्तु राष्ट्रसंघ जापान को रोकने में असफल रहा। इसके विपरीत जापान ने राष्ट्रसंघ की

सदस्यता त्याग दी। जापान मंचूरिया की विजय से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। चीन के अन्य प्रान्तों को हड़पने के लिए सैनिक कार्यवाही जारी रखी। चीनी जनता ने जापान के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन किया किन्तु च्यांग काई शेक इस समय भी अपनी शक्ति जापान के विरुद्ध न लगा कर साम्यवादियों के विरुद्ध लगाये रहा।

साम्यवादी सरकार च्यांग से भी अधिक जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी। अतः 1936 ई. में साम्यवादी नेता माओ-त्से-तुंग ने अपनी पार्टी के उद्देश्यों को व्यक्त करते हुए प्रकट किया कि विदेशी आक्रान्ता का मिलकर विरोध करना, जनता को शासन-सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना और देश की आर्थिक उन्नति करना पर शेक साम्यवादियों से किसी भी प्रकार समझौता नहीं चाहता था। इस दशा में च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों का पूर्ण दमन करने शेन्सी में सेना भेजी। सेना के सेनापति चांग हसुएह लिआंग को जब साम्यवादियों ने परस्पर झगड़े से जापानी प्रभुत्व का आसार दिखलाया तो सेनापति ने अपने हमले में ढील दे दी। च्यांग इस पर स्वयं शेन्सी की ओर गया, जहाँ 12 दिसम्बर, 1936 ई. को सेनापति लिआंग द्वारा उसे कैद कर लिया गया। अन्ततः जापानियों के विरुद्ध राष्ट्रवादी और साम्यवादी के मध्य एक होने तथा सरकार के बारे में बात होने के लिए 25 दिसम्बर को च्यांग को मुक्त कर दिया। वार्ता प्रारम्भ हो उसके पूर्व ही 7 जुलाई, 1937 ई. को जापान और चीन के मध्य युद्ध का प्रारम्भ हो गया। जापान के विरुद्ध साम्यवादियों ने मतभेद भुलाकर च्यांग काई शेक के नेतृत्व में सैनिक सहयोग किया। जापान द्वारा 1939 ई. तक चीन का आधा भाग अधिकृत कर लिया तभी द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। चीन ने मित्र राष्ट्रों का सहयोग किया और साम्यवादियों की गुरिल्ला सेनाओं ने जापान का डटकर मुकाबला किया। 1945 ई. में जब द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ तो चीन में सत्ता प्राप्त करने राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिसकी इति च्यांग काई शेक के फारमोसा द्वीप में शरण लेने पर हुई। इस प्रकार 21 नवम्बर, 1949 ई. को सम्पूर्ण चीन पर साम्यवादियों का शासन स्थापित हो गया।

माओ-त्से-तुंग (1893 ई.)—माओ आधुनिक साम्यवादी चीन का निर्माता था। उसका जन्म 1893 ई. में हुनान प्रान्त के एक कृषक परिवार में हुआ था। माओ का विवाह बचपन में हो गया था। वह बचपन से ही सामाजिक-आर्थिक प्रतिबन्धों का विरोधी था। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से वह घर से भाग निकला। शिक्षा समाप्त करने पर उसे पेकिंग विश्वविद्यालय में सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष की नौकरी मिली। यहां उसने कार्ल मार्क्स और लेनिन की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन किया और चीन के प्रसिद्ध नेताओं के सम्पर्क में आया। 1919 ई. में उसे प्रोफेसर चेन तु सिउ से मिलने का अवसर मिला और माओ उसके विचारों

से बहुत प्रभावित हुआ। फलतः 1921 ई. में चीन में साम्यवादी दल की स्थापना की गई। संस्थापक 12 सदस्यों में माओ भी एक था। माओ को हुनान प्रान्त की साम्यवादी शाखा का सचिव नियुक्त किया गया। 1923 ई. में जब कुओमिंगतांग दल और साम्यवादी दल में परस्पर सहयोग स्थापित हुआ तो माओ को केन्द्रीय समिति का सदस्य बनाया गया। डॉ. सनयातसेन की मृत्यु के पश्चात् जब शंघाई में मजदूरों ने हड़ताल की और चांग काई शेक की सरकार ने हड़तालियों के विरुद्ध दमनचक्र चलाया तो माओत्से हुनान लौट आया। यहाँ उसने जमींदारों से भूमि छीनने और भूमि के सार्वजनिक वितरण का आन्दोलन चलाया। 1927 ई. में उसने हुनान के किसान आन्दोलन पर अपनी रिपोर्ट देते हुए साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति को कृषक क्रान्तिकारी संगठन का सुझाव दिया। किन्तु माओत्से का सुझाव अस्वीकृत करने पर भी माओत्से ने मई 1927 ई. में हुनान के किसानों द्वारा आयोजित एक विशाल क्रान्ति का नेतृत्व किया। चीन की सरकार ने इस क्रान्ति को कुचल दिया फिर भी माओ हुनान तथा कियांग्सी के कृषकों को संगठित कर आन्दोलनकारी कार्यक्रम चलाता रहा। उसने अलग से चिंगकान्सान में एक साम्यवादी केन्द्र की स्थापना की, जहां उसकी अलग से कृषक सेना और शासनतन्त्र था। इस प्रकार चीन में साम्यवादी निर्बल हो रहे थे वहां माओत्से की स्थिति दृढ़ हो रही थी। 1927 ई. में ही चेन को साम्यवादी दल के प्रधान सचिव पद से हटा दिया और दल की शंघाई शाखा ने माओत्से के पद को भी अनुपयुक्त ठहराया अतः उसे भी केन्द्रीय समिति की सदस्यता से हटा दिया गया। माओत्से ने इसकी चिन्ता नहीं कर अपने द्वारा स्थापित केन्द्रों को शक्तिशाली बनाया। मई, 1928 ई. में नानचांग विद्रोह की असफलता के पश्चात चूतेह भी माओत्से से मिल गया। इस तरह माओ की स्थिति चीनी साम्यवादी दल में अधिक मजबूत होती चली गई। केन्द्रीय समिति ने माओत्से के कार्यक्रम को मान्यता प्रदान करते हुए उसके केन्द्रों को स्वीकृत कर लिया। 1930 ई. में माओत्से ने कियांग्सी प्रान्त में प्रथम साम्यवादी सरकार की स्थापना की। वह इस सरकार का अध्यक्ष बना और चूतेह को प्रधान सेनापति नियुक्त किया। 1931 ई तक साम्यवादी दल के अन्य नेताओं ने माओतसे का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और वे भी कियांग्सी आ गये।

च्यांग काई शेक ने कियांग्सी केन्द्र को कुचलने का अथक प्रयत्न किया परन्तु माओत्से ने छापामार युद्ध प्रणाली द्वारा कई बार च्यांग की सेना को परास्त किया। दिसम्बर 1931 ई. में माओ ने कियांग्सी में प्रथम सोवियत कांग्रेस आयोजित की तथा इसके निर्णयानुसार चीन में प्रथम सोवियत सरकार की स्थापना की गई। माओ इसका चेयरमेन (अध्यक्ष) बनाया गया। इसके पश्चात् 1932 ई. तक माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों ने चीन के नये-नये क्षेत्रों पर अधिकार किया। अक्टूबर 1933 ई. में च्यांग द्वारा कियांग्सी पर भीषणतम आक्रमण के फलस्वरूप माओत्से को अपने अनुयायियों सहित "ऐतिहासिक प्रयाण" (The Long March) करना

पड़ा। लगातार 8 माह तक कठिन यात्रा कर इस महाभियान में माओत्से सफल रहा। उसने येन्नान में अपनी सरकार संगठित की। 1935 ई. में माओत्से ने जापान के विरुद्ध च्यांग काई शेक को सहयोग का प्रस्ताव भेजा जो शेक ने स्वीकार नहीं किया। 1936 ई. में च्यांग के सेनानायकों ने च्यांग पर साम्यवादियों से सहयोग का दवाव डाला और जापान का सामना करने के लिये विवश किया। काफी विचार विमर्श के पश्चात् अगस्त 1937 ई. में दोनों दलों का संयुक्त मोर्चा बना किन्तु राष्ट्रवादी दल ने कभी भी ईमानदारी से इस मोर्चे को सहयोग नहीं दिया। फलस्वरूप साम्यवादी अपनी भरपूर शक्ति से जापानी सेनाओं का मुकावला करते हुए जापान अधिकृत प्रान्तों में अपनी शासन व्यवस्था स्थापित करते रहे। इन क्षेत्रों में भूमि सुधार द्वारा जन साधारण का समर्थन स्वतः साम्यवादियों को मिलने लग गया। 1940 ई. में माओत्से ने "नये जनतन्त्र पर" नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों पर वल दिया गया था। 1942-43 ई. में माओत्से ने दल का शुद्धीकरण किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिका के समर्थन पर खड़े च्यांग काई शेक को हर स्थान पर पराजित करते हुए फारमोसा भागने पर वाध्य किया। इस प्रकार माओत्से ने अपने योग्य नेतृत्व द्वारा चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना की जो शनैः-शनैः उन्नति करते हुए विश्व शक्ति के रूप में आज विश्व की तीन शक्तियों में से एक है।

चीन का सामाजिक आर्थिक पुनर्जागरण :

उपरोक्त राजनीतिक वर्णन के अतिरिक्त चीन में आधुनिक प्रगति के विकास-क्रम का उल्लेख किये विना चीन के अभ्युदय को समझना निरर्थक है। अतः संक्षिप्त रूप से मंचू काल, कुओमितांग काल और साम्यवादी-सुधारों के संदर्भ में हम चीन की सामाजिक आर्थिक प्रगति का अवलोकन करें तो पाते हैं कि जो चीन 19वीं शताब्दी के पूर्व 'कूप मण्डूक' परम्पराओं और "वन्द आँखों" के स्वाभिमान से लिपटा हुआ पाश्चात्यकरण और वैज्ञानिक विकास को हेय समझता था वही 19वीं शताब्दी में पाश्चात्य सम्पर्क में शनैः-शनैः सामाजिकार्थिक परिवर्तन की ओर अग्रसर होता गया। यद्यपि इस परिवर्तन की प्रगति अत्यन्त धीमी रही थी।

ईसाई पादरियों द्वारा चीन में ईसाई धर्म की शिक्षार्थ शिक्षणालय स्थापित किये गये वहीं धीरे-धीरे चीन में पाश्चात्य शिक्षा का माध्यम वन गये। इसमें प्रमुख पेकिंग का स्कूल था। 1865 ई. में इसे कॉलेज के रूप में परिवर्तित कर इसका नाम तुंगवन कॉलेज रखा गया। इस कॉलेज में विज्ञान-शिक्षा का एक विभाग था। इसके अनुसरण पर अन्य स्कूलों में भी विज्ञान पढ़ाया जाने लगा, इस प्रकार चीनी छात्रों को पाश्चात्य देशों के नये ज्ञान की शिक्षा मिलने लगी। 1865 ई. में ही टिटसिन में पेइयांग विश्वविद्यालय और 1900 ई. में पेकिंग विश्वविद्यालय स्थापित

किया गया। इन विश्वविद्यालयों ने चीनी छात्रों को खुली आँख से विश्व को देखने की ओर प्रेरित किया। 1911 ई. में गणतन्त्र स्थापना के पश्चात् चीनी मठों और मन्दिरों को विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया गया। कुओमितांग सरकार ने सम्पूर्ण देश में साक्षरता आन्दोलन चलाया। उच्च शिक्षा हेतु सैंकड़ों विद्यार्थियों को विदेशों में भेजा गया। सहशिक्षा पर बल ने स्त्रियों के बौद्धिक विकास को उन्नत किया। इस प्रकार चीनी विद्यार्थी अपनी साहित्यिक परम्पराओं को तर्क और आलोचना की कसौटी पर तोलने लगे। इस तरह शिक्षा की उन्नति ने चीन में राष्ट्रीय भावना का विकास किया और विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध छात्रों ने भी आन्दोलनों में भाग लिया। साम्यवादी सरकार के अधीन शिक्षा को रोजगार से सम्बन्धित किया गया और आज चीन की शिक्षा राष्ट्र की आवश्यकता के अनुरूप दी जाती है।

पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के प्रसार ने नई-नई पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि की। पाश्चात्य ज्ञान का चीनी अनुवाद होने लगा और चीनी साहित्य का विदेशी भाषा में, फलतः चीनियों को अपने साहित्य का मूल्यांकन करने का अवसर मिला। 1870 ई. में चीनी भाषा में प्रथम समाचार पत्र प्रकाशित हुआ, 1895 ई. के पश्चात् तो प्रत्येक बड़े शहर से अखबार निकलने लगे। 1920 ई. से तो स्कूलों में भी चीनी भाषा में शिक्षा दी जाने लगी। डॉ. सनयात सेन के गणतन्त्र काल में प्राचीन चीनी भाषा के 40 हजार संकेत घटा कर 1300 कर दिये गये फलतः चीनी भाषा सरल हो गई।

धार्मिक क्षेत्र में ईसाई धर्म के प्रति चीनियों के आकर्षण ने ताओवाद और कन्फ्यूशियमवाद की नींव खोखली कर दी। बौद्ध धर्म के प्रति आस्था को गिरती देख बौद्ध धर्माधिकारियों ने इसका पुनर्गठन किया। फलतः धर्म में जहाँ तर्क, विवेक और बुद्धि का विकास हुआ वहाँ मध्यकालीन ढोंग, पाखण्ड और अन्धविश्वासों का अन्त होने लगा। साम्यवादी सरकार ने राष्ट्रधर्म के अन्तर्गत धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी है।

पाश्चात्य सम्पर्क और औद्योगीकरण ने चीन की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में क्रांति उत्पन्न कर दी। संयुक्त परिवार-व्यक्तिवादी परिवार में परिवर्तित होने लगे। स्त्री स्वतन्त्रता गणतन्त्र काल की महान देन है। 1911 ई. के पश्चात् चीनियों ने चोटी रखना बन्द कर यूरोपियन ढंग से बाल रखना प्रारम्भ किया। पोशाक में पश्चिम का अनुकरण किया जाने लगा। फुटबाल, टेनिस आदि खेल लोकप्रिय होने लगे। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चीनी समाज पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आने लग गया। साम्यवादी दल ने सामाजिक समानता एवं राष्ट्रीय विकास में बाधक सभी ऐसे प्रभावों को प्रतिबन्धित कर दिया किन्तु अब चीन के लोह द्वार पुनः खुलने लगे हैं।

व्यावसायिक क्षेत्र में 1876 ई. में चीन में प्रथम रेल लाईन का निर्माण हुआ। यह लाइन शंघाई से वूसुंग तक बनाई गई थी, पर चीन की परम्पराई जनता रेलवे के इतनी विरुद्ध थी कि 1877 ई. में इस लाईन को उखाड़ कर पटरियों को फार्मूसा द्वीप में डाल दिया कि उन्हें पुनः न लाया जा सके। फिर भी प्रगति रोकना जनता के लिए सम्भव नहीं था, 1881 ई. में पुनः रेल लाईन का निर्माण किया गया और उसके बाद लाईनों का निर्माण निरन्तर चालू रहा। 1885 ई. में प्रथम बार टेली-ग्राफ प्रारम्भ किया गया, 1878 ई. में पहली कोयला खान, 1890 ई. में प्रथम आयरन वर्क्स की स्थापना हुई। इतना होते हुए भी चीन की जनता प्रगति की विरोधी थी। इसी कारण ली चुंग चांग जैसा शिक्षित व्यक्ति भी अपनी इच्छा-नुसार चीन की उन्नति करने में असमर्थ रहा पर डॉ. सनयातसेन और च्यांग काई शेक के काल में व्यापार और व्यवसाय ने प्रगति की। इसका कारण दोनों नेताओं द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियाँ थीं। चीन की मुद्रा पद्धति में सुधार, नवीन कानूनों का निर्माण, सैन्य संगठन में सुधार आदि कार्य कुओमिंग-तांग दल की उपलब्धि थी। 1900 ई. से 1930 ई. तक विदेशी व्यापार में 350 गुना वृद्धि हुई। कुओमिंग तांग दल के प्रथम प्रधान डॉ. सनयात सेन के विचार साम्यवादियों से मिलते-जुलते थे अतः उसने भूमि व्यवस्था के सुधार को ही कृषकों की दशा में उन्नति स्वीकार किया। पर उसके उत्तराधिकारी पर पूंजीवादी व्यवस्था का प्रभाव अधिक होने से कृषकों की दशा के प्रति च्यांग काई शेक उदासीन ही रहा।

साम्यवादी सरकार ने कृषि सम्बन्धी सुधारों को महत्व प्रदान कर 1950 ई. में सामन्तों और धनिक कृषकों से भूमि छीन कर भूमिहीन कृषकों में बाँट दी। सुधारों के विरोधियों को कठोर दण्ड दिया। 1953 ई. में सहकारी कृषि व्यवस्था प्रारम्भ की गई, 1956 ई. में सामुदायिक तथा 1958 ई. में कम्यून व्यवस्था प्रारम्भ कर दी गई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि अन्य व्यवसाय और उद्योग आदि सामूहिक रूप से कम्यूनों द्वारा संचालित किये जाने लगे। साम्यवादी चीन की औद्योगिक प्रगति का अंकलन 1964 ई. में टोकियो में आयोजित औद्योगिक प्रदर्शनी में चीन के माल के प्रदर्शन से किया जा सकता है। 1960 ई. से औद्यो-गिक क्षेत्र में चीन स्वावलम्वी देश बन गया।

1966 ई. में माओ की विचारधारा का विरोध उग्र रूप में उठा क्योंकि माओ जनसाधारण की सत्ता में विश्वास रखता था वहाँ ल्यू शाओ ची जैसे नेता शिक्षित वर्ग के अधीन सत्ता में। फलतः चीन में माओ के इशारे पर "सांस्कृतिक क्रान्ति" उठी और 1968 ई. में माओत्से की विजय हुई। इस प्रकार वैचारिक क्रान्ति चीन में अभी भी विद्यमान है। यद्यपि माओत्से तुंग की मृत्यु हो चुकी है फिर भी उसके विचार चीन को आगे बढ़ा रहे हैं।

———

9

जापान का उत्कर्ष

प्राचीन जापान :—500 ई. पू. जब कन्फ्यूशियस अपने विचारों का प्रतिपादन कर रहा था तब जापान के मैदान अभद्र और जंगली लोगों के युद्ध स्थल मात्र थे । इस प्रकार जापानी-सभ्यता का इतिहास अधिक पुराना नहीं है । जापानी लोग मानते है कि प्राचीन काल में इजानगी देवता और इजानमी देवी के संयोग से जापान में अमतेरसू- ओमीकमी (सूर्य देवता) की उत्पति हुई । सूर्य के पौत्र का नाम निनिगो-नो-मिकोतो था । उसे पृथ्वी का शासन करने नियुक्त किया गया अतः वह पृथ्वी का राजा बनकर सर्व प्रथम क्यूश द्वीप पर प्रकट हुआ । इस समय उसने रत्न, खड्ग और दर्पण-तीन राजचिन्हों को धारण किया हुआ था । निनिगो-नो-मिकोतो का प्रपौत्र जिम्मू तेनो हुआ, जो कि जापान का प्रथम सम्राट माना जाता है । 660 ई. पू. जिम्मू तेनो ने यमतो नामक स्थान पर अधिकार कर अपना केंद्र बनाया । इसलिए जापान का सम्राट यमतो वंश का कहलाता है । यह लोग शितों धर्म को मानते थे जिसमें सम्राट और प्रकृति पूजा होती थी । छठी शताब्दी में यहां बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और यही धर्म जापान का प्रधान धर्म बन गया । भाषा और लिपि पर चीनियों का प्रभाव रहा अतः जापान और चीन की लिपि मिलती-जुलती ही है । जापान में यहां की मुख्य जाति आइनु के अतिरिक्त चीनी, काकेशियस, मंगोल और मलायन लोग आकर रहने लगे थे । ईसवीं सन् प्रारम्भ होने के पूर्व जापान में सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र थे, इजुमो और यमतो । क्युश, शिकोकू, होन्स तथा होकयड़ो अतिरिक्त छोटे-छोटे 108 द्वीप का सम्मिलित नाम जापान हैं । इन द्वीपों में छोटे-छोटे अलग-अलग राजा के अधीन कई राज्य थे किन्तु ये सभी शासक यमतो वंश के लोगों को अपना सम्राट मानते थे । यह छोटे-छोटे शासक कालक्रम में सामन्तों में परिवर्तित हो गये । इस प्रकार प्रजा, सैनिक, सामन्त और शासक-चार वर्गों में समाज का विकास हुआ । समाज जन्मगत जातीय कर्म पर आधारित था । जापान का 220 ई. पू. तक चीनियों से सांस्कृतिक संबंध रहा अतः चीनियों का प्रभाव जापान के सभी क्षेत्रों में पड़ा । किन्तु चीन की राजशक्ति निर्बल होने लगी तो जापान-चीन से अलग अपना विकास करने लगा ।

शोगूनों का शासन:—जापानी सम्राट की अधीनता को स्वीकारने वाले वाले सामन्त राजा, जो जापान में दैम्यो कहलाते थे, अपनी-अपनी जागीर विस्तार हेतु संघर्ष कर शक्ति के बल पर अन्य सामन्तों को अपना अनुवर्ति बनाते हुए, केन्द्रीय सरकार में अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते थे। इस संघर्ष में शक्तिशाली होने पर भी सम्राट को वे देवी मानते हुए सम्मान देते रहे थे। ऐसे शक्ति प्राप्त दैम्यो में योरीतोमो का नाम मुख्य है। वह प्रतापी, वीर और महत्वाकांक्षी था। बारहवीं सदी के अन्त में उसने सब सामन्तों को परास्त कर केन्द्रीय शासन में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और सम्राट को अपने हाथों में कठपुतली बना लिया। वह जापान का प्रथम शोगुन (सर्व-विजयी सेनानी) बन। योरीतोमो ने सामन्तों को सर्वथा नष्ट नहीं किया अपितु अपने अधीन उपसामन्त बना लिया। इस तरह जापान में सामन्त-पद्धति को स्थापित रखते हुए, उसने जापान की केन्द्रीय सरकार का नये ढंग से संगठन किया जो शोगुन सैनिक-तंत्र पर आधारित थी। 1603 ई. में योरीत्तोमो के वंश के अयोग्य उत्तराधिकारी से पद छीन कर तोकुगावा कुल के जागीरदार इयासू ने शोगुन का पद धारण किया। वह कुल जापान का अन्तिम शोगुन-कुल था। 14 अक्टूबर 1867 ई. में इसके अन्तिम शोगुन केइकी के त्यागपत्र के पश्चात सम्राट ने शोगुन पद ही समाप्त कर लिया।

पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क:—चीन के मंगलो साम्राज्य (12 वीं सदी) के समय में यूरोप के लोग चीन में आने-जाने लगे थे। मार्को पोलो आदि अनेक यात्रियों ने चीन की यात्रा की और वहां दरबार में निवास किया। इन यात्रियों ने जापान की यात्रा की अथवा नहीं, इसका पता नहीं चलता है। किन्तु इन्होने, मुख्यत: मार्कोपोलो ने जापान के सम्बन्ध में सुनी हुई बातों का वितरण अपनी यात्रा-प्रसंग में उल्लेखित किया था। इसी आधार पर जब अफ्रीका का चक्कर काट कर पोर्तुगीज व अन्य यूरोपियन लोग एशिया के पूर्वी देशों में आने-जाने लगे तो वे जापान भी गये। जापान के साथ सर्व प्रथम सम्पर्क का प्रयास 1542 ई. में पुर्तगालियों ने किया। 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में डच और अंग्रेज भी जापान पहुँचे। युरोपियन व्यापारियों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी अपना धर्म प्रचार करने जापान गये। जेसुएट सम्प्रदाय का नेता फ्रांसिस क्सेवियर ने 1549 ई. में जापान गया, उसने अपने साथियों को धर्म-प्रचारार्थ छोड़ा। जेसुएट लोगों के पश्चात फ्रांसिस्कन, आदि अन्य ईसाई सम्प्रदाय के प्रचारक जापान पहुँचे और इन्होने हजारों जापानियों को क्रिश्चियन धर्म का अनुयायी बनाया। किन्तु यूरोपियनों के इस धर्म प्रचार और व्यापार प्रतिस्पर्धा से चिढ़ कर 1587 ई. में जापानी-सरकार ने यूरोप के लोगों के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा

दिया। 1603 ई. में इयासू नामक तोकुगावा-कुल नेता सब सामन्तों को परास्त कर शोगुन बना तो अपने उदारवादी विचारों के कारण उसने विदेशी-व्यापारियों और ईसाई धर्म प्रचारकों को काफी सुविधाएं प्रदान की परन्तु जब उसने अनुभव किया कि ये प्रचारक और व्यापारी धर्म और व्यापार की आड़ में जापान पर प्रभुत्व जमाना चाहते हैं तो उसने 1612 ई. में मिशनरियों को नियंत्रित करने कई आज्ञाएं प्रसारित कीं। ईसाईयों पर इन आज्ञाओं का प्रभाव नहीं देख उसने पादरियों और प्रचारकों को कठोर दण्ड दिये, फिर भी ईसाईयों ने अपना कार्य बन्द नहीं किया। 1637-38 ई. तक प्रचारकों ने जापान की राजनीति में खुला हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया। यह लोग शोगुन-प्रशासन के विरुद्ध जनता को भड़काने लगे। फलतः जापान की सरकार ने डच लोगों के अतिरिक्त जापान के द्वारा सभी यूरोपियनों के लिए बन्द कर दिये। डच लोगों को भी नागासाकी बन्दरगाह में आने-जाने और वहाँ व्यापार की अनुमति दी। इस प्रकार 17 वीं शताब्दी में जापान-पाश्चात्य सम्पर्क कट सा गया।

डच लोगों द्वारा पाश्चात्य-ज्ञान का जापान में प्रसार होता रहा था अतः बौद्धिक-दृष्टि से जापान, चीन की तरह कूपमण्डूक नहीं था। परन्तु राष्ट्रीयता और अखण्डता की भावना जापानियों में प्रबल थी। 185: ई. में अमेरिकन कोमोडोर पेरी के पूर्व 1792 ई. और 1804 ई. में रूस ने जापान से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। .808 ई. मे इंग्लैण्ड ने, 1837 ई. में अमेरिका ने भी जापान से मित्रता करनी चाही परन्तु जापानी इन प्रयत्नों के प्रति उदासीन ही रहे। 1840 ई. के बाद अमेरिकन लोगों की जापान में दिलचस्पी बहुत बढ़ गई क्योंकि प्रशान्त महासागर के तट तक वह अपना विस्तार कर चुका था और केलीफोर्निया से अमेरिकन प्रशान्त सागर में दूर-दूर तक आने-जाने लगे थे। 1842-1860 ई. के मध्य विविध पाश्चात्य देशों ने चीन में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। अतः जापान पर इन सभी की दृष्टि गड़ना आवश्यक था। जापानी इन गति विधियों से परिचित होने के कारण इसके प्रति अधिक सतर्क थे।

अमेरिका का सम्पर्कः—24 नवम्बर 1852 ई. को अमेरिका के राष्ट्रपति पिअर्स ने कमोडोर पेरी के नेतृत्व में एक मिशन जापान भेजा। 3 जुलाई 1853 ई. को पेरी चार जहाजों सहित योकोहामा की खाड़ी में पहुँचा। जापानी-सरकार ने उसे समुद्र-तट के पास नहीं पहुँचने की चेतावनी दी किन्तु पेरी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अमेरिकन सरकार की ओर से उसे आज्ञा थी कि यदि उसे शक्ति का प्रदर्शन करना पड़े तो वह इसके लिये जरा भी नहीं हिचकिचाये। पेरी जापान के समुद्र-तट पर पहुँच गया और वहा के जापानी-अधिकारियों को अपने राष्ट्रपति का पत्र सम्राट तक पहुँचाने के लिये दिया। इसके बाद इस पत्र

के प्रत्युत्तर को प्राप्त करने एक वर्ष का समय देकर अमेरिका लौट गया। फरवरी 1854 ई. में पेरी पहले से भी अधिक शक्तिशाली जहाजी बेड़े के साथ जापान पहुंचा तो शोगुन ने परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करते हुए अमेरिका के साथ संधि कर ली।

अमेरिका जापान संधि 1854 ई.:—के अनुसार जापान के नागरिक और दो अन्य बन्दरगाह अमेरिकन जहाजों की मरम्मत, कोयला, रसद-पानी आदि के लिये खोल दिये गये। जहाज के क्षतिग्रस्त होने की अवस्था में एक अमेरिकन नाविकों को जापान में आश्रय लेने की सुविधा और जापान में एक अमेरिकन प्रतिनिधि को रखना जापान द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार कमोडोर पेरी की कार्यवाही से जापान विदेशी-राज्यों के सम्पर्क से अछूता नहीं रहा। अब वह पाश्चात्य देशों के लिये पुनः द्वार खोल कर खड़ा था। 1854 ई. इंग्लैंड, 1855 ई. में रूस तथा 1857 ई. में हालैण्ड ने भी जापान के साथ इसी प्रकार की संधियां की।

अमेरिका 1854 ई. की सन्धि से पूर्णतः संतुष्ट नहीं था अतः वह प्रयत्न करता रहा कि उसे अधिक सुविधा प्राप्त हो। अमेरिकन राजदूत टाउनशेड हेरिस के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1858 ई. में जापान से अमेरिका के साथ एक और संधि की। इस संधि के अनुसार चार और बन्दरगाह अमेरिका के लिए खोल दिये और सातों बन्दरगाहों में अमेरिका को व्यापार करने की अनुमति दी गई। व्यापारिक सामान पर पांच प्रतिशत चुंगी-कर निश्चित किया गया एव अमेरिकन नागरिकों को जापानी कानून तथा अदालतों से मुक्त रखा गया। इसके बदले में अमेरिका ने जापान तथा पश्चिमी देशों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों को हल करने में जापान को अपने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। यूरोप के अन्य देशों ने भी 1867 ई. तक इसी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त की।

पाश्चात्य सम्पर्क का परिणाम—अमेरिका के साथ संधि शोगुन ने की थी। अतः वे जनता और अन्य सामन्तों में बदनाम हो गया। सतसुमा और चोशू कुल के सामन्तों ने इस संधि का प्रबल विरोध किया। उन्होंने तो नागासाकी में रहने वाले अमेरिकनों पर धावा भी बोला अमेरिकनों ने सामन्तों के जहाजों को नष्ट कर दिया तथापि इस घटना के दूरगामी परिणाम हुए। राष्ट्रवादी लोग शोगुन के त्याग-पत्र की मांग करने लगे। शोगुन ने जनता का उग्र रुख पहिचान कर जनता से वायदा किया कि 24 जून 1863 ई. तक वह विदेशियों को जापान से निकाल देगा परन्तु वह ऐसा नहीं कर सका। फलतः सामन्तों ने अपनी जागीर में बसे विदेशियों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इससे जहां शोगुन की निरंकुश शक्ति की निर्बलता विदेशियों

के सम्मुख प्रकट हो गई वहां विदेशियों ने सम्राट को अधिकार प्रदान करने हेतु सम्राट को उकसाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार सम्राट, जनता और विदेशी शक्तियों का उसके प्रति विरोध देख 1866 ई. में शोगुन पद धारण करने वाले केइकी नामक शिक्षित और दूरदर्शी शोगुन ने नवम्बर 1861 ई. को अपना त्याग-पत्र सम्राट को भेज दिया। इसी समय में वृद्ध सम्राट की मृत्यु 25 जनवरी 1868 ई. के बाद 14 वर्ष का योग्य एवं बुद्धिमान युवक 'मुत्सुहितो' नया सम्राट बना था। सम्राट मुत्सुहितो ने मेजी (बुद्धिमता पूर्ण शासन) की उपाधि धारण की उसने अपनी उपाधि को अपने कार्यों द्वारा सार्थक कर दिखाया था। मुत्सोहितो ने जापान के संक्रमण काल को जागरण काल में परिवर्तित कर जापान के उत्कर्ष को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया।

जापान का जागरण

मेजी काल में जापान की प्रगतिः आन्तरिक सुधार :—

सम्राट मुत्सोहितो 'मेइजी' (1868–1912 ई.) ने जापान के शासन-सूत्र को शोगुन से अपने हाथों में लिया तब उसके सम्मुख महत्वपूर्ण कार्य-देश में एक सुव्यवस्थित एवं शक्तिशाली सरकार की स्थापना कर सम्राट के अधीन जापान का नवनिर्माण करना था। इसके लिये सम्राट ने क्या-क्या कार्यवाहियां की, परम्परावादी लोगों तथा नवीन-विचार सेप्रेरित लोगों ने कौनसी रुकावटे एवं आन्दोलन के मार्ग अपनाये, इन सभी ब्योरों की विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है। अतः संक्षिप्त रूप में ही यहां उन मुख्य-मुख्य घटनाओं और कार्यवाहियों का वर्णन करेंगे जो मुत्सोहितो के शासन काल में हुई थी।

सम्राट ने सामन्तवादी शासन पद्धति पर प्रथम प्रहार किया उसने अपनी राजधानी क्योतो से हटा कर शोगुन राजधानी येगे को राजधानी बनाया, और इसका नाम टोकियो रखा गया। सम्राट द्वारा प्रत्येक सामन्त की जागीर में एक राज्यकर्मचारी की नियुक्ति के कारण जहां जनता को सम्राट के प्रत्यक्ष शासन का अनुभव हुआ वहां सामन्त राजा पर केन्द्रीय सरकार का अंकुश स्थापित हुआ। 1869 ई. में कुछ राष्ट्रवादी सामन्तों (सत्सुमा, चोशू, हीजन, तोसा आदि कुलों ने अपनी जागीरे सम्राट को समर्पित कर दी फलतः कई सामन्तों ने इसका अनुसरण किया। 1871 ई. में सम्राट की आज्ञा द्वारा सामन्त पद्धति का विधिवत् रूप से अन्त कर दिया गया। इसके लिये सामन्तों को जन्मभर पेंशन की व्यवस्था की गई परन्तु राजकोष पर खर्च का बोझ बढ़ते देख 1873 ई. में पेंशन के स्थान एक किश्त में निश्चित रकम सामन्त और समुराइयों (सामन्त-सैनिकों) को दे दी गई।

सामन्त पद्धति का अन्त करने के पश्चात् सम्राट ने सामन्त सेना को भी समाप्त कर दिया और समुराइओं के विशेषाधिकारों को समाप्त कर सर्वसाधारण के लिए सैनिक-भर्ती के द्वारा खोल दिये। समुराइ-शिक्षित थे अतः उनमें योग्य व्यक्तियों को अन्य राजकीय पदों पर नियुक्त किया गया। 1872 ई. में अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम लागू किया गया। इस प्रकार जापानी जन-जीवन एक सैनिक के रूप में देश का जागरुक प्रहरी, कट्टर राष्ट्रवादी, अनुशासनयुक्त, नवीन विचारों का ग्राहक बन गया। मेइजी शासन-काल की यह एक महत्वपूर्ण क्रान्ति थी जिसने जापान की साम्राज्यवादी प्रवृति को बढ़ाया वहां देश की उन्नति में युद्ध का स्तर उत्पन्न किया। वैसे जापानी सेना के आधुनिक पुनर्गठन का श्रेय प्रधानमन्त्री यामा गाता (दिसम्बर 1889 मई 1891 ई.) को था। उसने आरम्भ में फ्रेंच विशेषज्ञ और बाद में जर्मन विशेषज्ञों से सेना का गठन कराया। जल सेना के लिये ब्रिटीश विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त की। सेना के सर्वोच्च अधिकारों को सम्राट के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायी बनाया फलतः आगे चलकर जापान में उग्र सैनिकवाद इसी गठन का परिणाम था।

सामन्तवाद के पतन-पश्चात जापान में प्रशासनिक सुधारों और शासन में जनप्रतिनिधित्व की मांग भी जोर पकड़ने लगी थी। इस प्रकार सुधार-आन्दोलन कारी नेताओं में इतागाकी का नाम प्रमुख है। उसने इस हेतु 1874 ई. में एक संस्था की स्थापना की और इसके द्वारा सम्राट को एक आवेदन पत्र भेजा इसमें प्रार्थना की गई कि सम्राट अपनी 1868 ई. की उदघोषणा के अनुसार लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली 'विचारसभा' (सीनेट) की स्थापना करे। इस प्रकार 1881 ई. तक इतागाकी की संस्था के समान राजनीतिक सुधार हेतु अनेक जन-संस्थाएं गठित हुई। फलतः 1882 ई. में सम्राट मुत्सोहितो ने जापान के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों को पाश्चात्य संविधानों का अध्ययन करने विदेशों में भेजा। विदेशी संविधानों का अध्ययन और स्वदेशी मनन के आठ वर्षबाद 1889 ई. में सम्राट ने देश को नवीन संविधान प्रदान किया। इसके अनुसार दो सदनों(सामन्त सदन और प्रतिनिधिसदन) की संसद स्थापित की। इसके लिए 25 वर्ष और इससे अधिक वय वाले पुरुषों को, जो एक निश्चित सम्पति-कर देते थे मताधिकार दिया गया। संसद प्रथम अधिवेशन 1890 ई. में हुआ। सम्राट में सर्वोच्च शक्ति आरक्षित रखी गई। सम्राट के परामर्श और मन्त्रणा हेतु मंत्रीमंडल को गठित किया गया किन्तु यह संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होकर सम्राट के प्रति उत्तरदायी रहता था। मंत्रियों के चयन और राष्ट्र की नीति निर्धारित करने विख्यात मनुष्यों की (सम्राट-की इच्छानुसार) एक परिषद होती थी, जिसे जेनरो (Genro) कहते थे। 1890 में फ्रांस के विधि-वेत्ताओं के सहयोग से निर्मित नये कानूनों को सम्राट ने स्वीकृति दी। 1894 ई. तक यह जापान में सर्वत्र प्रचलित हो गये। 1897 ई.

तक विदेशी सरकारों ने जापान में बसे अपने नागरिकों के लिये जापानी-न्याय व्यवस्था को मान लिया। इससे जापान में संरक्षित क्षेत्रीय पद्धति (Extra Taritorial System) समाप्त हो गया। जापानी प्रशासन लूनर कैलेण्डर के स्थान पर ग्रोगोरियन कैलेण्डर के अनुसार कार्य करने लगा। सात दिन का सप्ताह एवं रविवार को अवकाश माना जाने लगा। अपराध संहिता का निर्माण भी इसी काल में हुआ।

शोगुन-सरकार के शासन काल में अनेक जापानी-विद्यार्थी उच्च शिक्षा हेतु पाश्चात्य देशों में जाने लगे थे। यद्यपि शोगुनों के काल में विदेश यात्रा निषिद्ध थी किन्तु जो विद्यार्थी गये थे वे कानून का उल्लंघन कर बाहर गये थे। सम्राट मेइजी के शासन सूत्र हाथ में लेते ही यह प्रतिबन्ध हटा दिया। अमेरिका, फ्रांस आदि यूरोप के अन्य देशों में हजारों जापानी विद्यार्थी विद्यार्जन हेतु गये। जब ये शिक्षा प्राप्त कर लौटे तो अपने देश में इन्होंने शिक्षा और बौद्धिक क्षेत्र में क्रांति को प्रारम्भ किया। 1872 ई. में सम्राट ने 'अनिवार्य शिक्षा' को लागू किया। 4 वर्ष तक प्रत्येक बालक बालिका के लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। बाद में यह अवधि 6 वर्ष तक कर दी गई। जापानी स्कूलों में पढ़ाई के अतिरिक्त चरित्र निर्माण, देश के प्रति प्रेम एवं सम्राट के प्रति भक्ति की शिक्षा भी दी जाती थी। लड़कियों की शिक्षा में गृह कार्य को मुख्य स्थान दिया गया। 1902 ई. तक स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी बाद में स्त्रियों के लिए पृथक कॉलेजों की स्थापना कर उन्हें भी उच्च शिक्षा का अवसर दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षणालयों के लिये अमेरिकन शिक्षा पद्धति, उच्च शिक्षा के लिए फ्रांस के विश्वविद्यालयों का अनुकरण, टेकनोलॉजी की शिक्षा के लिए जर्मन को आदर्श बनाया। इसका परिणाम हुआ कि शीघ्र ही जापान में सभी प्रकार के शिक्षणालयों की स्थापना हुई और जापानी विद्यार्थी अपने देश में ही सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने लगे।

सम्राट मुत्सोहितो देश की आर्थिक उन्नति के लिये विशेष प्रयत्नशील था। इसीलिए उसने यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनरी को अपनाने पर जोर दिया। इसी उद्देश्य से जापान की सरकार ने बहुत से नये कारखाने स्थापित कर पूंजीपतियों को बेचना प्रारम्भ किया। पूंजीपतियों ने इन कारखानों के प्रति उत्साह दिखलाया वहाँ स्वयं भी कारखाने स्थापित करने लगे। परिणामस्वरूप कुछ ही समय में जापान में व्यवसायिक क्रांति हो गई। मित सुई, सुमितोयों तथा यसुद परिवार जापान के महान् उद्योगपति बन गये। अन्त में नये घराने जापान के 'जैवत्सु' (जापानी व्यापार के नियंत्रक) कहलाने लगे। जापान के कारखानों में कपड़ा, रेशम, लोहे का सामान प्रचुर मात्रा में

तैयार होने लगा। जापानी सरकार की नीति रही कि आयात कम हो अतः वे वस्तुएँ अधिक तैयार की जाने लगी जिससे जापानी पूंजी विदेशों में नहीं पहुँचे। 1890 ई. के पश्चात जापान का औद्योगिक विकास इतनी तेजी से हुआ कि 'जापान एशिया का ब्रिटेन' कहलाने लगा। जापानी सरकार सैनिक शक्ति की सहगामी उद्योग-नीति में विश्वास करती थी अतः बारुद और अस्त्रशस्त्रादि के निर्माण पर भी विशेष ध्यान दिया गया।

कल-कारखानों के लिए देहाती किसान और खेतीहर मजदूर सस्ती दरों पर उपलब्ध होने लगे क्योंकि नवीन पूंजीपतियों द्वारा छोटे-छोटे निर्धन किसानों की जमीन खरीद कर उन्हें श्रम पर मजबूर कर दिया था। मजदूरी दर सस्ती होने से माल भी कम खर्च में तैयार होने लगा। इससे उत्साहित हो जापान ने विदेशों में बाजार खोजने की ओर कदम बढ़या। या कह सकते है कि जापान उपनिवेश प्रसार की इच्छा करने लगा।

1873 ई. में जापान की प्रथम राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई। 1879 ई. तक जापान में बैंक खुल गये। इन सभी पर आर्थिक नियंत्रण हेतु 1885 ई. में सरकार द्वारा जापान बैंक की स्थापना की गई। देश के आर्थिक विकास को अधिक उग्र करने के लिये 1872 ई. में प्रथम रेल मार्ग टोकियो से याकोहोमा तक बनाया गया। 1894 ई. तक रेलवे लाईनों का जाल जापान में बिछा दिया गया। 1868 ई. में टेलीग्राफ का जापान में प्रवेश हुआ। इसके साथ साथ अल्प समय में सभी जगह डाकघर बनाये गये। 1877 ई. तक जापान में टेलीफोन ने प्रवेश कर लिया। उन्नीसवी सदी के मध्य तक जापान भाप की शक्ति से चलने वाले जहाज से परिचित भी नहीं थे पर इस सदी के अन्त तक जापान में भाप की शक्ति से चलने वाले जंगी जहाज बनने प्रारम्भ हो गये। इस प्रकार यातायात और परिवहन के क्षेत्र में जापान संसार के उन्नत देशों में गिना जाने लगा। जापान के जहाज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आतंक की चीज समझे जाने लगे थे।

व्यवसायिक और बौद्धिक उन्नति ने जापान के सामाजिक और धार्मिक जीवन को भी परिवर्तित किया। जापान में क्रांति से पूर्व लोगों द्वारा दांतों पर ब्रश नहीं किया जाता था। औरते अपने दांतों को काला रंगती थी तथा आँखों की भौंहों को साफ करती थी। 1873 ई. में जापान की तत्कालीन साम्राज्ञी ने दांतों को ब्रश कर और भौंहें रख कर समाज के समुख उदाहरण प्रस्तुत किया। यद्यपि दांतों पर ब्रश करने और भौंहें रखने की परम्परा स्त्रियों ने अपनाई फिर भी पाश्चात्य प्रभाव स्त्रियों पर पुरुषों की तुलना में कम पड़ा। जापानियों की दृष्टि में इंगलैण्डवासी सर्वाधिक सभ्य थे अतः आँख मिच कर उनके वस्त्र, बाल

कटिंग की नकल की जाने लगी। राजकीय पोशाक तो पाश्चात्य वेश भूषा के आधार पर अनिवार्य कर दी गई। इस हेतु 1872 ई. में एक राजाज्ञा भी प्रसारित की गई। वेश भूषा के अतिरिक्त खान पान पर भी प्रभाव पड़ा। जापान में गऊ-मांस खाना धर्म-विरुद्ध था। परन्तु 1872 ई. में सम्राट को गो-मांस खाने को राजी किया गया। इसके उपरान्त मूर्ति-पूजा के विरोधी छात्रों में गो-मांस खाना आम बात हो गई। पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव जापानी स्थापत्य कला पर भी पड़ा। यूरोप की विक्टोरिया स्टाइल पर भवन निर्माण जापान में होने लगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विवाह, बाल-डान्स, फैन्सी ड्रेस नृत्य आदि कई प्रवृत्तियों में अंधानुकरण के उपरान्त जापानियों को पश्चिमी सभ्यता से घृणा होने लग गई और जो बातें जापानियों को औचित्यपूर्ण नहीं लगी वह उसे परित्याग करने लगे।

औद्योगिक विकास ने समाज में पूंजीवादी वर्ग का उदय किया। 1872 ई. में किसानों का अपने खेतों पर स्वत्व स्थापित कर दिया गया। अब मालगुजारी उनके लिए निश्चित कर दी गई। इससे यद्यपि किसानों को लाभ हुआ तथापि छोटे छोटे कृषक पूंजीपतियों के हाथों जमीन बेचने और श्रमिक बनने पर मजबूर हुऐ। पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी मजदूर वर्ग बना और मालिक-मजदूर समस्याएं जापान में प्रादुर्भूत होने लगी।

सम्राट की शक्ति की पुनःस्थापना के बाद जापान के प्राचीन परम्परागत धर्म शिन्तो में नवजीवन का संचार हुआ। पर इससे बौद्ध धर्म का पतन नहीं हुआ। शिन्तो धर्म के जो तत्व इस समय प्रबल हुए, वे जापान की बौद्ध जनता में प्राचीन विधि-विधानों के प्रति निष्ठा और सम्राट को देवता के रूप में मानने की भावना में वृद्धि कर रहे थे। शिन्तो सिद्धान्तों के कारण जापानी बौद्ध-धर्म अन्य देशों के बौद्ध धर्म से भिन्न रूप ग्रहण कर रहा था। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में जापान में ईसाई धर्म के प्रति भी आकृष्ट होने लगे। इस प्रकार इस काल में प्राचीन परम्पराई धर्म और पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से धर्म में सहिष्णुता का विकास हुआ।

विश्व शक्ति के रूप में जापान : बाह्य नीति –

जापान के जागरण में सम्राट मुत्सोहितो का अविस्मरणीय योगदान रहा था इसीलिए उसके शासनकाल को इतिहास में 'मेजी (मेइजी)' युग'' कहा जाता है। उसने अपने काल में इस प्रकार की नीतियां अपनाई और कार्य किये कि विदेशियों से जापान की रक्षा ही नहीं हुई अपितु जापान को पश्चिमी देशों में एक सम्मानीय स्थान भी प्राप्त हुआ। देश में शान्ति बनाये रख कर उसने विदेशों से मित्रता के सम्बन्ध रखे। उसके काल में राजनीतिक सुधार और सामाजिक-

आर्थिक प्रगति ने, जापान में नवीन युग का सृजन किया। उसने पिछड़े देश को आधुनिक दौड़ में खड़ा कर दिया। अल्पावधि (50 वर्ष) की प्रगति ने जापान में उग्रराष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की ओर प्रेरित किया। सम्राट मुत्सोहितो के काल की वाह्य नीति का अवलोकन करें तो पायेगें कि जापानी साम्राज्यवाद की भूमिका किस प्रकार निर्माण हुई थी।

शोगूनों द्वारा पश्चिमी-राष्ट्रों के साथ की गई संधियों से जापान का जन-मानस प्रसन्न नहीं था। यह संधियाँ असमानता की नीति पर आधारित थी। सम्राट मुत्सोहितो भी इन संधियों को समानता के आधार पर बदलना चाहता था। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्राट ने 1872 ई. में इवाकुश के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल पश्चिमी देशों को भेजा। किन्तु वह सफल नहीं हुआ। इस पर सम्राट ने अपनी नीति को अनुनय-विनय के स्थान पर 'जापान की उन्नति और शक्ति प्रदर्शन' के द्वारा पश्चिमी राष्ट्रों को प्रभावित करने की अपनाई। 1889 ई. तक सम्राट ने जापान को नया संविधान, नये कानून, नई आर्थिक-व्यवस्था प्रदान कर पाश्चात्य ढ़ंग से उन्नत कर दिया तो पश्चिमी देश अपने विशेषाधिकारों का परित्याग कर संधियों में संशोधन करने तैयार हो गये। इन संधियों के पुनर्विचार कराने में जापानी विदेश मंत्री काउन्ट ओकुमा (1888 ई.) का बड़ा हाथ था। संधियों में संशोधन होने से जापान की स्थिति विदेशों में सम्मानित हुई और उसे साम्राज्यवाद के मार्ग पर जाने से रोकने वाला कोई नहीं रहा।

1871 ई. में रियुक्यु द्वीप के कुछ नाविकों को फार्मोसा में मौत के घाट उतार दिया। फार्मोसा पर चीन का अधिकार था और रियुक्यु पर दोनों देश अपना-अपना अधिकार बतलाते थे। नजर के सामने निर्बल और असहाय चीन पर दबाव डालने का अच्छा अवसर मानते हुए जापान ने चीन से नाविकों की मृत्यु के बदले क्षतिपूर्ति की मांग की। चीन ने रियुक्यु द्वीप पर अपना अधिकार बतलाते हुए जापानी-मांग को ठुकरा दिया। इस पर 1874 ई. में जापान ने फार्मोसा पर आक्रमण कर उसके एक क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। निर्बल चीन ने हर्जाना देकर अपना पीछा छुड़ाया किन्तु जापान को इससे एक लाभ यह हुआ कि विवाद ग्रस्त रियुक्यु द्वीप पर जापानी-प्रभुत्व को मान्यता मिल गई। साम्राज्य-विस्तार की दिशा में जापान की यह प्रथम सफलता थी।

दक्षिण-पश्चिम में रियुक्यु के पश्चात् 1875 ई. में जापान ने सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से उपयोगी जापान के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित कुरील द्वीप समूह तथा 1878 ई. में दक्षिण-पूर्व में स्थित बेनिन द्वीप समूह पर प्रभुत्व स्थापित किया। इन कार्यवाहियों की सफलता से प्रेरित होकर जापान ने 1880 ई. के पश्चात् चीन के स्वशासी प्रान्त कोरिया में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। 1875 ई. में

कोरिया ने एक जापानी युद्धपोत पर आक्रमण कर दिया । इस पर जापान ने कोरिया के सम्मुख कई प्रकार की मांगे प्रस्तुत की । अन्ततः 1876 ई. में दोनों के मध्य एक समझौता हो गया कि जापान कोरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार करता है और बदले में कोरिया जापान को व्यापारिक सुविधाएं, तथा वाह्य क्षेत्राधिकार प्रदान करता है । इस प्रकार जापान ने कोरिया पर चीनी दावे को चुनौती दी क्योंकि अभी तक चीन कोरिया को अपना संरक्षित राज्य मानता रहा था । कोरिया में जापान के व्यापारिक विस्तार ने वहां जापानी विचारधारा को स्थापित करना प्रारम्भ किया । इस प्रकार कोरिया में जापान समर्थित और चीन समर्थित दो दल बन गये । जापान समर्थित जापान के सहयोग से कोरिया का आधुनिकीकरण चाहते थे अतः इस वैचारिकी संघर्ष ने 1882 ई. में एक घटना उत्पन्न कर दी । चीन समर्थक दल ने कई जापानियों को मार डाला । इस पर जापानी कार्यवाही के सम्मुख कोरियाई-सरकार ने क्षमा-प्रार्थना करते हुए जापान को कोरिया में कई आर्थिक सुविधाएं प्रदान की । कुछ समय पश्चात् कोरिया में चीन ने जापान समर्थित कोरियाई क्रान्तिकारियों को दबाने एक सेना भेज दी । इस झड़प में फिर कुछ जापानी मारे गये । इस लाभ उठाते हुए जापान ने भी कोरिया में सेना भेज दी । पुनः कोरिया को जापान के सम्मुख झुकना पड़ा । 1885 ई. चीन-जापान के मध्य कोरिया के प्रश्न पर पारस्परिक समझौता हो गया जिसका वर्णन चीन का अभ्युदय में किया जा चुका है । 1894–95 ई. चीन-जापान युद्ध के पश्चात इस पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ । 1905 ई. में रूस जापान युद्ध में रूस की पराजय ने कोरिया को जापानी संरक्षित राज्य बना दिया । जापान ने कोरिया-प्रशासन हेतु प्रथम रेजिडेन्ट प्रिंस इतो को नियुक्त किया । इतो ने कोरिया के शासन में जापान का प्रभाव 'दिन-दूना' किया कि अमेरिका की सरकार जापान के बढ़ते प्रभाव से चिन्तित होने लगी । विदेशों द्वारा इस प्रकार की सहानुभूति देख कोरिया का सम्राट जापान की उपेक्षा कर विदेशों से प्रत्यक्ष सहायता मांगने की कार्यवाहियों (1907 ई. के हेग अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कोरियन सम्राट की प्रार्थना) करने लगा अतः जापान ने कोरिया के सम्राट को गद्दी से उतार कर उसके पुत्र को गद्दी पर बिठलाया । 1909 ई. में रेजिडेन्ट जनरल प्रिंस इतो की कोरियन क्रान्तिकारियों द्वारा हत्या ने जापान सरकार को वाध्य कर दिया कि वह जापान पर अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित कर दे । 1910 ई. में कोरिया के राजा का शासन समाप्त कर जापानी शासन लागू कर दिया गया जो द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तक चलता रहा ।

1894–95 ई. के चीन-जापान युद्ध का उल्लेख 'चीन का अभ्यूदय' प्रकरण में किया गया है अतः यहां संक्षिप्त में यह लिखना ही पर्याप्त होगा कि चीन पर

जापान की विजय ने फार्मूसा द्वीप पर जापान का आधिपत्य स्थापित करा दिया। परिणामस्वरूप जापान ने फार्मूसा में अपनी बढ़ती जनसंख्या को आबाद ही नहीं किया बल्कि अपनी सैन्य शक्ति का एक आधार बनाकर दक्षिण चीन के फूकिएन प्रदेश पर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया।

जापान इंग्लैण्ड संधि (30 जनवरी 1902 ई.) कोरिया के प्रश्न को लेकर जापान रूस सम्बन्ध बिगड़ने लगे थे। 1894–95 ई. के चीन–जापान युद्ध में जापान ने चीन से लाओतुंग प्रायद्वीप प्राप्त किया था परन्तु रूस, जर्मनी और फ्रांस के विरोध उसे अपनी विजय का पुरस्कार यह द्वीप छोड़ना पड़ा था। जापान इस कूटनीतिक पराजय से क्षुब्ध था फिर वह यूरोप के 'सफेद हाथी' (रूस) से बदला भी लेना चाहता था। किन्तु यह तभी संभव था जबकि वह यूरोप में अपना एक मित्र बनाले जो कूटनीतिक दृष्टि से उसका साथ दे। इधर यूरोप में एक ओर फ्रांस एवं रूस का गठबंधन था तो दूसरी ओर जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट बन गया था। इस तरह यूरोप में इंग्लैण्ड गुट-विहीन अकेला दोनो ही गुटों का विरोधी था। अतः उसे भी एक मित्र की तलाश थी। फलतः 30 जनवरी 1902 ई. को इंग्लैण्ड और जापान के मध्य समानता के आधार पर एक संधि हुई। इस संधि के अनुसार इंग्लैण्ड और जापान ने कोरिया व चीन की स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया वहां इंग्लैण्ड ने कोरिया में जापानी-हितों को मान्यता प्रदान की। इसके अतिरिक्त सैनिक शर्त के अनुसार यदि दोनों में से एक राष्ट्र तीसरे राष्ट्र से युद्ध कर रहा होगा तो दूसरा राष्ट्र तटस्थ रहेगा। परन्तु यदि युद्ध करने वाले मित्र राष्ट्र के विरुद्ध शत्रु राष्ट्र को कोई अन्य राष्ट्र सहयोग देगा तो तटस्थ साथी राष्ट्र अपनी सहायता मित्र राष्ट्र को देगा।

इस संधि ने तत्कालीन राजनीतिज्ञों को आश्चर्यचकित् कर दिया क्योंकि इंग्लैण्ड उस समय विश्व की एक बड़ी ताकत थी और जापान एशिया का छोटा सा नवोदित राष्ट्र। इस संधि द्वारा अन्य देश जापान को सुदूर पूर्व का शक्तिशाली राष्ट्र मानने लगे। इधर एशिया में रूस के विरुद्ध इंग्लैण्ड को एक साथी मिल गया। अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों में यह समझौता 20 वीं शताब्दी का प्रथम सैनिक समझौता था जिसने अन्य सैनिक समझौतों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

रूस जापान युद्ध (1904–05 ई.)—जापान इंग्लैण्ड के मध्य समझौते का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जापान-रूस के मध्य तनाव अपनी चरम स्थिति पर पहुँच गया। रूस ने चीन के बॉक्सर विद्रोह का लाभ उठाते हुए मंचूरिया पर अधिकार कर लिया तो जापान रूस से पहिले से ही नाराज था और इस कार्यवाही ने उसे क्रोधित सा कर दिया। मंचूरिया में जापान के हित रूस से टकराते थे और कोरिया में रूस के हित जापान से टकराते थे अतः दोनों देश में एक दूसरे के प्रति आक्रोश बढ़ता ही जा रहा था। रूस कोरियन विद्रोहों में

सहायता दे रहा था वहां मंचूरिया में रेल लाईन (मास्को से पोर्टआर्थर तक ट्रांस साईबेरियन रेल) बिछा कर इसकी रक्षार्थ डेढ़ लाख सैनिक मचूरिया में फैला रखे थे। 1903 ई. में 67 हजार सैनिक पोर्ट आर्थर में विद्यमान थे जो जापान की सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से खतरा सिद्ध हो सकते थे। अतः जापान ने रूस से प्रार्थना की कि वह अपने सैनिकों को मंचूरिया से हटा ले। डगलस के अनुसार "रूस द्वारा पोर्ट आर्थर की किलेबन्दी ने जापान को एक जीवन मरण के संघर्ष की ओर प्रेरित किया। इंग्लैण्ड जापान मैत्री ने जापान को उत्साहित कर दिया जबकि रूस अभी तक जापान को पिछड़ा हुआ छोटा सा देश मान निश्चित था। 1904 ई. में रूस ने घोषणा कर दी कि मचूरिया पर रूस का अधिकार है और कोरिया में सभी देशों के समान अधिकार है। इस घोषणा से जापान बौखला उठा और उसने 10 फरवरी 1904 को पोर्ट आर्थर बन्दरगाह के पास रूसी बेड़े पर आक्रमण कर दिया।

रूस को विश्वास ही नहीं था कि जापान उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा का साहस करेगा यह प्रथम अवसर था जबकि जापान यूरोप के महान शक्तिशाली राष्ट्र से लोहा ले रहा था। यद्यपि यह दो असमान शक्तियों का युद्ध था तथापि जापान इसके लिए पूर्व ही तैयारी कर बैठा हुआ था। रूस-जापान युद्ध एक वर्ष तक जल और थल दोनों स्थानों पर चला। 26 मई 1904 ई. को जापान ने रूस को नावशान की लड़ाई में पराजित किया अतः रूस को पोर्ट आर्थर तक पीछे हटना पड़ा। 1 जनवरी 1905 ई. में मंचूरिया के मुकदन में रूस बुरी तरह पराप्त हुआ। इस समय तक रूस के 9 जहाज तथा 600 नौसैनिक और एक लाख 50 हजार स्थल सैनिक युद्ध में काम आ गये थे। 16 मार्च 1905 ई. को पोर्ट आर्थर की पहाड़ियों में हुए युद्ध में रूस के 50 हजार सैनिक मारे गये। मई 1905 ई. को जल-युद्ध में जापान ने रूसी-बेड़े को ही नष्ट कर दिया। अतः युद्ध के साधन शेष होते हुए भी रूस की हिम्मत पस्त हो गई फिर रूसी पराजयों ने रूस में सरकार विरुद्ध प्रबल आन्दोलन (1905 ई.) प्रारम्भ हो गया था। जापान के साधन सीमित थे और युद्ध में काफी धन खर्च हो गया था इसलिए जहां जापान भी युद्ध बन्द करने के पक्ष में था वहां रूस के लिए युद्ध जारी रखना कठिन था। अन्त में अमेरिकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों के मध्य 5 सितम्बर 19.5 को पोर्टसमाउथ की संधि हो गई। संधि के अनुसार पोर्ट आर्थर और लाओतुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुआ, कोरिया पर जापानी प्रभुत्व स्वीकार किया गया। मंचूरिया को उत्तर और दक्षिण के दो भागों में बांट कर रूस और जापान के प्रभाव में विभाजित कर दिया गया। दोनों ने वचन दिया कि मंचूरिया में अपने अधीन रेल मार्गों का उपयोग केवल औद्योगिक एवं व्यापारिक उद्देश्यों के लिये ही करेंगे।

इस युद्ध से मंचूरिया में रूस का प्रभाव समाप्त होने लगा वहां जापान ने प्रथम विश्व युद्ध तक मंचूरिया पर राजनीतिक आर्थिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस संधि ने कोरिया में जापनी प्रभुत्व की मान्यता प्रदान कर जापानी साम्राज्यवाद पर स्वीकृति की छाप लगा दी। इस युद्ध में जापान ने "एशिया एशियावालों के लिए' नारा लगाया था किन्तु कोरिया के प्रति जापानी नीति ने एशिया को भी जापान के प्रति सचेत कर दिया। पोर्टस्माउथ की संधि से जापानी पूर्णतः संतुष्ट नहीं थे क्योंकि इस संधि से जापान को कोई क्षतिपूर्ति प्राप्त नहीं हुई और न उसे कोई विशिष्ट प्रदेश मिला। अतः जापानी मानते थे कि यह युद्ध कूटनीतिक दृष्टि से जापान की पराजय था। फलतः जापान में संधि के विरुद्ध आवाजें उठने लगी। इसी कारण युद्धकालीन कस्तूरा मंत्रीमण्डल को त्यागपत्र देने पर वाध्य होना पड़ा।

अमेरिका ने भी सुदूर-पूर्व में जापान की शक्ति को 1905 ई. एवं 1908 ई. के गुप्त समझौतों द्वारा मान्यता प्रदान करते हुए स्वयं के मुनरो सिद्धान्त की असहाय स्थिति स्पष्ट कर दी। इस प्रकार 1912 ई. में सम्राट मुत्सोहितो मेइजी की मृत्यु तक जापान अन्दर और वाहर दोनों दृष्टि से सशक्त विश्व के प्रमुख राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा था। यही कारण था कि सम्राट मुत्सोहितो की मृत्यु पर जापान में भारी शोक मनाया गया। उसके स्मारक के रूप में टोकियो (तोक्यो) के समीप एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया गया।

मुत्सोहितो के पश्चात जापान – मेइजी की मृत्यु के पश्चात् योशीहितो जापान का सम्राट वना जो कि "तैशो" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्राट तैशो की मानसिक दशा ठीक नहीं होने के कारण 1921 ई. में युवराज हिरोहितो ने रीजेन्ट के रूप में जापान का शासन चलाया। 1926 ई. में तैशो की मृत्यु के पश्चात् हिरोहितो सम्राट "शोवा" के नाम से गद्दी पर बैठा। सम्राट शोवा आधुनिक युग की प्रवृतियों से पूर्णतः परिचित था। वह पाश्चात्य देशों की यात्राएं कर चुका था एवं यूरोप व अमेरिका की राजनीतिक दशा से भलीभांति अवगत था। इसीलिए उसके शासन काल में सम्राट और जनता में घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हुआ। उसकी साम्राज्ञी भी जनता के साथ सम्पर्क रखती थी और अनेक सार्वजनिक कार्यो में हाथ वटाती थी। यूरोप के अनेक राजाओं और राजनीतिक नेताओं की तरह सम्राट शोवा भी साम्राज्यवादी था। यही कारण था कि प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य जापान अपनी विस्तार वादी नीति पर कायम रहा।

जापान और प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918 ई.) – प्रथम विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड से जापान की संधि (1902 ई.) के कारण जापान मित्र राष्ट्रों की ओर

था। इसीलिए उसने मित्र राष्ट्रों के यूरोप में उलझे रहने का लाभ चीन और प्रशान्तसागर में अपना साम्राज्य विस्तार कर उठाया। 15 अगस्त 1914 ई. को जापान द्वारा जर्मनी को नोटिस दिया गया कि शांतुंग प्रान्त में उसके विशेषाधिकार जापान को स्थानान्तरित कर दे ताकि जापान उन्हें चीन सरकार को लौटाने की व्यवस्था कर सके। यह नोटिस एक सप्ताह की अवधि के लिए था। 22 अगस्त तक जर्मन की ओर से प्रत्युत्तर नहीं मिलने पर 23 अगस्त को जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी।

जापान की सेनाओं ने जर्मनी अधिकृत चीनी बन्दरगाह "त्सिंग ताओ" पर आक्रमण कर उसे अधिकार में लिया। किन्तु जापान का लक्ष्य शांतुंग प्रान्त था। अतः जापानी सेनाएं 7 नवम्बर 1914 ई. को शांतुंग की ओर बढ़ीं। इस प्रान्त में जर्मनी के विशेषाधिकारों पर जापान ने कब्जा करते हुए शांतुंग की राजधानी त्सिनाना को अधिकृत कर लिया। त्सिंग-ताओ से त्सिनान तक जो रेल्वे लाईन जाती थी, उसकी रक्षा के नाम पर इस क्षेत्र में अपनी सैनिक छावनियां स्थापित कर दी। जबकि इस क्षेत्र में रक्षा के नाम पर पहले कोई जर्मन-छावनियां नहीं थीं। जापान की इस कार्यवाही में ब्रिटेन की सैनिक सहायता जापान को प्राप्त थी। इस प्रान्त पर अधिकार करने के पश्चात् उसने वहां की व्यवस्था के नाम पर राजनीतिक प्रभुत्व का विस्तार प्रारम्भ कर दिया। 15 अगस्त 1914 के जापानी नोटिस में स्पष्ट था कि वह यह प्रान्त जर्मनी से प्राप्त कर चीन को लौटा देगा किन्तु अधिकार करने के पश्चात् जापान ने तर्क दिया कि जर्मन ने अपने अधिकार स्वेच्छापूर्वक जापान को नहीं सौंपे है और इसके लिए जापान को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी है अतः जापान इस क्षतिपूर्ति के रूप में शांतुंग अपने अधिकृत रखेगा। इस प्रकार इस महायुद्ध ने जापान के क्षेत्र विस्तार को अधिक बढ़ाया।

प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर जर्मनी का प्रभुत्व था। इनमें जो द्वीप भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित थे, उन्हें जापान द्वारा अधिकृत कर लिया गया। इनमें मार्शल, कैरोलिन और मरियाना द्वीप-समूहों का विशेष महत्व था क्योंकि यह द्वीप जापान पर बाह्य आक्रमण के समय 'ढ़ाल' का कार्य कर सकते थे। इन द्वीपों को आधार बनाकर जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया की विजय का उपक्रम कर सकता था। 1940 ई. में जापान ने इन द्वीपों को इसी उद्देश्य से प्रयोग भी किया था। इन द्वीपों पर अधिकार होने से प्रशान्त महासागर में जापान की सैनिक स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई। भूमध्य रेखा के दक्षिण में जर्मनी अधिकृत द्वीपों पर ब्रिटेन ने अपना आधिपत्य स्थापित कर जापान की कार्यवाही पर औचित्यता की मुहर लगा दी।

शांतुंग प्रान्त में जापानी सेनाओं की स्थापना से चीन की सरकार बहुत अधिक चिन्तित थी। 7 जनवरी 1915 ई. को चीन के राष्ट्रपति युआन शीकाई ने जापानी सरकार को लिखा कि महायुद्ध में चीन उदासीन है अतः शांतुंग प्रान्त में भी उदासीन-नीति को ही अपनाया जाय और जापान केवल जर्मनी को पट्टे पर प्रदत्त क्षेत्र कियाऊ-चाऊ को ही सैनिक दृष्टि से प्रयोग कर सकता है। इससे जापान ने उसके विरुद्ध चीन के विरोध की संज्ञा देते हुए चीन की सरकार को 21 मांगे (18 जनवरी 1915) को भेजी। यह मांगे जापान द्वारा समझौते के रूप में पुकारी गई किन्तु मूल में यह मांगे चीन पर जापानी-दबाव था। इन मांगों के प्रति किसी भी यूरोपीय राष्ट्र ने विरोध नहीं किया पर 11 मई 1915 ई. को अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने जापान को एक विरोध-पत्र भेजा कि अमेरिका इन मांगों को कभी मान्यता नहीं देगा। जापान ने इसके पूर्व ही 7 मई को चीन की सरकार के पास चौबीस घन्टे का अल्टीमेटम पहुँचा दिया था कि चीन ने मांगे स्वीकार नहीं की तो जापान चीन पर आक्रमण कर देगा। मांगों के विषय में दोनों देशों के मध्य 25 सम्मेलन हुए किन्तु कोई हल नहीं निकला। अन्त में जापान ने धमकी और सान्त्वना की नीति का सहारा लिया कि यदि चीन इन्हें मान लेता है तो यूआन शीकाई की सरकार को बनाये रखने व क्रान्तिकारियों को दबाने में वह चीन की मदद करेगा अन्यथा वह क्रान्तिकारियों को सहायता देगा और आक्रमण द्वारा चीन की सरकार हटा देगा। जापानी विदेशमन्त्री ने चीन के बारे में धमकी का प्रयोग इस तरह किया कि "यदि आभूषण विक्रेता की दूकान मे आग लगी हो तो पड़ोसियो के लूटने में आत्मनिर्णय की आशा नहीं की जा सकती है।" अन्ततः 25 मई 1915 को दोनों देशों ने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इन मांगों के प्रथम भाग में शांतुंग सम्बन्धित चार मांगे थी कि शांतुंग प्रान्त जापान को दे दिया जायगा। जिसमें जापान को राजनीतिक, व्यापारिक और रेल आदि बनाने के विशेषाधिकार होंगे तथा कोई विदेशी शक्ति इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। दूसरे भाग में पोर्ट आर्थर मुकदेन तथा दक्षिण मंचूरिया का पट्टा 99 वर्ष के लिए जापान को प्रदान किया गया। जापानियों को जापानी-न्याय की व्यवस्था और मंगोलिया में व्यापार और रेल निर्माण का अधिकार दिया गया। तीसरे भाग में चीन के बड़े बड़े नगरों में जापान को लोहे आदि के कारखाने खोलने की स्वीकृति के साथ चीनी खानों के उत्खनन पर विदेशियों के लिये प्रतिबन्ध लगा दिया गया। चौथे भाग में चीन ने वायदा किया कि वह जापान की स्वीकृति के बगैर कोई भी बन्दरगाह या द्वीप किसी अन्य शक्ति को नहीं देगा और बदले में जापान ने चीन की सुरक्षा का वचन दिया। पांचवे भाग में चीन जापानी सलाहाकार रखेगा, जापानी चर्च, स्कूल व अस्पताल बनाने की छूट होगी, चीन के महत्वपूर्ण स्थानों

की सुरक्षा चीन और जापान के पुलिस अफसर मिलकर करेगें। अपने युद्ध को 50% सामान जापान से क्रय करेगा। विदेशी पूंजी के प्रयोग से पूर्व जापान से इसकी स्वीकृति लेगा। इस प्रकार 21 मांगों के इस समझौते में चीन को जापान संरक्षित राष्ट्र बना दिया।

1917 ई. की संधियां :—1917 ई. में रूस में बोल्शेविक क्रांति होने के पश्चात् वहाँ की साम्यवादी सरकार युद्ध से हट गई। अतः जर्मन की पूर्वी सेना भी पश्चिम की ओर आ गई। जर्मनी के युद्ध दबाव को कम करने फ्रांस और ब्रिटेन ने जापान से प्रार्थना की कि वह अपना जहाजी बेड़ा मित्र राष्ट्रों को सहायतार्थ भूमध्य सागर में भेज दे। इस सहायता के बदले में जापान ने मित्र राष्ट्रों से भरपूर मूल्य वसूल किया। उसने फ्रांस और ब्रिटेन से एक गुप्त समझौता किया कि युद्ध समाप्ति पर जो संधि-परिषद होगी उसमे वे शांतुग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों का समर्थन करेगें। इसी प्रकार इटली ने भी गुप्त समझौता कर लिया। इन संधियों ने सिद्ध कर दिया कि चीन जापान के साम्राज्य विस्तार का उपयुक्त और न्यायी क्षेत्र है।

1917 ई. में अमेरिका भी जर्मन के विरूद्ध युद्ध में सम्मलित हो गया तो अमेरिकी राजनीतिज्ञों ने आवश्यक समझा कि अमेरिका भी जापान से समझौता कर ले। नवम्बर 1917 ई. में अमेरिका की ओर से लांसिग तथा जापान की और से इशी ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह समझौता इतिहास में **लांसिग इशी समझौता** कहलाता है। इसके अनुसार अमेरिका ने स्वीकार किया कि भौगोलिक दृष्टि से जापान के साथ सन्निकट सम्बन्ध हैं और इसीलिए चीन में उसकी विशेष दिलचस्पी सर्वथा उचित है। अतः चीन में जापान को कतिपय विशेष अधिकार मिलने चाहिये। किन्तु अमेरिका-जापान के मध्य इस करार ने यह स्पष्ट नहीं किया था कि विशिष्ट अधिकार कौनसे होगें और अमेरिका किस हद तक उन्हें स्वीकार करेगा। पर इस समझौते से यह स्पष्ट हो गया कि जापान के साम्राज्य विस्तार में अमेरिका बाधक नहीं है।

रूस की क्रांति के फलस्वरूप क्रांति विरोधियों की सहायतार्थ जापान ने सेना भेज कर उत्तरी मंचूरिया और पूर्वी साइबीरिया में प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु बोलशेविक सेनाओं द्वारा स्थिति नियन्त्रण में कर लेने से जापान को सफलता प्राप्त नहीं हुई फिर भी इससे यह पता लगता है कि महायुद्ध की परिस्थितियों का लाभ उठा कर जापान अपने साम्राज्य विस्तार के लिये कितना प्रयत्नशील था।

पेरिस की शान्ति परिषद और वर्साय की संधि में जापान की कार्यवाहियों पर मौन साधते हुए विश्व के राष्ट्रों ने चीन की एक न सुनी। राष्ट्रसंघ ने भी

प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों पर जापानी आधिपत्य को मान्यता प्रदान कर दी। यद्यपि अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन जापानी मांगों के विरोधी थे परन्तु मित्र राष्ट्रों के द्वारा जापान का पक्ष इतना प्रवल था कि विल्सन का विरोध केवल आदर्श बनकर रह गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जापान विश्व की पांच महान शक्तियों (इटली, अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन जापान) में मान लिया गया।

जापान में राजनीतिक दल और नेतृत्व (1881–1947 ई.)

जापान में राजनीतिक दलों का निर्माण 1881 ई से प्रारम्भ हो गया था शुरु में वहां जियुतो और कोशिन्तो दल नामक गठन हुआ जो उदारवादी और सनातनवादी विचारधाराओं प्रेरित काउन्ट इतागाकी और काउन्ट ओकुमा के नेतृत्व में प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। 1889 में संविधान लागू होने के पश्चात जापान में प्रथम मन्त्रि मण्डल यामागाता (1889 –1891 ई.) और बाद में मुत्सुकाता (1891–1892 ई.), इतो (1892–1896 ई), काउट ओकुमा (1896–1897 ई.) ने मंत्रिमण्डल बनाये। 1897 ई. मे प्रिंस इतो जब पुनः प्रधानमन्त्री बना तो काउन्ट ओकुमा के नये दल शिम्पोतो (प्रगतिशील दल जो कैशिन्तो के सदस्यों और अन्य उतरदायी संसद पद्धति म विश्वास] रखने वाले के समन्वय से बनाया गया था।) एव जियुतो ने उसका विरोध किया। इसके विरोध स्वरुप संसद में ओकुमा ने एक समान विचार वालों का नया दल केन्सेईकाई (संविधानवादी) दल संगठित किया जिसम शिम्पोनो और जियुतो दल के सदस्य सम्मिलित थे। इस दल के प्रबल विरोध स्वरुप प्रिंस इतो ने त्याग पत्र दे दिया। 1898 ई. में केन्सेईकाई की सरकार बनी जिसमें ओकुमा और इतागाकी मंत्री रूप में सम्मिलित हुए किन्तु ओकुमा व इतागाकी के पारस्परिक सिद्धान्त भेद ने इस मंत्री मण्डल को चार मास में ही भंग करा दिया। काउन्ट ओकुमा ने पुनः पुराने दल शिम्पोतो का पुनर्गठन किया जबकि काउन्ट इतागाकी केन्सेईकाई चलाता रहा। नया मंत्रिमण्डल प्रथम यामागता के नेतृत्व में बना जिसे केन्सेईकाई दल का समर्थन प्राप्त था किन्तु संसद में बहुमत नहीं होने से शीघ्र ही इसे त्यागपत्र देना पड़ा। इतो ने इस समय सैयुकाई दल (जो कि शिम्पोतो और केन्सेईकाई दल के असंतुष्ट का सम्मिलित संगठन) की सरकार बनाई इस प्रकार 1901 ई. तक जापान जापान में शिम्पोतों, केन्सेईकाई और सैयुकाई नामक राजनीतिक दल विद्यमान थे। 1901 ई. में प्रिंस इतो को अपनी सामन्तवादी विचारधारा के कारण त्याग पत्र देना पड़ा। अतः मंत्री मण्डल का निर्माण यामागाता के अनुयायी कत्सूरा नामक सेनापति के नेतृत्व में किया गया। इसके काल में जापान-ब्रिटेन संधि, रूस जापान युद्ध तथा पोट्समाउथ की संधि हुई किन्तु पोर्ट्समाउथ संधि के प्रति जनाक्रोश के फलस्वरुप कत्सूरा को 1905 ई. में त्यागपत्र देना पड़ा। 1905—1913 ई.

के काल में कभी मंत्री मण्डल सैचुकाई दल के सेओन्जी तो कभी कैन्सेईकाई समर्थित कत्सूरा के नेतृत्व में बना। इन्होंने युद्ध से हुई आर्थिक समस्याओं को अपने काल में निपटाने का प्रयत्न किया। 1913 ई. में कत्सूरा के त्यागपत्र के बाद एडमिरल यामामोतो जापान का प्रधानमंत्री बना किन्तु शीघ्र ही उसके त्यागपत्र पश्चात पुनः काउन्ट ओकुमा ने नेतृत्व सम्भाला। उसने शिम्पोतो दल को कैन्सेईकाई में सम्मिलित कर 1915 ई. तक शासन चलाया। वह साम्राज्यवाद का समर्थक तो था किन्तु अन्ध भक्त नहीं था अतः साम्राज्यवादियों के दबाव फलस्वरूप उसे त्यागपत्र देना पड़ा तो काउन्ट तेराउची ने नया मन्त्री मण्डल बनाया। तेराउची कट्टर साम्राज्यवादी था। केन्सेईकाई दल इसका विरोधी एवं सैयुकाई दल इसका समर्थक था। युद्ध के पश्चात उत्पन्न आर्थिक अव्यवस्थाओं को हल करने में तेराउची असमर्थ रहा। अतः 1918 ई. में इसने पद छोड दिया। अब हारा प्रधानमन्त्री बनाये गये जो कि सैयुकाई दल के थे। 1921 ई. में तोक्यो रेलवे स्टेशन पर उनकी हत्या तक वे प्रधानमन्त्री बने रहे थे। इसके पश्चात सैयुकाई दल का अन्य नेता काउन्ट ताकाहाशी को मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व दिया गया। इसके काल में जापान ने उदार नीति का अनुसरण कर साम्राज्यवाद के स्थान पर आन्तरिक विकास की ओर ध्यान दिया। वाशिंग्टन सम्मेलन इसी काल में सम्पन्न हुआ था। परन्तु जापान की भावना तो साम्राज्यवादी थी अतः सैयुकाई दल में फूट पड़ गई और सैयुहोन्तो नामक दल गठित हुआ। इस दल के समर्थन पर एडमिरल कातो ने सरकार बनाई। कातो 1923 ई. के पश्चात एडमिरल यामामोतो (1924 ई.) ने सरकार संचालित की। 1924 ई. के आम चुनाव में कैन्सेईकाई और सैयुहोन्तो के 151 तथा 116 व सैयुकाई के 100 सदस्य निर्वाचित हुए। कैन्सेईकाई दल ने सैयुकाई के समर्थन पर काउन्ट कातो को प्रधान मन्त्री बनाया। शीघ्र ही सैयुकाई दल कातो का विरोधी हो गया। अतः 1925 ई. में कातो ने अन्य स्वतन्त्र सदस्यों के दल से कैन्सेईकाई सरकार को 1927 ई. तक चलाया। इसके बाद सैयुकाई दल के समर्थन पर बैरन तनाका 1929 ई. तक प्रधानमन्त्री रहा। 1927 ई. में सैयुहोन्तो कैन्सेईकाई दल ने मिलकर मिन्सेइतो दल का निर्माण किया। 1930 ई. में मिन्सेइतो के 273 और सैयुकाई के 174 उम्मीदवार निर्वाचित हुए अतः मिन्सेइतो दल के नेता हामा गुची ने मन्त्रि मण्डल बनाया। अपने उदारवादी सिद्धान्तों के कारण उसे 1931 ई. में त्याग पत्र देना पड़ा। 1932 ई. के निर्वाचन पश्चात सैयुकाई दल ने इनुकाई के नेतृत्व में सरकार बनाई किन्तु इसी वर्ष हत्या हो जाने से जनरल सैतो और जनरल अराकी के नेतृत्व से मन्त्रिमन्डल बनाया गया। इनके काल में जापान ने मंचूरिया में अपना साम्राज्य विस्तार का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां जापान में सवैंधानिक विकास

के साथ-साथ राजनीतिक दलों की भूमिका में उदारवादी एवं उग्रवादी तत्व विद्यमान रहे थे वहां राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद विचार मन्त्रिमण्डलों पर हावी रहे। उग्र राष्ट्रीयता के फलतः मिन्सेइतो, सैयुकाई दल के अतिरिक्त 1935 ई, में शोवाकाई दल का जन्म हुआ। 1930 ई. में ब्लड ब्रदर हुड लीग की स्थापना की जा चुकी थी जो कि साम्राज्य प्रसार की कट्टर समर्थक थी।

ब्लड ब्रदरहुड लीग (रक्त बन्धुत्व संघ) ने ही जापानी प्रधानमंत्री इनुकाई की हत्या की थी। इनुकाई के पश्चात सैनिक समर्थित सरकार बनी जो 1935 ई. तक बनी रही। 1935 ई. में संसद के चुनाव में मिन्सेइतो दल को भारी बहुमत (305) प्राप्त हुआ। किन्तु सैनिकों और ब्लड ब्रदरहुड को यह सहन नहीं हुआ कि सरकार मिन्सेइतो दल द्वारा बनाई जाये। 26 फरवरी 1936 ई. को 1500 सैनिकों ने अस्त्र-शस्त्रों सहित् तोक्यो में विद्रोह कर दिया और तीन दिन तक उन्होंने सरकारी नेताओं की हत्या लूट-पाट कर अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। यद्यपि सम्राट और उसकी सरकार ने विद्रोह को दबा दिया परन्तु इससे स्पष्ट हो गया कि उग्र साम्राज्यवादी लोकतन्त्र को जापान के विस्तार में बाधक समझते है। 1936 ई. में एडमिरल ओकोदाके स्थान ! पर हीरोता को नेतृत्व दिया गया। किन्तु हीरोता भी जल्दी हटा दिये गये तत्पश्चात् दो मंत्रिमडल बने और भंग हुए। 31 मई 1937 ई. को प्रिंस कोनोय प्रधानमंत्री बनाया गया। यह सेना और जनसाधारण दोनों में लोकप्रिय था। इसके काल में 'नई व्यवस्था' लागू की गई। इसका मंत्रिमडल 5 जनवरी 1938 ई. तक कायम रहा 1938 ई. में उग्रराष्ट्रवादी, साम्राज्य विस्तारक और असैनिक डॉ. हीरानूमा जापान का प्रधानमंत्री बना। 1939 ई. में जर्मनी और रूस ने परस्पर तटस्थता की संधि करली और उसी जर्मनी से जापान ने एन्टिको मिन्टॅन पेक्ट किया तो जापान के लोग इससे बड़े रुष्ट हुए अतः 28 अगस्त 1939 ई. को हीरानूमा ने त्यागपत्र दे दिया। अब प्रधानमंत्री के पद पर पुनः एक सैनिक आरुढ़ हुआ, जिसका नाम जनरल नोबूयुकी आबे था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जापान की स्थिति को अधिक दृढ़ता नहीं प्रदान कर सकने के कारण 15 जनवरी 1940 ई. को इसे भी त्यागपत्र देना पड़ा तब एडमिरल मितसुमासा येनाई के नेतृत्व में मंत्रि परिषद गठित हुई। इस समय यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो चुका था और जापान के उग्रवादी साम्राज्य विस्तार पर जोर दे रहे थे। उनकी आशा को येनाई शीघ्रपूर्ण करने में असमर्थ था, इसीलिये उसने 18 जुलाई 1940 ई. को पद छोड़ दिया। प्रिंस कोनोये पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये। इनके द्वितीय काल में जापान ने कूटनीतिक और सैनिक सफलता के प्रयत्न किये। परन्तु अमेरिका सम्बन्धी नीति की असफलता ने उनका पतन कर जनरल हिदेको तेजो को नेतृत्व प्रदान करा दिया। तेजो की साम्राज्यवादी नीति ने पर्लहार्बर पर आक्रमण शुरु कर अमेरिका को युद्ध में उतरने पर विवश कर दिया।

प्रिंस कोनोये के काल (1941 ई.) में यद्यपि एकाधिकारी (डिक्टेटर) शक्ति का कोई चिन्ह जापान में उपस्थित नहीं था तथा जापान के लोगों ने महायुद्ध में राजनीतिक भेद भाव और मतभेदों को भूलाकर सम्राट के नेतृत्व में एक सस्था का गठन किया, जिसका नाम "इम्पीरियल रूल असिस्टेन्स एसोशियेशन" अर्थात् सम्राट के शासन के लिए सहायक सभा था। जनरल तेजो और इस सभा ने देश की युद्ध कालीन व्यवस्था को संचालित् किया। जापान की पराजय (अगस्त 1945 ई.) के पश्चात जनरल तेजो परराष्ट्र मंत्री मत्सुओका जनरल कीमुरा. हीरातो, हीरानुमा आदि पर अतर्राष्ट्रीय मुकदमा चलाया तथा इन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया। मित्र राष्ट्रों ने 1946 ई. में जापानी संसद के चुनाव कराये। इसके पूर्व शिदेहारा जैसे उदारवादी नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। चुनाव के पश्चात योशीदा ने शिदहारा का स्थान ग्रहण किया। इसके समय में जापान का नया शासन विधान बना। 3 मई 1947 ई. को जापान में यह विधान लागू किया गया। इस विधान द्वारा जापान में सम्राट को केवल "ध्वजमात्र" बना दिया गया और शासन हेतु संसद का प्रभुत्व स्थापित किया गया। प्रतिनिधि सभा और परामर्श सभा नामक दो जनप्रतिनिधित्व सदन बनाये गये। स्वतन्त्र न्यायपालिका का गठन किया गया। मताधिकार को विस्तृत कर जनसाधारण और स्त्रियों को भी अधिकार प्रदान किये गये। लोकतंत्र के मार्ग पर जापान को अग्रसर करने जापान को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। 1947 ई. में नये विधान के अन्तर्गत निर्वाचन कराये गये जिसमें सैयूकाई और मिन्सेइतो के अतिरिक्त एक नई राजनितिक पार्टी सामाजिक लोकतंत्रवादी दल संसद में आया। इस नये दल के राजनीतिक विचार जापान में साम्माजिक आर्थिक समानता हेतु समाजवाद स्थापित करना था। इस दल के बहुमत के कारण इसका नेता कातायामा प्रधानमत्री बना। इस प्रकार शनैः शनैः जापान लोकतंत्र की ओर विकसित होते हुए सैनिक साम्राज्यवाद के स्थान पर आर्थिक उन्नति के कारण आर्थिक साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर है। सम्पूर्ण विश्व में जापानी माल अन्य देशों के माल से अधिक अपनी साख जमाये हुए है।

दो विश्व युद्धों के अनन्तर जापान

अमेरिका ने जापान को गोद में खिलाकर, घुटने चलाकर, दौड़ना सिखाया था और जो जापान की प्रगति को कौतुहलपूर्ण आश्चर्य से देखता था वही जापान की साम्राज्यवादी नीतियों से तिलमिला उठा। अमेरिका चीन में "खुले द्वार की नीति" चाहता था जबकि जापान इसकी अवेहलना कर रहा था। कोरिया, साखालिन, पेस्काडोर्स, फार्मोसा, क्यूरिल आदि पर जापान का अधिकार होने से प्रशान्त महासागर में जापान की स्थिति सर्वोपरि हो गई थी। यह अमेरिका के

लिए खतरा था क्योंकि अमेरिका भी प्रशान्त महासागर में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। जापान के साम्राज्य विस्तार से ब्रिटेन के आस्ट्रेलिया और कनाडा उपनिवेश के हितों को भी खतरा उत्पन्न हो सकता था। फिर अमेरिका और ब्रिटेन के चीनी बाजारों में जापानी माल ने प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ कर दी थी, इससे इन देशों का व्यापार निरन्तर कम होता जा रहा था। युद्ध के पश्चात जापान ने जंगी जहाजों के निर्माण ने तत्कालीन विश्व की नाविक शक्ति में प्रथम माने जाने वाले देश अमेरिका और ब्रिटेन के सम्मुख प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर दी कि वे भी जंगी जहाजों के निर्माण कार्य को चालू रखे। इस स्थिति से जहां दोनों देशों की आर्थिक व्यवस्था असंतुलित हो रही थी वहां जापानी सैन्यकरण से चिन्ता बढ़ रही थी। इधर चीन में सैनिक संघर्ष से अव्यवस्था बढ़ने लगी तो पश्चिमी राष्ट्रों का ध्यान जापान की ओर आकर्षित हुआ कि वह इसका लाभ कहीं अपने क्षेत्र प्रसार द्वारा प्राप्त नहीं कर ले। अतः जापान की नाविक शक्ति को संतुलित करने अमरिकन राष्ट्रपति हार्डिन्ज के आमंत्रण पर 11 नवम्बर 1921 ई. को वाशिंगटन में नाविक शक्तियों का सम्मेलन आयोजित किया गया।

वाशिंगटन सम्मेलन (1921–22 ई.)—वाशिंगटन में भाग लेने वाले देश अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस इटली और जापान थे। चूंकि यह सम्मेलन नाविक निरस्त्रीकरण के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर तथा पूर्वी एशिया सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी विचार करने के लिये बुलाया गया था। इसलिये इसमें चीन, हालैण्ड, बेल्जियम और पुर्तगाल को भी आमंत्रित किया गया। इस प्रकार इसमें 9 राष्ट्र सम्मिलित हुए। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए अमेरिका के विदेश सचिव चार्ल्स इवनह्यूग ने प्रस्ताव रखा कि अमेरिका अपनी नौ सेना में वृद्धि रोकने के लिए तैयार है यदि ब्रिटेन और जापान भी इस काम में उसका साथ दे। सम्मेलन में जंगी जहाजों की वजन पर आधारित नियंत्रण पर विचार किया गया और इसमें स्वीकार (5 फरवरी 1922 ई.) किया गया कि अगले वर्षों तक विविध राष्ट्रों में जहाजों का अनुपात (वजनानुसार) इस प्रकार होगा अमेरिका 5, ब्रिटेन 5, जापान 3, फ्रांस और इटली 1.67 इस सम्मेलन में छोटे जहाजों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका। क्योंकि ब्रिटेन ने इसका अपने विशाल साम्राज्य के हित में विरोध किया। ब्रिटेन पनडुब्बियों के प्रयोग पर नियंत्रण चाहता था किन्तु फ्रांस इससे सहमत नहीं था। इटली पूर्व में ही पेरिस शान्ति परिषद् और वर्साय संधि से नाराज था फिर उस पर यह नियंत्रण थोप कर ब्रिटेन व अमेरिका ने उसे रुष्ट कर दिया। फ्रांस को इटली के समानस्तर पर रखना फ्रांस की नाराजगी का कारण था।

सम्मेलन में 1902 ई. की इंगलैण्ड जापान संधि को भंग कर चार राष्ट्रों (इंगलैण्ड, फ्रांस, जापान और अमेरिका) की संधि की गई। इस संधि ने प्रशांत

महासागर स्थित एक दूसरे के अधिकृत प्रदेशों को मान्यता दे दी। इसके पश्चात नौ राष्ट्रों की एक संधि पर हस्ताक्षर हुए, जिसके द्वारा चीन की प्रादेशिक अखण्डता का वचन दिया गया तथा चीन में व्यापार वाणिज्य हेतु 'खुले दरवाजे' की नीति को स्वीकृत किया गया। इस सम्मेलन में जापान को अपनी महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाने पर बाध्य होना पड़ा था। प्रोफेसर कार के अनुसार जापान इसमें अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझता था और आगे चलकर इस समझौते को भंग करने का प्रयत्न करना उसके लिए स्वाभाविक था।

लन्दन सम्मेलन (जनवरी, 1930 ई.)—वाशिंगटन शक्तियों को इस सम्मेलन में छोटे युद्धपोतों के निर्माण पर नियंत्रण करने बुलाया गया। किन्तु इस सम्मेलन में विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के मुखौटे स्पष्ट हो गये। फ्रांस ने जहां ब्रिटेन के समकक्ष जहाज संख्या पर जोर दिया वहां इटली ने फ्रांस के बराबर स्तर बनाये रखने की मांग रखी। जापान ने अपने स्तर को अमेरिका तथा ब्रिटेन के समान करने (अर्थात 5) की मांग पर जोर देते हुए वाशिंगटन संधियों द्वारा उस पर लादी गई असमानताओं के प्रति विरोध प्रकट किया। ऐसी स्थिति में लन्दन सम्मेलन में कोई निर्णय होना कठिन था फिर भी तीन माह के प्रयत्नों के पश्चात 22 अप्रेल 1930 ई. में संधि पर हस्ताक्षर हुए और वाशिंग्टन संधि को पांच वर्ष के लिए वृद्धि पर सहमत हुए। इस तरह 1 जनवरी 1931 ई. को लागू यह संधि 1937 ई. तक के लिए स्वीकृत हुई। फ्रांस और इटली प्रारम्भ से ही इसमें विरोधी रुख अपनाये हुए थे अतः कुछ वर्षों बाद फ्रांस और इटली इस संधि से अलग हो गए फलतः इसमें अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ही सीमित रह गये। जापान में भी इस संधि से तीव्र असंतोष था। जापानी नौ-सैनिक इस संधि से कितने क्रुद्ध थे इसका पता इसीसे चलता है कि एक नौसैनिक अफसर ने इसके विरोध में आत्म हत्या कर ली और संधि पर हस्ताक्षर करने वाले नौ सेना के मन्त्री जब जापान लौटे तो उन्हें एक कटार भेंट की गई, जो इसका संकेत थी कि वह भी यही मार्ग अपनाये। निष्कर्ष रूप में इस संधि का परिणाम यह हुआ कि जापान को प्रशान्त महासागर में बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया गया तो वह जमीन पर अपना राज्य विस्तार करने में लग गया।

यद्यपि 1930 ई. के लन्दन सम्मेलन में जापानी प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर कर दिये थे किन्तु यह हस्ताक्षर अमेरिकी दबाव का परिणाम था। जापान में 1927 ई. पुनः जापानी साम्राज्यवाद फैलाने की प्रवृति उठ खड़ी हुई थी। इसका उदाहरण हमें तत्कालीन प्रधानमन्त्री जनरल बैरन तनाका द्वारा जापानी-सम्राट को प्रस्तुत प्रतिवेदन है। यह प्रतिवेदन **तनाका मेंमोरियल** के नाम से जाना जाता है। इसमें स्पष्ट कहा गया था कि जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए मात्र

मंचूरिया, मंगोलिया और चीन की विजय काफी है अपितु सम्पूर्ण पूर्व एशिया और दक्षिण सागर स्थित देशों की विजय भी आवश्यक है और इसमें यदि संयुक्त राज्य अमेरिका से भी युद्ध करना पड़े तो जापान को इसके लिए भी तैयार रहना चाहिये। तनाका मेमोरियल को मंत्रिमण्डल द्वारा अधिक सहयोग प्राप्त नहीं हुआ परन्तु जापान के सेनानायक इससे अवश्य प्रभावित हुए। उन्होंने तनाका के के पश्चात नियुक्त प्रधान मन्त्रियों पर इसके निमित जोर डालना प्रारम्भ कर दिया। फलतः मंचूरिया पर जापानी-प्रभुत्व की छाप लग सकी।

मंचूरिया पर जापान का अधिकार— जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण के कारण में जापानी साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और विश्व संधियों में पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा जापान को तीसरे या चौथे स्थान पर रखकर दबाने की नीति उपरोक्त स्पष्ट कर दी गई। फिर भी कुछ अन्य आर्थिक कारण थे जिनके फल-स्वरूप जापान ने मंचूरिया में प्रवेश किया। जापान की जनसंख्या दिन दूनी बढ़ रही थी और अमेरिका ने जापानी युवकों के अमेरिका आवास पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अतः जापान ने अपनी जनसंख्या को खपाने का साधन मंचूरिया को माना क्योंकि वह जापान के समीप भी पड़ता था।

विश्व आर्थिक मन्दी का प्रभाव जापान पर भी पड़ा। उसका निर्यात पाश्चात्य देशों में घट रहा था अतः जापान को एक बाजार की तलाश थी और मंचूरिया इसके लिए उपयुक्त समझा गया। मंचूरिया कच्चे माल की दृष्टि से समृद्ध क्षेत्र था। अतः इसके दोहन से जापान अपने आर्थिक घाटे की पूर्ति करना चाहता था।

जापान में सामन्तवाद तो समाप्त हो रहा था किन्तु उसका स्थान पूंजी-वाद ले रहा था। जापानी पूंजीपति अपने लाभ हेतु सरकार और सैन्य अधिका-रियों को साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे।

1929 ई. के उपरान्त मंचूरिया में जापान और मंचूरिया में बसे जापानी व्यापारियों, कर्मचारियों आदि के प्रति विरोधी भावना प्रबल होती जा रही थी। अतः इस स्थिति पर नियंत्रण करना जापान की सरकार के लिये आवश्यक था। चीन इस समय गृह युद्ध में फंसा हुआ था। च्यांगकाई शेक को चीनी सेनापतियों से टक्कर लेनी पड़ रही थी, ऐसी स्थिति का लाभ जापान आसानी से ले सकता था। फिर मंचूरिया के सूबेदार ने चीन से अपने सूबे की स्वतन्त्रता की घोषणा कर रखी थी किन्तु उसकी मृत्यु पश्चात उसके पुत्र चांग काई शेक की अधीनता स्वी-कार कर ली। इससे भी जापान रुष्ट था क्योंकि स्वतन्त्र सरकार के रहते जापान अपनी मनमानी कर सकता था किन्तु एकीकृत चीन का विरोध करना सरल कार्य नहीं था। रूस भी उत्तरी मंचूरिया में अपना जाल फैला रहा था और वह अब

जारशाही युग जैसा निर्बल भी नहीं था। रूस की साम्यवादी सरकार और चीन स्थित केन्टन की साम्यवादी सरकार मिलकर मंचूरिया में जापान के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते थे। चीन की सरकार ने जापान को कहना प्रारम्भ कर दिया था कि वह लाओतुंग प्रायद्वीप एवं दक्षिण मंचूरियां की रेल लांईन के अधिकार चीन को प्रदान कर रेल-सुरक्षार्थ जापानी सेनाएं मंचूरिया से हटाले। जापान ने जब यह स्वीकार नहीं किया तो चीन की सरकार ने हजारों चीनियों को मंचूरिया में बसाना शुरु कर दिया। चीन की इस कार्यवाही का जवाब जापान को देना ही चाहिये, की भावना जापान में उछलने लगी। केन्टन की सरकार भी जापान के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार कर रही थी।

इस प्रकार राजनीतिक-आर्थिक और सैनिकवादी परिस्थितियों ने जापान को मंचूरिया के प्रति कार्यवाही करने को बाध्य कर दिया। 18 सितम्बर 1931 ई. की रात को मुकदन के समीप स्थित जापानी सैनिकों की छावनी के पास रेलवे लाईन पर बम्ब विस्फोट की घटना ने जापानी कार्यवाही को सरल बना दिया। जापानी सैनिकों ने इसका दोष चीनी सेना पर मढ़ते हुए मुकदन पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापानी सेना आगे बढ़ती गई और 1932 ई. के अन्त तक सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। फरवरी 1932 ई. ने मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य 'मंचूको' की स्थापना कर दी तथा चीन के पदच्युत सम्राट यूयी को इसका शासक नियुक्ति किया। 15 सितम्बर 1932 ई. को जापान ने इस स्वतन्त्र राज्य को औपचारिक रूप से मान्यता प्रदान कर दी। परन्तु इस राज्य का वास्तविक शासन जापानी अधिकारियों के नियंत्रण में ही चलता रहा। चीन की सरकार जापान की इस कार्यवाही को रोकने में सर्वथा असफल रही। राष्ट्रसंघ ने जब इसके प्रति कुछ निर्णय करना चाहा तो जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को ही ठोकर (1933 ई.) मार दी।

मंचूरिया-काण्ड ने विश्व इतिहास को नया मोड़ दिया। कार के शब्दों में "जापान द्वारा मंचूरिया विजय प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण एतिहासिक सीमा चिन्हों में से एक थी।" जापान की आन्तरिक घुटन के विस्फोट ने एक ही धक्के में राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र, वाशिंगटन समझौते, पेरिस पेक्ट की भावना एवं अमेरिका की 'राष्ट्रीय अखण्डता' नीति को नष्ट कर दिया अमेरिका, रूस व अन्य राष्ट्रों ने जापानी कार्यवाही की पूर जोर शब्दों में निन्दा तो की पर किसी ने सैनिक कार्यवाही का साहस नहीं किया। उल्टे जापान ने जापानियों की जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए अपनी कार्यवाही को चीनी लूटेरों के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही बतलाया। परिणामतः मंचूरिया कार्यवाही ने जहां जापानी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया वहां मुसोलिनी

ग्रौर हिटलर को भी प्रेरणा मिली। राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा पर शंका की जाने लगी तो निर्बल राष्ट्रों को सामूहिक सुरक्षा प्रणाली से विश्वास जाता रहा। पश्चिमी राष्ट्रों की दुरंगी नीति ने जहां जापान के प्रति कोई कदम नहीं उठाया वहां ब्रिटेन जैसा देश जापान से ग्रान्तरिक सहानुभूति रखता रहा। ऐसी ग्रवस्था में जापान अपने जैसे विचारक देशों की ओर उन्मुख हुग्रा ग्रौर 25 नवम्बर 1936 में एन्टी कोमिन्टर्न पेक्ट के ग्रन्तर्गत उसने इटली ग्रौर जर्मनी जैसे साम्रा-ज्यवादियों से मित्रता स्थापित करली। इस पेक्ट का ग्रर्थ था साम्यवाद विरोध इसलिए जापान द्वारा इस कार्यवाही को भी पश्चिमी राष्ट्रों ने ग्रपने हित में समझा जबकि इसके पूर्व ग्रप्रेल 1934 ई. में जापान चीन के बारे में नई व्यवस्था की घोषणा कर चुका था। इसके ग्रनुसार जापान ने चीन पे ग्रपने विशिष्ट और सार्वभौम हितों की घोषणा करते हुए पश्चिमी राष्ट्रों को चीन से पृथक रहने की चेतावनी दे दी थी। इस व्यवस्था को जापान को 'मुनरो सिद्धांत' भी कहा जाता है। इसका ग्राशय था कि एशिया एशिया वालों के लिए है पश्चिमी देशों को यहां से हट कर एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यह सब जापान की ओर से दिखावा था शीघ्र ही 1937 ई. में उसने चीन पर आक्रमण कर एशिया एशिया वालों के लिये है, को स्पष्ट कर दिया। चीन जापान युद्ध, द्वितीय विश्व युद्ध में जापान ग्रौर 1945 ई. में जापान की पराजय का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ग्रतः यह कहना ही काफी होगा कि जापानी साम्राज्य का उत्कर्ष 5 ग्रौर 9 ग्रगस्त 1945 ई. को हिरोशिमा और नागासाकी पर अमरिकन ग्रणुबम ने रोक दिया 15 ग्रगस्त 1945 ई. को जापान ने हथियार डाल दिये। जापान को ग्रपनी पुरानी सीमाओं में सीमित कर दिया गया। युद्धो-परान्त जापान की राजनीतिक आर्थिक दुरावस्था को व्यवस्थित करने का दायित्व ग्रमेरिका ने लिया ग्रतः कई वर्षो तक जापन को अमेरिकन प्रभुत्व में 26 ग्रप्रेल 1952 ई. तक रहना पड़ा। परन्तु चीन में सम्यवादी सरकार की स्थापना से ग्रमेरिकन सरकार ने जापान को अपने हितैषी के रूप में पुनः शक्तिशाली बनाना प्रारम्भ कर दिया और आज जापान विश्व में कौनसा स्थान रखता है हम सभी जानते है।

10

अफ्रीका में राष्ट्रवादी-जागृति

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप के निवासियों को अन्ध महाद्वीप के विषय में बहुत कम ज्ञान था। उत्तरी अफ्रीका के कुछ देश मिश्र, अलजीरिया, ट्यूनिस, मोरक्को आदि के साथ समुद्रतट के आसपास के भू भागों को छोड़कर शेष अफ्रीका अज्ञात और रहस्यमय भू खण्ड था। अफ्रीका के सघन जङ्गलों, भौगोलिक तथा प्राकृतिक दशाओं और अद्भुत निवासियों के सम्बन्ध में कोई विशेष परिचय और जानकारी नहीं थी। 1875 ई. के पूर्व तक अफ्रीका का छोटा सा भाग यूरोप के राज्यों के अधिकार में था। दक्षिणी तट पर 1806 ई. में इंगलैण्ड ने हालैंड से केप कॉलोनी (आशा अन्तरीप) का प्रदेश छीन लिया था और 1843 ई. में नेटाल पर अधिकार कर लिया था। उत्तरी तट पर 1830 ई. में फ्रांस ने अलजीरिया पर अधिकार करके उसके आसपास के प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। पुर्तगाल के पास पूर्वी तट पर मोजाम्बिक तथा पश्चिमी तट पर अङ्गोला के तटीय प्रदेश थे जिनकी भीतरी सीमाएं अस्पष्ट थीं। इन प्रदेशों के अतिरिक्त पश्चिमी तट पर भी कुछ स्थल फ्रांस (सेनीगल, गेबून तथा आइवरी कोस्ट), इंगलैण्ड (गाम्बिया, सियरा लिओन, गोल्ड कोस्ट, लेगास तथा नाईजर नदी का मुहाना), पुर्तगाल (पोर्तुगीज) तथा दो एक द्वीप और स्पेन (रायो डी ओरो तथा स्पेनिश गिनी) के अधिकार में थे।

अफ्रीका की खोज—अफ्रीका के अन्धकार पूर्ण भू खण्ड का पता लगाने का काम किसी यूरोपीय सरकार का नहीं था। यह खोज यूरोप के उन 'धार्मिक परोपकारियों' का काम था जो 'पथ भ्रष्ट' अफ्रीकियों को 'सुमार्ग' दिखलाने के लिये उत्सुक थे। इन 'जगतहितैषियों' में डॉक्टर डेविन लिविंस्टोन नामक एक स्काट धर्म-प्रचारक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लिविंस्टोन पांच वर्ष तक मध्य अफ्रीका के विविध प्रदेशों में घूमता रहा था। जब उसने अपनी अफ्रीका यात्रा का वृतान्त प्रकाशित कराया तो सम्पूर्ण यूरोप में अन्ध महाद्वीप के प्रति आकर्षण जाग उठा। यूरोपवासी इस विशाल और अद्भूत भू खण्ड में प्रवेश के लिये लालायित हो उठे। इसके बाद के अफ्रीका का इतिहास केवल दुःख और

दर्द की कहानी है। यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्र अफ्रीका के भू-भागों पर गिद्ध की तरह टूट पड़े। उनके मध्य अफ्रीका की छीना-झपटी होने लगी। अफ्रीका की लूट में अपना अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध होने लगे। जो अफ्रीका 19वीं शताब्दी के तीन दशक तक अज्ञात था। 1890 ई. तक यूरोप के सभ्य देश असभ्य किन्तु सोने की खान वाले अफ्रीका के टुकड़े टुकड़े करने उतावले हो उठे। साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम और शोषण-नीति के कारण फ्रांस की राज्य क्रांति से चोट खाकर भी नहीं सम्भलने वाले यूरोप के देश प्राचीन साम्राज्यवाद (वाणिज्यवाद पर आधारित) के स्थान पर नवीन साम्राज्यवाद (पूंजीवाद पर आधारित) को पनपाने अफ्रीकी उपनिवेशों पर टूट पड़े।

अफ्रीका की लूट—अफ्रीका में बलात् प्रवेश करने का प्रथम प्रयास बेल्जियम के शासक द्वितीय लियोपाल्ड ने किया। वह लिविंगस्टन तथा स्टेनली की यात्राओं के वृतान्त सुन चुका था। 1876 ई. में अफ्रीका के अज्ञात प्रदेशों का पता लगाने के उद्देश्य से उसने ब्रुसेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक सम्मेलन आमन्त्रित किया। इस सम्मेलन द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकी सभा स्थापित की गई। प्रत्येक देश में इस सभा की शाखाएं खोलने का प्रस्ताव भी पारित किया गया। किन्तु शीघ्र ही इस सभा का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप खत्म हो गया और प्रत्येक शाखा अपने अपने राष्ट्र के लिये अफ्रीका में प्रदेश प्राप्त करने का यत्न करने लगी। 1878 ई. में स्टेनली अफ्रीका में घूम कर यूरोप पहुंचा तो बेल्जियम के शासक के दो प्रतिनिधि स्टेनली से मिले जिन्होंने उसे पुनः अफ्रीका लौटने का अनुरोध किया। स्टेनली एक अंग्रेज नागरिक था अतः वह चाहता था कि उसकी खोजों का लाभ ब्रिटेन को मिले। परन्तु तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब उसने निराश होकर लियोपाल्ड से बातचीत की और कुछ लोगों को साथ लेकर पुनः अफ्रीका के लिये चल दिया। अफ्रीका पहुंच कर उसने कांगो प्रदेश के नीग्रो सरदारों को डरा-धमका कर अपने को यूरोपीयों को सौंप देने के लिये विवश किया। 1882 ई. तक स्टेनली ने अफ्रीका का विस्तृत प्रदेश हस्तगत करने लगभग चार सौ सन्धियां की।

ब्रिटेन और पुर्तगाल ने लियोपाल्ड द्वारा स्थापित 'कांगो फ्री स्टेट' का विरोध किया। यह स्टेट बेल्जियम के शासक ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में घोषित की थी। पुर्तगाल ने तो कांगो के विशाल प्रदेश पर अपना दावा करके उस पर अधिकार कर लिया था फिर भी लियोपाल्ड के अधीन बहुत सा क्षेत्र था। इन्हीं दिनों अनेक यूरोपीय राज्यों के दूत मध्य अफ्रीका में नीग्रो सरदारों से सन्धियां कर बड़े-बड़े प्रदेश हस्तगत कर रहे थे। इस प्रकार यूरोप के विभिन्न राज्यों का प्रभाव क्षेत्र इन सन्धियों से ही निर्धारित हो रहा था न कि युद्ध या

विवादों से। लियोपाल्ड और पुर्तगाल की उल्लेखित कार्यवाईयों से ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मन में काफी मनमुटाव भी पैदा हुआ और शनैः शनैः स्थिति जटिल होने लगी। इसको सुलझाने और अफ्रीका के मैत्रीपूर्ण बंटवारे के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने लगा।

बर्लिन सम्मेलन (1884–85 ई.)—बर्लिन सम्मेलन में स्विट्जरलैण्ड को छोड़कर सभी यूरोपीय राज्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका शामिल हुए। तीन माह के वार्तालाप के पश्चात् एक नियम तैयार हुआ और उस पर सभी राज्यों के हस्ताक्षर हुए। इस सम्मेलन के सम्मुख तीन प्रश्न थे—कांगो प्रदेश तथा नाइजर प्रदेश के विषय में निर्णय करना तथा उन शर्तों का निर्धारण करना जिनके अनुसार भविष्य में अन्य प्रदेशों पर उचित रीति से अधिकार किया जा सके।

सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकी सभा का कांगो नदी के प्रवाह-प्रदेश पर उसे फ्री-स्टेट का नाम देकर अधिकार स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उस प्रदेश का व्यापार सब राष्ट्रों के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया गया और कांगो नदी के यातायात पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन का नियन्त्रण स्थापित किया गया। नाइजर नदी के प्रदेशों के लिये भी वैसी ही व्यवस्था की गई। उस पर इंगलैंड और फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया और नदी के यातायात के नियन्त्रण में इंगलैंड को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हुए। तीसरी समस्या के विषय में यह निश्चय किया गया कि किसी प्रदेश पर सत्ता का अधिकार तभी स्वीकार किया जायेगा जबकि उस पर उसका वास्तविक अधिकार होगा (केवल नाममात्र का नहीं) और इसके साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि उस प्रदेश को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने से पूर्व वह राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को उसकी सूचना देगा।

अफ्रीका का बंटवारा—बर्लिन सम्मेलन में कांगो का प्रदेश के नाम के लिये अन्तर्राष्ट्रीय राज्य था क्योंकि 1908 ई. तक लियोपाल्ड ने इसे व्यक्तिगत राज्य बनाये रखा। जब व्यापारियों द्वारा अफ्रीकियों पर किये जाने वाले भयंकर अत्याचारों की सर्वत्र शिकायतें होने लगी तो लियोपाल्ड ने अपना राज्य बेल्जियम की सरकार को सौंप दिया। इस प्रकार कांगो फ्री स्टेट का प्रदेश जो कि बेल्जियम के क्षेत्रफल से दस गुना बड़ा था और रबर की दृष्टि से कांगो का प्रदेश सर्वोत्तम भाग था, बेल्जियम का एक उपनिवेश बन गया। जैसाकि उल्लेखित किया जा चुका है कि पुर्तगाल ने कांगो प्रदेश के दक्षिण स्थित अंगोला के विस्तृत भू भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इटली की आंखें भी अफ्रीका की ओर थी यद्यपि वह साम्राज्यवादी दौड़ में बहुत पीछे सम्मिलित हुआ था। इटली के ठीक सामने भू-मध्यसागर के पार ट्यूनिस का प्रदेश था। इटली इसको हड़पना चाहता था किन्तु फ्रांस भी इसी चिन्ता में था। अन्त में 1882 ई. में फ्रांस ने ट्यूनिस

पर अधिकार कर लिया। इटली के साम्राज्यवादी शासक फिर भी निराश नहीं हुए। अफ्रीका एक विशाल द्वीप था और उसके बहुत से भू-भाग अभी भी साम्राज्यवाद से अछूते थे। 1885 ई. में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया किन्तु वहां उसे असफल होना पड़ा। आखिर 1893 ई. में उसने इरीट्रिया और सोमालीलैण्ड पर अपना अधिकार कर लिया। 1911 ई. में ट्रिपोली का प्रदेश भी इटली के कब्जे में आ गया। स्पेन को भी इस होड़ में अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। 1884 ई. में बिस्मार्क ने भी जर्मनी के लिये औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने का निर्णय लिया। परिणामस्वरूप केमरून, टोगोलैंड, दक्षिणी-अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका का भू-भागों पर जर्मन ने आधिपत्य स्थापित किया।

अफ्रीका की लूट में फ्रांस और ब्रिटेन को सर्वाधिक लाभ हुआ। 1830 ई. में अलजीरिया पर बलात अधिकार के पृष्ठ में एक घटना का उदाहरण दिया जाता है कि अलजीरिया के सुल्तान ने गुस्से में आकर फ्रांस के एक राजदूत को तमाचा जड़ दिया। फ्रांस ने इस राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने अलजीरिया पर एक सेना भेजी जिसने बड़ी सुगमता से वहां फ्रांस का शासन स्थापित कर दिया। ट्यूनिस पर (1882 ई.) अधिकार ने इटली को रूष्ट कर दिया और फ्रांस के विरुद्ध बिस्मार्क के गुट में शामिल हो गया। 1637 ई. से ही सेनेगल नामक प्रदेश फ्रांस के अधीन था जब 1830 ई. में अलजीरिया अधिकृत हो गया तो फ्रांस के साम्राज्यवादी सोचने लगे कि सेनेगल अलजीरिया के मध्य स्थित सभी अफ्रीकी प्रदेशों पर फ्रांस का अधिकार, अफ्रीका में विशाल फ्रांसीसी साम्राज्य की योजना कर सकता है। अतः 1894 ई. में तिम्बुकट नामक प्रदेश को अधिकृत कर 1895 ई. में फ्रांस ने मैडेगास्कर के सुविशाल द्वीप पर अपना झण्डा फहराया। 1912 ई. आते-आते मोरक्को भी फ्रांस के अधिकार में आ गया।

ब्रिटेन को यद्यपि अफ्रीका में अधिक हिस्सा मिला किन्तु उसको वहां कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। उसे दक्षिण अफ्रीका में डच किसान 'बोअरों' से तथा उत्तर में फ्रांस से विरोध सहना पड़ा। 1837 ई., 1899-1902 ई. के बोअर युद्ध 1897 ई. का फसोदा काण्ड इसी का परिणाम थे। इन सब घटनाओं के होते हुए भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी चाहते थे कि केप कोलनी से लेकर काहिरा (मिश्र) तक उनका साम्राज्य फैले। उनका यह स्वपन अन्ततः पूरा भी हुआ। आज भी उनके उपनिवेश (दक्षिणी अफ्रीका संघ और नामीबिया) अफ्रीका में स्थित हैं।

प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918 ई.) के पूर्व तक अफ्रीका में इथोपिया (अबीसीनिया) तथा लाइबीरिया ही स्वतन्त्र राज्य थे। 1904 ई. के फ्रांस इंगलैण्ड समझौते में मिश्र और सूडान में ब्रिटेन तथा मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव

क्षेत्र मान लिया गया। किन्तु मोरक्को में जर्मन के भी हित थे और वह इस व्यवस्था से नाखुश था। फलस्वरूप 1905–06 ई. में मोरक्को-काण्ड नामक एक ववंडर खड़ा हो गया। इस काण्ड को सुलझाने 1906 ई. का अलजिसरास सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें मोरक्को को राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र माना गया और आर्थिक दृष्टि से 'उन्मुक्त द्वार' की नीति को लागू किया गया। मोरक्को में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने के लिये फ्रांस और स्पेन को पुलिस सेना का प्रबन्ध दिया गया। इस निर्णय से न तो फ्रांस और न जर्मन ही प्रसन्न था। मोरक्कों में फ्रांस-विरोधी आन्दोलन जड़ पकड़ रहा था। इस प्रकार अफ्रीकन देशों में राष्ट्रवाद की प्रथम जाग्रति मोरक्को से प्रारम्भ हुई थी।

अफ्रीका में विदेशी प्रभुत्व का विरोध—मोरक्को में फ्रांस का विरोध इतना प्रबल था कि दिन-दहाड़े फ्रांसीसी कर्मचारियों की हत्या एक साधारण बात हो गई थी। 1907 ई. में टैंजीयर में एक फ्रांसीसी अफसर की गोली मारकर हत्या और मारकेश में फ्रांसीसी डाक्टर की हत्या के फलतः फ्रांस ने मोरक्कों के उजदा नामक नगर पर क्षतिपूर्ति नहीं करने तक के लिये अधिकार कर लिया। इसी वर्ष कैसाब्लैंका के बन्दरगाह के निर्माण कार्य में लगे हुए कुछ फ्रांसीसी नाविकों को भी मार डाला गया। इसके विरोध में भी फ्रांस ने आस-पास के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इस तरह फ्रांस शांति और व्यवस्था को कायम करने के नाम पर मोरक्को पर शिकंजा दिन प्रतिदिन दृढ़ करता जा रहा था। 1911 ई. में फेज में एक बड़ा विद्रोह हुआ। इस विद्रोह को दबाने के नाम पर फ्रांस से एक सेना भेजी गई जिसने फेज पर अधिकार करने के साथ-साथ मारक्कों में फ्रांस का सैनिक शासन स्थापित कर दिया। मोरक्को का सुलतान मुलाई हाफिज फ्रांस के इशारे पर चलने वाला कठपुतली शासक था। इस कार्यवाही ने अन्य साम्राज्यवादी जर्मन को भड़का दिया और वह मोरक्को में अपने स्वार्थों की सुरक्षा हेतु इसके विभाजन की मांग करने लगा। परिणामस्वरूप 'अगादीर-संकट' खड़ा हुआ और इसका हल मोरक्को में फ्रांस की स्वच्छन्दता के औचित्य स्वीकार (1912 ई. की फेज की सन्धि) करते हुए मोरक्को पर फ्रांस की संरक्षणता को मान लिया गया। इससे जर्मन के फ्रांसीसी कांगो का दावा दबा दिया गया। समस्या का समाधान प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन पराजय एवं उसके अफ्रीकी प्रदेशों पर यूरोप के विभिन्न राज्यों का आधीपत्य स्थापित कर दिया गया।

पेरिस के शान्ति-समझौते में अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने यूरोप की इस लूट-खसोट का विरोध किया। वह चाहता था कि जर्मन उपनिवेशों पर राष्ट्रसंघ की संरक्षणता कायम हो और उनके भाग्य का निर्णय वहां के निवासियों की सम्मति के अनुसार किया जाय। पर विलसन के सिद्धांत की अनदेखी कर फ्रांस और ब्रिटेन ने अपना-अपना संरक्षण स्थापित कर दिया। कहने को यह प्रदेश राष्ट्रसंघ की

संरक्षणता में थे किन्तु यथार्थ में इन पर साम्राज्यवादी संरक्षण था। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् संरक्षण पद्धति (Man date System) साम्राज्यवाद के नग्न रूप को छिपाने के लिए एक अच्छा आवरण बन गई। राष्ट्रसंघ की निर्बलता, जर्मन की उग्र राष्ट्रीयता एवं इटली की भूख ने जहां जापान को एशिया में मंचूरिया हड़पने (1931 ई.) प्रेरित किया वहां इटली को 1936 ई. में अबीसीनिया पर अधिकार करने के लिये उकसाया। इस तरह द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक अफ्रीकी महाद्वीप यूरोप की तानाशाही में पिसता रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–45 ई.) में धुरी राष्ट्रों (इटली, जर्मन और जापान) ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में अफ्रीकी उपनिवेशों को मित्र राष्ट्रों के अधिकार को समाप्त कर अपने अधिकार को स्थापित करने के लिये 1940 ई. से 1943 ई. तक भूमध्य-सागर और उत्तरी अफ्रीका के युद्ध लड़े गये। इस युद्ध में फ्रांस और ब्रिटेन के साथ अमेरिका भी सम्मिलित था। जनरल आइजन-हॉवर, जनरल अलेक्जेन्डर तथा जनरल मोन्टगोमरी के नेतृत्व में धुरी राष्ट्र (जर्मन एवं इटली) को अफ्रीका में परास्त कर फ्रांस और इंगलैण्ड के उपनिवेश-साम्राज्य को सुरक्षित रखा।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् —इटली के अधीन उपनिवेशों में अबीसीनिया तथा अन्य प्रदेशों में लाइबीरिया के साथ-साथ दक्षिण अफ्रीका के संघ और मिश्र को द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। किन्तु मिश्र में 1936 ई. के अनुसार ब्रिटिश सेनाएं विद्यमान रही वहां दक्षिण अफ्रीका का संघ गोरी सरकार के नेतृत्व मे स्वतन्त्र किया जो कि नीग्रो राष्ट्रीयता के विरोध में आज भी विश्व में उपनिवेश का प्रतीक है। फिर भी 6 जनवरी 1941 ई. को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की स्वतन्त्रता की घोषणा (भाषण स्वतन्त्रता, उपासना स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता तथा भय से स्वतन्त्रता) के फलतः 14 अगस्त 1941 ई. को एटलाण्टिक-चार्टर का निर्माण हुआ। इस चार्टर में रूजवेल्ट तथा इंगलैंड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने मित्र राष्ट्रों का विश्व युद्ध में सम्मिलित होकर लड़ने का कारण 'विश्व स्वतन्त्रता' को बतलाया। चार्टर की विज्ञप्ति में स्पष्ट किया गया कि युद्ध के उपरान्त एक ऐसे विश्व का निर्माण किया जायेगा जिसमें छोटे-बड़े राष्ट्र अपने राज्यों की सीमाएं एवं स्वतन्त्रता सुरक्षित रख सकेगें। इस घोषणा ने एशिया और अफ्रीकी देशों को आशा की एक किरण दिखलाई कि द्वितीय विश्व युद्ध पश्चात् संभवतः साम्राज्यवादी देश उन्हें मुक्त कर दें किन्तु ऐसा हुआ नहीं फलतः एशिया में स्वतन्त्रता आन्दोलन उग्र हुए। उन्होंने अपनी मुक्ति की मांग के साथ-साथ विश्व मचों पर अफ्रीका में यूरोपियों के व्यवहारों की आलोचना भी प्रारम्भ कर दी।

यूरोप के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप अफ्रीका में स्वास्थ्य, शिक्षा, उन्नत परिवहन और सचार व्यवस्था, कृषि तथा उद्योगों के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धतियों का श्रीगणेश प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हो चुका था। इससे अफ्रीका में नये-नये रोजगारों का विकास हुआ, अफ्रीकन लोगों में पाश्चात्य ज्ञान, प्रशासन, रहन-सहन तथा धर्म का प्रसार हुआ, नरभक्षण, दास व्यापार आदि बुराईयां दूर हुई और अफ्रीका सभ्यता की दृष्टि से यूरोप का अनुगामी होता गया। यूरोप के आर्थिक शोषण ने सभ्य और पढ़े-लिखे अफ्रीकन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को जगाया और शनैः शनैः अफ्रीकन देशों में राष्ट्रवादी जागृति के फलतः क्रान्तियां होने लगी।

अफ्रीका में राष्ट्रवाद—उदय के कारण—जैसा कि उपरोक्त उल्लेखित किया गया है कि साम्राज्यवादी देशों के व्यवहारों ने अफ्रीका में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव कर दिया था। इसीलिये द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अफ्रीका मे "अफ्रीका अफ्रीकावालों के लिये" नारा उठने लगा। इस नारे को अधिक से अधिक पुष्ट बनाने का कार्य एशिया के स्वतन्त्रता प्राप्त देशों ने किया। यद्यपि अफ्रीका को स्वतन्त्रता के लिये उतने प्रयत्न नहीं करने पड़े जितने कि एशियन राष्ट्रों को, इसीलिये कहा भी जाता है कि अफ्रीका में साम्राज्यवाद शीघ्र फैला तो शीघ्र ढह भी गया। इसी सन्दर्भ में अफ्रीकन राष्ट्रवाद के विकास के कारणों का विवेचन निम्न बिन्दुओं में किया जा सकता है—

(1) यूरोप के ईसाई धर्म प्रचारकों ने नीग्रों लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया वहां उनके ज्ञान विकास के लिये पाठशालाएं स्वास्थ्य सुधार हेतु चिकित्सालय और ग्राम प्रवन्ध हेतु स्थानीय सस्थाएं स्थापित कर असभ्य कबाईली जातियों को सभ्य समाज के निर्माण पर खड़ा कर दिया। इस जागृति ने अफ्रीकन लोगों में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक चेतना का विकास किया। परन्तु सभी धर्म प्रचारक साधु स्वभाव के नहीं थे। साम्राज्यवादी समर्थक धर्म-प्रचारकों ने अफ्रीकनों के साथ कठोर और निर्मम व्यवहार भी किया। फलस्वरूप अफ्रीका के निवासी इन प्रचारकों के प्रति चिड़चिड़े और संशयालु होने लगे। उन्होंने ईसाई धर्म और प्रचारकों के विरुद्ध कई बार विद्रोह किया और इन्हें दबाने के लिए विदेशी सरकारों ने गोली का सहारा लिया। इससे अफ्रीका के देशों में श्वेत विरोधी सस्थाएं गठित होने लगी और इनके माध्यम से अफ्रीकन राष्ट्रवाद प्रबल बनने लगा।

(2) यूरोप के राष्ट्रों ने अफ्रीकन उपनिवेशों में अपने शासन को चलाने हेतु राजनीतिक संस्थाएं स्थापित की। अपने विचारों को स्थापित करने के लिए पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार किया। स्थानीय शासन संचालन के लिए स्थानीय लोगों को प्रशिक्षण दिया। उच्च शिक्षा और विशेष प्रशिक्षण के लिए अफ्रीकन लोगों को यूरोप में भेजा। इस प्रकार अफ्रीका के लोग पश्चिमी लोकतन्त्र शासन प्रणाली से प्रभावित

होकर स्वशासन की कल्पना करने लगे। शिक्षित युवकों और प्रशासन में लगे हुए देशभक्त लोगों की राष्ट्रीय भावना ने अफ्रीका में राष्ट्रवाद को प्रेरित करना प्रारम्भ किया।

(3) यूरोप के लोग काली चमड़ी वाले हब्शी लोगों को सदैव असभ्य मानते रहे वहां स्वयं को विश्व में सभ्यतम। इस भावना के कारण यूरोप के लोग अफ्रीका में नित्य ही अपमान व्यवहार प्रदर्शित करते रहे। पश्चिमी देशों के पुरुषों को, स्त्रियों को, बच्चों को अफ्रीका के स्त्री-पुरुष और बच्चों के मुकाबले अधिक अधिकार, विशेष सुविधा और अलग आवास प्राप्त थे। इस दृष्टि से अफ्रीका के लोग सोचने लगे कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक असमानता हमारी दासता का प्रमाण है। दासता के प्रति लोगों का क्रोध अफ्रीका में राष्ट्रवाद की प्रगति का निमित बन गया।

(4) यूरोप के साम्राज्यवाद ने अफ्रीका की चेतना को जगाया वहां यूरोप के उग्र राष्ट्रवादियों (जर्मन और इटली) ने अफ्रीका की राष्ट्रवादी चेतना का विकास किया। प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध में यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के पारस्परिक संघर्ष ने अफ्रीकन राष्ट्रवाद को मजबूत कर दिया। अफ्रीका के लोगों ने उग्र राष्ट्रवादी शक्तियों का पतन और साम्राज्यवादी शक्तियों की निर्बलता का आकलन द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कर लिया था फिर इनके थोथे नारे कि हम युद्ध मानव स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं आदि अफ्रीकन लोगों में नवीन जागृति के प्रेरणा स्रोत बन गये।

(5) अफ्रीका के मूल निवासियों ने श्वेत लोगों के अत्याचारों के विरुद्ध गुप्त संगठन गठित कर रक्तिम क्रांति का सूत्र पात कर दिया था। माऊ-माऊ संगठन इसी प्रकार का प्रभावशाली संगठन था। यह संगठन 1950 ई. से 1956 ई. तक कार्य करता रहा था। इस काल में हजारों की संख्या में गोरे स्त्री-पुरुष और बच्चों को निर्मलता से मौत के घाट उतारा गया। इसी प्रकार गोरी सरकार द्वारा भी इस सगठन के सदस्यों को गोली से भूना गया, फांसी पर लटकाया गया और आजीवन कारावास दिया गया। यद्यपि 1956 ई. में यह संगठन दबा दिया गया फिर भी इसने अफ्रीकन लोगों में क्रान्तिकारी भावना, श्वेतों के प्रति घृणा और देश भक्तों के प्रति आदर को जगा दिया।

(6) रूस की बोलशेविक क्रान्ति (1917 ई.) के पश्चात रूस की सरकार ने विश्व में समाजवाद स्थापित करने उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का समर्थन करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप अफ्रीका में भी इस नवीन क्रान्ति के प्रति आकर्षण उठने लगा इस स्थिति ने भी पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों को सचेत कर दिया कि उपनिवेशवाद को स्थायी रखने का अर्थ होगा रूस समर्थित विश्व का निर्माण करना।

अत: अमेरिका के प्रयत्नों और अफ्रीका के प्रति राजनीतिक सद्भाव ने अफ्रीका के उपनिवेशों को स्वतन्त्रता की ओर धकेलना प्रारम्भ किया।

(7) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात संयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षणता में रखे गये अफ्रीकन प्रदेशों को जब संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वायतत्ता प्रदान कर दी तो अन्य अफ्रीकन देशों ने इससे प्रेरित होकर अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1960 ई. में उपनिवेशवादी शासन की निन्दा का प्रस्ताव पारित करते हुए औपनिवेशिक राज्यों तथा उसकी जनता को स्वतन्त्रता दिलाने की घोषणा भी की। इसके साथ-साथ साम्राज्यवादी देशों से इस निर्णय को लागू करने की अपील के साथ विश्व जनमत को जागृत करने विभिन्न मंचों से साम्राज्यवाद की कटु आलोचना और हस्तक्षेप भी किया।

(8) 18 अप्रेल 1955 ई. को बान्डुग सम्मेलन में अफ्रीका और एशियाई देशों में एकता स्थापित करने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित (फिलीस्तीन संदर्भ का) प्रस्ताव का समर्थन किया गया। अफ्रीका मे व्याप्त जातिवाद की निन्दा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के उपनिवेशवाद का विरोध किया गया और मोरक्को, अलजीरिया, एवं ट्यूनीसिया के लोगों के अधिकारों का समर्थन किया गया। इस प्रकार इस सम्मेलन के प्रस्तावों ने स्पष्ट कर दिया कि एशिया और अफ्रीका हित एक हैं और पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरोध में वे एक हैं। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक कार्यवाहियों ने भी अफ्रीका की स्वतन्त्रता को प्रज्वलित किया।

(9) 1951 ई में इटली द्वारा लीबीया को स्वाधीन करना अन्य अफ्रीका के देशों के लिए जहां लीबीया स्वतन्त्रता का प्रकाश बन गया वहां इंगलैण्ड और फ्रांस के लिए गले का फन्दा। 1957 ई. में विवश होकर इंगलैण्ड को गोल्ड कोस्ट को स्वतन्त्र करना पड़ा। मुक्त होने के पश्चात यह घाना कहलाया। इस प्रकार लीबीया की स्वतन्त्रता ने अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र किया वहा घाना की स्वतन्त्रता के पश्चात तीन वर्षों में आधा अफ्रीका स्वतन्त्र होना इसका प्रमाण है कि घाना ने आन्दोलन को तीव्रत्तर बनाया था।

(10) 1961 ई. में अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी की अफ्रीका के प्रति नवीन नीति ने भी विश्व के साम्राज्यवादियों की आंखे खोल दी। कैनेडी ने नीति स्पष्ट करते हुए कहा था कि अमेरिका हृदय से स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष कर रहे लोगों के साथ सहानुभूति रखता है। अमेरिका के इस आश्वासन का परिणाम था कि अफ्रीका में राष्ट्रवाद उत्तरोत्तर विकसित होता गया और 1980 ई. तक 47 देश अफ्रीका में स्वतन्त्र हो गये हैं।

(11) तटस्थ राष्ट्रों की अफ्रीकन नीति भी अफ्रीका में राष्ट्रवादी भावना की पोषक रही है। अफ्रीकन देश भक्तों को कैद से छुड़ाने, अफ्रीकन लोगों के प्रति गोरी सरकार के दमन का विरोध, गोरी सरकार के निरंकुश शासन को विश्व के प्रत्येक क्षेत्र से बहिष्कार करने की नीति, राष्ट्रवादी देशभक्तों को विश्व मंच पर प्रतिस्थापित करने की कार्यवाही आदि इसके उदाहरण हैं। अतः इन कारणों ने अफ्रीका में राष्ट्रवादी जागृति को उत्पन्न किया और आज अफ्रीका का विस्तृत भू-भाग आजाद है।

राष्ट्रवादी जाग्रति के परिणाम—अफ्रीका की राष्ट्रवादी जागृति के फलस्वरूप अफ्रीका में एक-एक कर चार स्वतन्त्र लहरें उत्पन्न हुई। प्रथम लहर में अलजीरिया को छोड़ कर शेष उत्तरी अफ्रीका से साम्राज्यवाद का अन्त हो गया। इस चरण में स्वतन्त्र होने वाले देशों में लीबीया (नवम्बर 1951 ई.), इरिट्रिया (सितम्बर 1952 ई.), सूडान (जनवरी 1956 ई.) मोरक्को फ्रांसीसी (मार्च 1956 ई.) और टयूनीसिया (मार्च 1956 ई.) थे। ये सभी अरब देश हैं जहां के निवासी श्वेत चमड़ी के हैं। स्वतन्त्रता का दूसरा चरण काले लोगों से आबाद मूल अफ्रीकी स्वाधीनता का था। सर्व प्रथम इंगलैण्ड के उपनिवेश घाना की स्वाधीनता (मार्च 1957 ई.) के साथ फ्रांसीसी आधिपत्य से गिनी की मुक्ति (अक्टूबर 1958 ई.) हुई। तीसरी लहर 1960 ई. में आई जिसका प्रभाव 1966 ई. तक रहा। इस चरण में स्वतन्त्र होने वाले निम्न देश थे—

(1) कैमरून (जनवरी 1960 ई.), (2) स्पेनीश-मोरक्को (अप्रैल 1960 ई.), (3) टोंगो (अप्रैल 1960 ई.), (4) माली संघ (जुलाई 1960 ई.), (5) कांगोली गणराज्य (जुलाई 1960 ई.), (6) सोमालिया (जुलाई 1960 ई.), (7) मालागासी गणराज्य (जुलाई 1960 ई.), (8) छाड (अगस्त 1960 ई.), (9) नाइजर (अगस्त 1960 ई.), (10) आइवरी कोस्ट (अगस्त 1960 ई.), (11) वोल्टाई गणराज्य (अगस्त 1960 ई.), (12) दहोमी (अगस्त 1960 ई.), (13) गेबन (अगस्त 1960 ई.), (14) टोगो (अगस्त 1960 ई.), (15) कांगो गणराज्य (अगस्त 1960 ई.), (16) मध्यवर्ती अफ्रीका (अगस्त 1960 ई.), (17) नाइजीरिया (अक्टूबर 1960 ई.), (18) मारीतेनिया (नवम्बर 1960 ई.), (19) सियरालियोन (अप्रैल 1961 ई.), (20) रूआन्डा उरानी (जुलाई 1962 ई.), (21) अल्जीरिया (सितम्बर 1962 ई.), (22) युगान्डा (अक्टूबर 1962 ई.), (23) टांगानिका (दिसम्बर 1962 ई.), (24) केनिया (दिसम्बर 1962 ई.), (25) जंजीबार (दिसम्बर 1963 ई.), (26) मलावी (जुलाई 1964 ई.), (27 जैम्बिया (फरवरी 1965 ई.), (28) गेम्बिया (अक्टूबर 1964 ई.), (29) गियान (मई 1966 ई.), (30) बोत्स्वाना

(सितम्बर 1966 ई.), (31) लैसेथो (अक्टूबर 1966 ई.), (32) बारबाडोस (नवम्बर 1966 ई), और (33) मारिश (मार्च 1968 ई.) हुई स्वतन्त्रता का चौथा चरण 1947 ई की पुर्तगाल में क्रान्ति द्वारा प्रारम्भ हुआ । फलत: पुर्तगाल के नये शासन ने अफ्रीकी उपनिवेश को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी । फलत: गिनी बिसाउ (अगस्त 1974 ई .), मोजाम्बिक (जून 1975), केपवर्दे (जुलाई 1975 ई.), और अंगोला (नवम्बर 1975 ई.), को स्वतन्त्र हुए । इसी क्रम में कोमोरी द्वीप समूह (जुलाई 1975 ई.), जिबूटी (जून 1977 ई.), तथा जिम्बाव्वे (अप्रेल 1980 ई,) भी इंगलैण्ड आदि द्वारा स्वतन्त्र किये गये ।

उपरोक्त देशों में अधिकतर देश स्वतन्त्र होने के पश्चात भी अपने ही देश के तानाशाहों से दवे हुए हैं । इस प्रकार नागरिक स्वतन्त्रता के लिए मांग करने वाले अफ्रीकन लोग यद्यपि राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित अन्य देशों के समर्थन, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास अथवा साम्राज्यवादियों के आर्थिक संकट के परिणाम स्वरूप स्वतन्त्र हो गये किन्तु उनमें प्रजातन्त्र की चेतना का विकास अभी तक नहीं हो पाया है। इसके अभाव का परिणाम है कि कई देशों में स्वतन्त्र होने के पश्चात गृह युद्ध छिड़ गया और वहां सैनिक शासन स्थापित हो गया । इतिहास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सैनिक तानाशाही सदैव स्वेच्छाचारी शासन को स्थापित करते हुए व्यक्तिगत शासन में परिवर्तित हो जाती है जो कि स्वदेशी-दमन वाद का द्योतक है । इस रूप में विदेशी सत्ता और स्वदेशी सत्ता का लक्ष्य एक ही स्वरूप में दिखलाई देने लगता है ।

अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्रों के अनेक तानाशाह इसके उदाहरण हैं कि उनका उग्र राष्ट्रवाद, विश्व बन्धुतता और पारस्परिक सौहार्दता के स्थान पर कूपमण्डूकता और पारस्परिक संघर्ष का प्रतीक बन कर तानाशाही का साम्राज्य स्थापित कर रहा है ।

यद्यपि कई देश अफ्रीका के राष्ट्र प्रजातन्त्र के द्वारा अपने राष्ट्रों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति में संलग्न है तो कई विश्व के दो गुटों में से एक का पल्ला पकड़ कर प्रतिस्पर्धा में उलझे हुए संघर्ष रत है । यदि यह संघर्ष राष्ट्रवादी भावना से प्रेरित निर्माण के लिए होता तो अधिक श्रेयष्कर था किन्तु यह स्वार्थवादी भावना से प्रेरित विनाश के लिए युद्धों में उलझा हुआ है ।

11

तुर्की का आधुनिकरण

भौगोलिक दृष्टि से तुर्की पश्चिम एशिया में एशिया और यूरोप के संगम पर स्थित है। पश्चिमी देशों में इसीलिए यह एशिया के प्रवेश-द्वार के नाम से जाना जाता है। तुर्की के उत्तर में काला सागर, पश्चिमी में ईजियन सागर तथा दक्षिण में भू मध्यसागर है। तुर्की का 96% भाग एशिया में तथा 4% भाग यूरोप मे हैं। इन दोनों भागों को बासफोरस और डारडनेलीन के जल डमरूमध्य अलग करते हैं। तुर्की तीन ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है। इसके पठारों से कई नदियां निकल कर खाड़ियों में गिरती है। तुर्की में कई उपयोगी बन्दरगाह हैं। यहां कृषि योग्य उपजाऊ मैदान भी है।

तुर्की का आधुनिक प्रदेश अनेक साम्राज्यों का अंग रहा है। प्राचीन काल में इसे अनातोलिया कहा जाता था। ताम्र-कांस्य काल में यह मिश्र, बैबीलोनिया और हित्ती सभ्यताओं के अधीन रहा था। यूनानी सभ्यता के अन्तर्गत इसे फैरीजिया तथा रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् उसके पूर्वी भाग के रूप में इसे बाइजनटाइन कहा गया था। यूनानी युग में यहां अनेक युद्ध हुए थे। ट्राय का प्रसिद्ध नगर भी यहीं था। सिकन्दर ने सबसे प्रथम इसी प्रदेश पर अधिकार किया था। 7वीं ई. में तुर्की प्रदेश अरब साम्राज्य का अंग था। 13वीं शताब्दी में अरब साम्राज्य के पतन तक इस पर अरब संस्कृति, इस्लाम और अरबी भाषा का रंग चढ़ चुका था। 11वीं शताब्दी में सल्जुक तुर्कों ने बाइजनटाइन के एक प्रदेश अनातोलिया (आधुनिक तुर्की) पर अधिकार कर लिया था। अतः इन्हीं के नाम पर यह टर्की कहलाया। 1250 ई. तक तुर्क लोगों ने बगदाद पर अधिकार कर लिया था। इसके पश्चात् भारत से ईजियन सागर तक तुर्कों ने विजय-अभियान किये। 1453 ई. में तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर उसे अपनी राजधानी बनाया। यहां से उन्होंने बालकन प्रदेश पर अधिकार करते हुए आस्ट्रिया की सीमा तक अपना साम्राज्य स्थापित कर दिया। इस साम्राज्य में इराक, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका, मिश्र, लीबिया और मोरक्को भी सम्मिलित थे। उस्मान नामक व्यक्ति इस

'ओटोमान साम्राज्य' का संस्थापक था। सुल्तान सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् उस्मानिया वंश का पतन प्रारम्भ होने लगा था।

तुर्की साम्राज्य का पतन—तुर्क-साम्राज्य के अधीन बाल्कन जातियों में राष्ट्रीयता की भावनाएं पनपने के कारण यह जातियां स्वाधीन होने का प्रयत्न करने लगी। फ्रांस की 1789 ई. की क्रान्ति से उत्पन्न स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के विचारों ने तुर्क-साम्राज्य के अधीन गैर तुर्कों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावनायें उत्पन्न कर दी। सर्वप्रथम 1804 ई. में सर्बिया ने तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 1826 ई. में तुर्की सरकार ने सर्बिया को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान करना स्वीकार कर लिया। 1829 ई. में एड्रियानोपॉल की संधि द्वारा तुर्की के सुल्तान ने यूनान को स्वशासन सम्बन्धी अनेक अधिकार प्रदान किये। 1832 ई. में यूनान को पूर्ण रूप से स्वाधीन राज्य की स्थिति प्राप्त हुई। रूस ने भी तुर्की साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाते हुए 1877–78 ई. में टर्की को पराजित कर उसे सेनस्टीफेनो की सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। 1878 ई. में बर्लिन सन्धि में रूमानिया, सर्बिया और मोन्टनीग्रो की स्वाधीनता स्वीकार कर तुर्की से मुक्ति प्रदान की गई थी। बोस्निया तथा हर्जीगोविना के प्रदेश आस्ट्रिया को दिला कर साइप्रस का द्वीप इंगलैण्ड को सौंपा गया। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के अन्त तक पश्चिमी एशिया और बाल्कन प्रदेश के कुछ भाग में ही तुर्की साम्राज्य शेष रहा था।

पतन रोकने के प्रयत्न—तुर्की साम्राज्य की पतनावस्था का दायित्व कुछ लोग उसके पिछड़ेपन में देखते थे। यह पिछड़ापन तुर्की के सुल्तानों की रूढ़िवादी व्यवस्था के कारण उत्पन्न हुआ था। अतः इस विचारधारा के लोग तुर्की में पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर आधुनिक राज्य की स्थापना करना चाहते थे। कुछ लोग बगैर परिवर्तन किए तुर्की को शक्तिशाली बनाना चाहते थे तो कुछ लोग इंगलैंड के आधार पर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना कर सुल्तान के अधिकार को प्राथमिकता प्रदान करना चाहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि तुर्की के लोग तुर्की साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए सुधार एवं परिवर्तन की आशा रखते थे किन्तु क्रियान्विति का मार्ग किसी के पास नहीं था। जो कुछ सुधार एवं परिवर्तन हुए वह सुल्तानों ने स्वार्थवश स्वीकार कर लिये थे। मिदहत पाशा के नेतृत्व में वैधानिक सुधार के समर्थकों ने सुल्तान अब्दुल हामिद द्वितीय (1876–1907 ई.) पर संविधान स्वीकृत करने का दबाव डाला था। सुल्तान ने बाल्कन राज्यों में कृषकों के विद्रोह को देखते हुए सुधारवादियों के संविधान को स्वीकृति दे दी। किन्तु तुर्की के युद्ध में पराजित (1877–78 ई.) होने पर सुल्तान ने संविधान को समाप्त कर निरंकुश शासन पुनः लागू कर दिया। इस प्रकार विभिन्न विचार-धारी तुर्की लोगों के द्वारा किए गये प्रथम प्रयत्न असफल रहे थे। फिर सुल्तान

अब्दुल हामिद की निरंकुशता के विरोध में एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो इतिहास मे "युवा तुर्क आन्दोलन" के नाम से प्रसिद्ध है।

युवा-तुर्क आन्दोलन

युवा तुर्क आन्दोलन का आरम्भ शनैः शनैः पत्रकारों, शिनाशी बे तथा कमाल बे तथा साहित्यकारों में—इब्जुजिया के नेतृत्व में हुआ था। इन्होंने पुस्तकों का तुर्की में अनुवाद कर तुर्की भाषा को प्रोत्साहित किया। पाश्चात्य जगत की उन्नति एवं विकास को इन्होंने पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से तुर्की के लोगों के सम्मुख रखने तथा तुर्की की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के लेखों द्वारा तुर्कों को जागृत करने का अभियान चला कर पाश्चात्य विकास एवं राष्ट्रीयता की भावना तुर्की में उत्पन्न की। इसके परिणामस्वरूप सुधारवादियों में पाश्चात्य अनुकरण की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वरूप को विकसित करने का एक रास्ता दिखाई देने लगा था। जब सुल्तान अब्दुल हामिद ने मिदहत पाशा के संवैधानिक सुधार के प्रयत्नों पर पानी फेरकर दमनकारी नीति आरम्भ कर दी तब नवयुवकों ने सुल्तान के शासन के विरुद्ध कागजी एवं व्यावहारिक लड़ाई आरम्भ कर दी। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत युवा तुर्कों ने शासन में आमूल परिवर्तन की मांग उठाते हुए क्रान्तिकारी मार्ग अपनाया। सुल्तान द्वारा स्थापित विद्यालय पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित युवकों के केन्द्र थे। जो सुव्यवस्था के लिए सुल्तान को हटाना चाहते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे इन युवकों के साथ सैनिक अधिकारी भी सम्मिलित हो गए। तुर्की अथवा टर्की की सेना में एक उच्च सैनिक अधिकारी मुस्तफा कमालपाशा ने भी घूम-घूम कर वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध सेना और सैनिक अधिकारियों में प्रचार किया था। 1908 ई. में युवा तुर्क आन्दोलन की सफलता में कमाल पाशा का भी हाथ था।

यद्यपि देश-विदेश में युवा तुर्क आन्दोलन के कई संगठन कार्य कर रहे थे किन्तु इनमें एकता का अभाव था। नासिक कमाल द्वारा कुस्तुनतुनिया में स्थापित "नए तुर्कों का समाज" नामक संस्था संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना में विश्वास करती थी। इसी प्रकार "इत्तिहाद-ए-उस्मानी" नामक इस्ताम्बुल की संस्था के साथ-साथ पेरिस, जेनेवा, काहिरा एवं लन्दन में भी संस्थाएं विद्यमान थीं। किन्तु इनकी पारस्परिक फूट का लाभ उठा कर इनके नेताओं को प्रलोभन प्रदान कर सुल्तान इन संगठनों की शक्ति को तोड़ता रहा था। परन्तु 1902 ई से 1906 ई. के मध्य जैसा कि उल्लेखित किया जा चुका है कि युवा-तुर्क आन्दोलन में क्रान्तिकारी लोगों और दलों के निर्माण से आन्दोलन का स्वरूप बदलने लगा। इन दलों में मुस्तफा कमाल पाशा के सहयोग से चलने वाला दल "फादरलैंड एण्ड फ्रिडम सोसायटी" मुख्य था। सैनिकों द्वारा इस दल की सदस्यता ने सशस्त्र क्रान्ति की

सम्भावना को उत्पन्न कर दिया। 1906 ई. में क्रान्तिकारी संगठन का मुख्यालय कुस्तुनतुनिया के समीप सलोनिकी में "कमेटी ऑफ यूनियन ऑफ प्रोग्रेस" के नाम से स्थापित किया गया।

इस आन्दोलन में विभिन्न विचारों के लोग केवल एक विचार को लेकर सहयोग कर रहे थे कि—निरंकुश शासक सुल्तान अब्दुल हामिद द्वितीय को सिंहासन से हटाना है। धार्मिक नेता इस्लाम के उचित संरक्षण नहीं देने के कारण वैधानिक सुधारवादी मिदहत पाशा के विधान को समाप्त करने के कारण, राष्ट्रवादी तुर्की विघटन के लिए सुल्तान को उत्तरदायी मानने के कारण, ईसाई और यहूदी लोग सुल्तान की धार्मिक संकीर्णता के कारण तथा विदेशी शक्तियां सुल्तान की इस्लामिक नीतियों के कारण सुल्तान से असंतुष्ट थी। इसलिए तुर्की के पुनरुद्धार के निश्चित किया गया कि 1909 ई में क्रान्ति के द्वारा अब्दूल हामिद को हटाया जायेगा। किन्तु यह क्रान्ति जुलाई 1908 ई. में ही प्रारम्भ हो गई। क्योंकि जून 1908 ई. में रूस और इंगलैंड के शासकों ने मिलकर तुर्की प्रदेश के मेसोडोनिया में हस्तक्षेप करने की एक योजना तैयार की थी। इसी प्रकार धुरी राष्ट्रों ने तुर्की में नई रेल लाईन बनाने के लिए तुर्की पर दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया था। अतः विदेशी हस्तक्षेप के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए मेसोडोनिया के तुर्की सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। इन क्रान्तिकारी सैनिकों को दबाने के लिए भेजे गए एक सेनानायक शमशी पाशा को भी गोली मार दी गई। इसका प्रभाव एड्रीन की सेना पर भी पड़ा। कमेटी ऑफ यूनियन ऑफ प्रोग्रेस या एकता और प्रगति समिति ने भी क्रान्तिकारी सैनिकों के साथ मिलकर संवैधानिक शासन की मांग की। क्रान्तिकारियों के बढ़ते प्रभाव से डरकर सुल्तान अब्दुल हामिद ने 22 जुलाई 1908 ई, को मिदहत पाशा वाले विधान की पुनः घोषणा करते हुए दिसम्बर में चुनाव कराना मान लिया। किन्तु हामिद ने चुनाव कराने के पश्चात भी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं लगाया। तब विवश होकर क्रान्तिकारियों ने कुस्तुनतुनिया पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर लिया और संसद ने एक प्रस्ताव द्वारा अब्दुल हमीद को पदच्युत कर उसके भाई मुहम्मद पंचम को गद्दी पर (1909 ई.) बिठा दिया। नई सरकार में तरुण या युवा तुर्क दल का जोर था और वास्तविक शासन शक्ति भी उसी के हाथों में थी। पर युवा तुर्क आन्दोलन उग्र राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर अनियन्त्रित होने लगा। तुर्कों ने तुर्कीकरण की नीति अपनाते हुए गैर तुर्कों पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। इसके फलस्वरूप तुर्की साम्राज्य में पुनः अशान्ति और अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने लग गई। इसका लाभ उठाते हुए आस्ट्रिया ने बोस्निया व हर्जगोविना पर अधिकार कर लिया। बल्गारिया ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और क्रीट ने यूनान में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। 1911 ई. मे इटली ने ट्रिपोली पर

आक्रमण कर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। 1912–13 ई. में दो बाल्कन युद्ध लड़े गए जिनमें तुर्की को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी और यूरोप में अनेक प्रदेशों से वंचित होना पड़ा।

युवा तुर्क आन्दोलन का अन्य प्रभाव—युवा तुर्क आन्दोलन की राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर सीरिया और लेबनान में अनेक ऐसी समितियां स्थापित हो गई थीं, जो अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील थीं। 1908 ई की क्रान्ति के समय अरब राष्ट्रवादियों ने तरुण तुर्क दल का उत्साह पूर्वक समर्थन किया था, और इसीलिए उन्होंने "अल-इखा-अल-अरबी अल-उथमानी" नाम से एक नई संस्था गठित की थी। इस संस्था ने सुल्तान की अधीनता में तुर्क साम्राज्य की सभी जातियों में एकता एवं बन्धुत्व की भावना का विकास करने, लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित नये विधान का समर्थन करने तथा साम्राज्य के अधीन अरब प्रदेशों के साथ समानता को स्थापित रखवाने के मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये थे। किन्तु तरुण तुर्क दल की संकीर्ण तुर्क राष्ट्रीयता की नीति के कारण तुर्कों के प्रति अरबों में राष्ट्रीयता की भावना ने अब अरब राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करना शुरू कर दिया था। प्रथम विश्व युद्ध तक "यंग अरब एसोसियेशन या तरुण अरब सभा" द्वारा सीरिया, लेबनान एवं इराक में गुप्त रूप से तुर्कों से मुक्ति के प्रयत्न चल रहे थे। 1913 ई. में "अल अहद" नामक संस्था ने तुर्की साम्राज्य की सेना में अरब सैनिकों को अपना सदस्य बनाकर अरब क्रान्ति को आगे बढ़ाया फिर भी अरबों में इतनी जागृति और संगठन नहीं था कि वे खुल कर क्रान्ति कर सके। इन्हें अपनी आंकाक्षाओं की पूर्ति का अवसर 1914–18 ई. के प्रथम महायुद्ध में तुर्की की पराजय के पश्चात ही प्राप्त हुआ था।

प्रथम विश्व युद्ध एवं सेव्र की सन्धि—1914 ई. में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। तुर्की ने अपने मित्र देश का साथ दिया। किन्तु जैसे ही युद्ध शुरू हुआ, विदेशी शक्तियों द्वारा "यूरोप के मरीज" तुर्की के भू-भाग पर अधिकार करना आरम्भ हो गया। युद्ध के कारण निर्बल तुर्की झर्झर होने लगा। अन्ततः जर्मनी की हार के साथ-साथ तुर्की भी मित्र राष्ट्रों से पराजित हुआ और उसे आत्म समर्पण करना पड़ा। युद्ध की समाप्ति के बाद 1919 ई. में पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में अन्य पराजित राष्ट्रों की तरह तुर्की के साथ सन्धि का प्रारूप तैयार किया गया। 10 अगस्त 1920 ई. को मित्र राष्ट्रों एवं तुर्की के मध्य सेव्र की सन्धि पर हस्ताक्षर किये गए। इस सन्धि के अनुसार तुर्की ने मिश्र, सूडान, साइप्रस, मोरक्को, ट्यूनिस, मेसोपोटामिया, सीरिया, अरब, फिलिस्तीन पर अपने सभी अधिकार छोड़ दिए। यूनान को एशिया माइनर, थ्रेस का कुछ भाग, एड्रियानोपल तथा गैलीपोली दे दिये गए। सीरिया फ्रांस के तथा फिलिस्तीन तथा मेसो-

पोटामिया इंगलैंड के संरक्षण में रखे गए। हैजाज को स्वतन्त्र राज्य माना गया। इटली को रोड्स तथा डोडेकनीज के द्वीप प्राप्त हुए। आर्मीनिया को स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए कुर्दिस्तान को स्वतन्त्रता का वचन दिया गया। दर्रे दानियाल जलडमरूमध्य को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखा गया। तुर्की की सैनिक शक्ति 50 हजार तक सीमित कर नो सेना एवं वायुसेना भंग कर दी गई। इस सन्धि के फलस्वरूप तुर्की के पास केवल कुस्तुनतुनिया का कुछ प्रदेश ही बचता था अतः तुर्की के लोगों ने इस अपमानजनक सन्धि के विरोध में सरकार के विरुद्ध आवाज उठाई। विरोधियों का नेतृत्व मुस्तफा कमाल पाशा ने किया था।

मुस्तफा कमाल पाशा

प्रथम महायुद्ध के पश्चात तुर्की के राष्ट्रीय संग्राम का सफलता पूर्वक संचालन करने वाले मुस्तफा कमाल को "आधुनिक तुर्की का पिता" या "अतातुर्क" के नाम से जाना जाता है। मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म 1881 ई. में सालोनिका के एक साधारण परिवार में हुआ था। उसके पिता का नाम अली रजा एफन्दी और माता का नाम जुबेद था। कमाल की सात वर्ष की आयु में पिता की मृत्यु हो गई थी अतः इसका लालन-पालन माता की देखरेख में ही हुआ था। 1893 ई. में वह सालोनिका के सैनिक विद्यालय में भर्ती हुआ। अपने परिश्रमी जीवन के फलस्वरूप छात्रों में प्रसिद्ध होता गया। यहां उसने अपने गणित के अध्यापक को बहुत प्रभावित किया और उसी ने उसे 'कमाल' अर्थात् पूर्ण नाम से विभूषित किया। यहां से कमाल मोनस्टिर सीनियर सैनिक स्कूल में पढ़ने भेजा गया। इस स्कूल में उसे फ्रांस साहित्य पढ़ने को मिला और इससे वह बहुत प्रभावित हुआ। 24 वर्ष की अवस्था में सैनिक शिक्षा समाप्त कर उसने इस्तम्बुल में रहते हुए 'वतन' नामक राष्ट्रवादी गुप्त संस्था का गठन किया। रूसो तथा वाल्तेयर साहित्य के द्वारा उसने सरकार की आलोचना करना शुरू कर दिया। इस अपराध मे उसे जेल जाना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही सरकार द्वारा कमाल को जेल से मुक्त कर दमिश्क में घुड़सवार सेना का केप्टिन बनाया गया। यह नियुक्ति भी एक प्रकार से देश निकाले के समान थी किन्तु कमाल पाशा ने यहां 'वतन' संस्था को अधिक विकसित किया। यहीं रहते हुए उसने 'संगठन व सुधारकों' के दल की स्थापना कर नियाजी, तलक पाशा, अनवर पाशा तथा जमाल पाशा जैसे कट्टर देश भक्तों के सम्पर्क में आया। 1908 ई. की क्रान्ति के फलस्वरूप अनवर पाशा क्रान्तिकारी सरकार का नेता बना किन्तु कमाल पाशा और उसमें मतभेद होने के कारण कमाल को 1910 ई. में फ्रांस में पश्चिमी सैनिक शिक्षण के लिए भेज दिया गया। मुस्तफा की इस प्रथम विदेश यात्रा ने उसे पश्चिमी सभ्यता को देखने का अवसर प्रदान किया जिससे वह बहुत ही प्रभावित हुआ। इसी समय (1911—19 2 ई.) में

ट्रिपोली के प्रश्न पर इटली और तुर्की के मध्य युद्ध छिड़ गया। मुस्तफा को देश बुलाकर इस युद्ध में भेजा गया जहां उसने वीरता का प्रदर्शन किया। 1912--13 ई. के बाल्कन युद्धों में भी कमाल पाशा ने सैनिक कार्यवाहियों द्वारा नाम कमाया और उसकी गणना तुर्की के दक्ष सेनानायकों में होने लगी। प्रथम विश्व युद्ध में 'गैलीपोली अभियान' मे मित्र राष्ट्रों की असफलता में कमाल की मुख्य भूमिका रही थी। इस अभियान के पश्चात् वह राष्ट्र नायक के रूप में माना जाने लगा। उसे ब्रिगेडियर का पद तथा 'पाशा' की उपाधि से अलंकृत किया गया। इसके पश्चात कमाल ने काकेशस में रूसी सेना के विरुद्ध सफलता प्राप्त की तथा 1918 ई. में सीरिया में मित्र राष्ट्रों की सेना की प्रगति को रोकने में अदम्य साहस का परिचय दिया था। जब युद्ध समाप्त हुआ तो सारे देश में वह लोकप्रिय हो चुका था। मई 1919 ई. में सुल्तान मुहम्मद छठे ने कमाल को सेना का प्रधान निरीक्षक बनाकर अनातोलिया में भेजा। यहां उसने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में कर तुर्की की राष्ट्रीय चेतना को जगाने का कार्य सक्रियता से प्रारम्भ कर दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन में कमाल की सक्रियता – वैसे तो मुस्तफा कमाल पाशा युवा तुर्क आन्दोलन के समय से ही राष्ट्रीय आन्दोलन में अप्रत्यक्षतः एवं प्रत्यक्षतः भाग लेता आया था। किन्तु सेव्र की सन्धि ने उसे तुर्की सरकार एवं सुल्तान के प्रति अत्यधिक उग्र कर दिया था। उसको जब अनातोलिया भेजा गया तो यहां अंकारा में राष्ट्र भक्त सांसदों को आमन्त्रित कर नई संसद के गठन का प्रयास शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप 8 जुलाई 1919 ई. को सुल्तान ने कमाल पाशा को सैनिक पद से हटा दिया। पर कमाल ने निश्चिन्ततापूर्वक अपना कार्य चालू रखा। 23 जुलाई 1919 ई. को राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों का 'एरजेरूम सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन में कमाल पाशा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। सितम्बर माह मे 'सिवास सम्मेलन' में एरजेरूम सम्मेलन के निर्णय की पुष्टि की गई। अतः 23 अप्रैल 1920 ई. को अनातोलिया की राजधानी अंकारा मे महान् राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन हुआ जिसमें सभा द्वारा देश के शासन को अपने हाथों में लेने की घोषणा की गई। इस सभा द्वारा कमाल पाशा को राष्ट्र का अध्यक्ष एवं राष्ट्रीय सेना का सेनापति निर्वाचित किया गया। इस प्रकार तुर्की मे दो सरकारें सुल्तान की कुस्तुनतुनिया में तथा कमाल पाशा की अंकारा में कार्य करने लग गईं। 16 मार्च 1921 ई. में रूस की बोल्शेविक सरकार ने कमाल पाशा की सरकार को मान्यता दे दी। तुर्की मे बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना एवं इंग्लैण्ड की नीति के विरोध में फ्रांस एवं इटली ने भी कमाल से पृथक-पृथक समझौते कर अपनी सेनाओं को जलडमरूमध्य से हटा लिया। इस प्रकार यूरोप में इंग्लैंड अकेला रह गया था जो कमाल का मित्र नहीं था।

पेरिस शांति सम्मेलन की सन्धि के पूर्व ही मित्र देशों में इंग्लैंड, फ्रांस, इटली और यूनान में एक गुप्त समझौते के अन्तर्गत निश्चय किया गया था कि यूनान को स्मरना प्रदेश पर अधिकार करने के लिए सैनिक भेजने की छूट दे दी जाय। 15 मई 1919 ई. को यूनानी सेनाएं स्मरना में उतर गई। शायद मित्र देशों ने यह सोचा था कि यूनानी सैनिक दवाव से तुर्की सन्धि की शर्तों को जल्दी मान लेगा। परन्तु मुस्तफा कमाल ने यूनानी आक्रमण का विरोध नहीं कर यूनानियों को अंकारा की ओर बढ़ने दिया। बिलकुल निकट आने पर 1922 ई. में इस्मत नामक तुर्क सेनापति ने इनोनु के युद्ध क्षेत्र में यूनान की सेनाओं को बुरी तरह परास्त किया। इस पराजय ने यूरोप के राष्ट्रों के सम्मुख कमाल पाशा की वास्तविक शक्ति प्रकट हो गई। इसीलिए कमाल पाशा की सरकार के साथ 24 मई 1923 ई. को लोसान की सन्धि की गई। इस सन्धि के पूर्व 1922 ई. में सुल्तान मुहम्मद छठा देश छोड़ कर चला गया था।

लोसान की सन्धि—लोसान की सन्धि कमाल पाशा एव तुर्की के लिए सम्मानजनक उपहार था। इस सन्धि के अनुसार पूर्वी थ्रेस, स्मार्ना, अनातोलिया, कुर्दिस्तान और कुस्तुनतुनिया पर तुर्की अधिकार स्वीकार किया गया। तुर्की सेना पर लगे प्रतिबन्ध हटा दिए गए तथा हर्जाने की रकम का कोई उल्लेख नहीं किया गया। दर्रे दानियाल और बास्फोरस जलडमरूमध्यों के प्रदेश को पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय और निःशस्त्र बने रहने दिया गया।

लोसान की सन्धि ने सेव्र की सन्धि के कलंक को धो दिया और तुर्की के राष्ट्रवादियों को यह एक बड़ी विजय थी। लोसान की सन्धि कमाल पाशा की सरकार द्वारा की गई थी अतः कमाल पाशा की सरकार को इससे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता स्वतः ही मिल गई। इस सन्धि के द्वारा तुर्की ने भी ओटोमान साम्राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर तुर्की के स्वतन्त्र राष्ट्रीय अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार तुर्की प्रथम विश्व युद्ध के पराजित राष्ट्रों में प्रथम राष्ट्र था जिसने आरोपित सन्धि को समाप्त कर अपनी शर्तों पर सन्धि करने के लिए मित्र राष्ट्रों को बाध्य किया। इस सन्धि द्वारा कमाल पाशा की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित हो गई थी।

तुर्की का पुनर्निर्माण—लोसान की सन्धि के पश्चात कमाल पाशा को 'गाजी' की उपाधि से विभूषित किया गया। 23 अक्टूबर 1923 ई. को तुर्की को गणतन्त्र घोषित किया गया। राष्ट्रपति के पद पर बैठने के पश्चात कमाल पाशा ने तुर्की के पुनरुत्थान के लिए प्रयास प्रारम्भ कर दिए। वह तुर्की को एक आधुनिक राज्य बनाना चाहता था। इसीलिए कमाल पाशा के दल रिपब्लिकन पीपुल्स पार्टी या 'फिरकासी' ने तुर्की के विकास हेतु छः सूत्रीय कार्यक्रम—गणतन्त्रवाद, राष्ट्रवाद,

राज्यवाद, धर्म-निरपेक्षवाद, जनवाद, और सुधारवाद बनाया था। अर्थात मुस्तफा कमाल पाशा तुर्की में जनता की सार्वभौमिकता के प्रतीक गणतन्त्र की स्थापना चाहता था। इसके दल की राष्ट्रवादी विचार धारा में तुर्की तुर्कों के लिए सिद्धान्त स्वीकार किया गया। राज्यवाद के अन्तर्गत देश की आर्थिक नीति के निर्धारण पर सरकार का नियन्त्रण रखा गया। धर्म और सत्ता की पृथकता ही धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना थी। जन वादिता में सभी के लिए समान कानून की व्यवस्था एवं सुधार-वाद में सरकार को देश के हित में किसी भी सामाजिक परम्परा को समाप्त किये जाने के अधिकार दिये जाने के उद्देश्य निहित रहे थे। 1937 ई. के संविधान संशोधन में धर्म निरपेक्षता और राज्यवाद के अतिरिक्त शेष चार कार्यक्रमों या दल के सिद्धान्तों की प्राप्ति के लिए मुस्तफा कमाल पाशा ने अनेक महत्वपूर्ण सुधार किए अथवा तुर्की के पुनरुत्थान के लिए उपाय किए।

कमाल पाशा के सुधार

तुर्की में तंजीमात के रूप में सुधारों की विभिन्न योजनाएं पहले भी बनी थी परन्तु वह सफल रूप से प्रयोगान्वित भी नहीं हो सकी थी। मुस्तफा ने इस असफलता का मूल्यांक तुर्की की निर्बल सरकार, धर्मान्धता और अशिक्षा में किया। अतः उसने शक्ति के बल पर अपने विचारों को व्यवहारिक रूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। 1908 ई. के पश्चात युवा तुर्क आन्दोलनकारियों ने जिस तुर्कीकरण का प्रयत्न किया था। मुस्तफा के विचार ऐसी तुर्कीकरण की दृष्टि से भिन्न थे। वह चाहता था कि जो तुर्क तुर्की भाषा, जाति और संस्कृति से भिन्न है उन्हें तुर्की से पृथक हो जाना चाहिए जिससे शेष लोग एक समर्पित विश्वास और भावना से प्रगति के रास्ते पर चल सके। वह तुर्की के उत्थान के लिए प्राचीन संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण पर बल देता था। क्योंकि प्राचीन एवं पाश्चात्य संस्कृति का समन्वय वह तुर्की के विकास में बाधक मानता था। कमाल पाशा ने अपने उद्देश्यों को धीरे-धीरे प्राप्त किया जिसमें प्रथमतः तुर्की के लिए नियन्त्रित प्रजातन्त्र की स्थापना और नया संविधान प्रदान करना मुख्य था।

(1) प्रजातन्त्र एवं नया संविधान—कमाल पाशा ने नवम्बर 1922 ई. को राष्ट्रीय सभा के सामने सुल्तान पद को समाप्त करने तथा खलीफा के पद को बनाये रखने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव स्वीकार हो जाने पर सुल्तान महमूद छठे को हटा कर उसके स्थान पर उसके चचेरे भाई अब्दुल हामिद को नया खलीफा बनाया गया। अप्रेल 1914 ई. में नया संविधान लागू किया गया। इसमें कहा गया कि राष्ट्र की सम्प्रभुता जनता में निहित है। देश में एक राष्ट्रीय सभा नामक संसद की व्यवस्था स्वीकार कर इसके सदस्यों को जनता द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था लागू की गई। राष्ट्रीय सभा को कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की शक्तियां प्रदान की गई। मंत्री परिषद के सदस्य राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी घोषित किये

गए। अप्रेल 1923 ई. में कमाल पाशा ने जनता दल का गठन किया था। 1924 ई. में यही दल गणतन्त्रवादी जनता दल या रिपब्लिक पीपुल्स पार्टी कहलाने लगा था। यद्यपि मुस्तफा ने जनतन्त्र के प्रशिक्षण के लिए विरोधी दल बनाने का प्रयत्न भी किया किन्तु यह योजना हास्यास्पद होने के कारण शीघ्र समाप्त कर दी गई। सिद्धान्त में संविधान प्रजातन्त्रात्मक था किन्तु व्यवहार में एक दल की स्वेच्छाचारिता, उसके नेता कमाल पाशा की निरंकुशता एव निर्वाचन में दल विहीन राजनीति के कारण गणतन्त्रवादी दल का ही प्रभुत्व तुर्की पर विद्यमान था। मुस्तफा तुर्की के लिए शासक से अधिक शिक्षक था जो तुर्की को पुरातन से आधुनिकता की ओर ले जाने वाला मार्ग प्रशस्त कर रहा था। मुस्तफा ने शासन संभालते ही घोषणा की थी कि "मैं अपने आदमियों (तुर्की की जनता) को मार्ग पर अपने हाथ का तब तक सहारा दूंगा जब तक वे अपने पैरों से चलने नहीं लगें। जब वे अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त कर स्वयं को शासित कर लेंग तब मेरा कार्य वैसे ही समाप्त हो जायेगा।" राष्ट्रीय महासभा एवं राष्ट्रपति का चुनाव 4 वर्ष के लिए होना निश्चित किया गया। राष्ट्रपति राष्ट्रीय महासभा द्वारा निर्वाचित होता था। राष्ट्रपति को व्यापक अधिकार दिये गए। इस प्रकार तुर्की जनता को मुस्तफा ने नियन्त्रित प्रजातन्त्र एवं संविधान लागू कर प्रसन्न कर दिया।

2. धार्मिक सुधार—तुर्की धार्मिक संकीर्णता का गढ़ था। मुल्ला और मौलवियों का अधिक बोलबाला था। सुल्तान के खलीफा होने से तुर्की मे धर्म के नाम पर मनमाने अत्याचार होते थे। राष्ट्रपति बन जाने के बाद कमाल ने यह अनुभव किया कि सुल्तान का पद समाप्त करने के पश्चात् भी लोग खलीफा को ही शासन का प्रधान समझते है। अतः मुस्तफा कमाल पाशा ने राज्य की शक्ति को केन्द्रीकृत करने के लिए राष्ट्रीय महासभा के सामने खलीफा पद को भी समाप्त करने का प्रस्ताव रखा और 4 मार्च 1924 ई. को तुर्की के अन्तिम खलीफा को देश से निष्कासित कर दिया गया। इस प्रकार 625 वर्ष लम्बे ओटोमान तुर्की शासन का सदैव के लिए अन्त हो गया। भूतपूर्व सुल्तान के वंश के सदस्यों को भी देश से निष्कासित किया गया। तुर्की मे इस्लाम को राज्य-धर्म समाप्त कर दिया गया। न्याय व्यवस्था मे शरियत की प्रधानता समाप्त कर राज्य के अधिकारियों द्वारा ली जाने वाली 'अल्लाह की शपथ' बन्द कर दी गई। अब गणतन्त्र के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की जाने लगी।

मस्जिद सम्बन्धी नियमों में भी परिवर्तन किया गया। मस्जिदों में मौलिक अरबी भाषा में अजान लगाने के स्थान पर शुद्ध तुर्की भाषा में अजान देने के लिए मौलवियों को बाध्य किया गया। अंकारा को तुर्की की नई राजधानी बनाया गया। इस नये शहर में मस्जिदों का निर्माण कराया गया। अरबी से अनुप्रणित

तुर्की लिपि को समाप्त कर रोमन लिपि में तुर्की लेखन प्रारम्भ किया गया। कुरान भी इसी लिपि में लिखवाई गई।

दैनिक जीवन में इस्लाम के प्रतीकों को समाप्त करने के लिए कमाल पाशा ने तुर्की मालिए पंचाग के स्थान पर ग्रीगोरियन कलेण्डर का प्रयोग अनिवार्य कर दिया। 1935 ई. में शुक्रवार के साप्ताहिक अवकाश के स्थान पर रविवार का अवकाश घोषित किया गया। पुरानी उपाधियों को समाप्त कर लोगों को उपनाम लिखने की परम्परा शुरू करने के लिए कहा गया। स्वयं मुस्तफा कमाल ने अपना नाम अतातुर्क कमाल और मंत्री इस्मत पाशा ने इस्मत इनोनू नाम रखा। इन धार्मिक सुधारों ने तुर्की के रूढ़िवादी एवं धर्मभीरु समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की जो कि तत्कालीन इस्लामिक जगत में एक क्रान्तिकारी कदम था। इस इस प्रकार 1939 ई. तक तुर्की पूर्ण रूप से एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बन गया था।

3. सामाजिक सुधार—कमाल पाशा मानता था कि जब तक तुर्क लोग अन्धविश्वासों, प्राचीन रूढ़ियों और अज्ञानता के जाल में फंसे रहेंगे, तब तक तुर्की का जागरण होना केवल कल्पना होगा। अतः उसने तुर्की के पाश्चात्यकरण के लिए तुर्की टोपी और पगड़ी को अवैध घोषित कर दिया। वह मानता था कि तुर्की टोपी या फैज टोपी अज्ञानता, धार्मिक कट्टरता और धार्मिक अन्ध विश्वासों का चिह्न है। अतः उसने फैज टोपी के स्थान पर टोप अर्थात् हेट के प्रयोग का आदेश दिया। बर्नार्ड लेवी के अनुसार— "इसका (टोप) का वास्तविक उद्देश्य सिर की पोशाक को बदलना नहीं था अपितु लोगों के मस्तिष्क में परिवर्तन लाना था।" टाई, कमीज, बूट आदि धारण करने पर जोर दिया गया। बुर्का का प्रयोग वर्जित कर दिया गया। मुसलमानों को इससे बहुत कठिनाइयां हुईं पर शनैः शनैः आदी होने लगे।

स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उसने कानून द्वारा बहुपत्नी विवाह प्रथा को बन्द कर दिया। सिविल मैरिज पद्धति प्रारम्भ की गई। स्त्रियों को मताधिकार दिया गया। उन्हें राष्ट्रीय महासभा का सदस्य बनने की स्वतन्त्रता दी गई। कमाल के जीवनकाल में ही 17 महिलाएं राष्ट्रीय महासभा की सदस्या थीं। 1937 ई. में स्त्रियों के लिए सैनिक सेवा निश्चित कर दी गई। पुरुष और स्त्रियों को रोजगार के समान अवसर दिये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों में आत्म विश्वास की भावना बनने लगी। इस्लामी दुनिया में औरतों के लिए इस प्रकार के परिवर्तन कमाल पाशा के अदम्य उत्साह का परिचायक था।

4. आर्थिक सुधार—मुस्तफा कमाल पाशा ने कृषि, उद्योग-धन्धे, यातायात तथा संचार के साधनों में अनेक सुधार कर तुर्की की आर्थिक अवस्था को उन्नत

करने का प्रयत्न किया। नियोजित योजना बनाने की परम्परा का आरम्भ 1933 ई. में प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा किया गया। उसने फ्रांसीसी विशेषज्ञों, उद्योगपतियों और बैंकरों की सलाह से तुर्की की अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण किया। कमाल आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद का समर्थक था। उसने गरीब तुर्की देश के उत्थान के लिए और सैनिक सफलताओं की आवश्यकता की पूर्ति हेतु "नियन्त्रित अर्थवाद" की नीति अपनाई। गृह उद्योगों एव राष्ट्रीय उत्पादन की रक्षा के लिए आयातित माल पर चुंगी बढ़ा दी गई। अर्थव्यवस्था को अच्छी प्रकार सचालित करने के लिए व्यवसायपरक बैंकों की स्थापना की गई। इससे राष्ट्रीय सरकार की साख में वृद्धि हुई और देश की पूंजी का देश के विकास मे उपयोग होने लगा। उसने कृषक, शिल्पी एवं व्यापारियों का मिलजुल कर काम करने का आग्रह किया। मजदूरों की दशा सुधारने के लिए 1936 ई. म श्रमिक कानून पारित किए। विदेशी व्यापार की उन्नति और प्रगति के लिए चेम्बर आफ कामर्स की स्थापना की गई। किसानों के प्रशिक्षणार्थ प्रशिक्षणालय खोले गए। किसानो को सहकारी-कृषि के लिए प्रेरित किया गया। इन्हें आर्थिक सहायता देने के लिए कृषि बैंक की स्थापना की गई। योजनाओं के अन्तर्गत कृषि करो म कमी की गई। सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कानून बनाये गये। सीमा से अधिक भूमि को सरकार ने जब्त कर दूसरे किसानों मे बांट दिया। इस प्रकार भूमि सुधारों न तुर्की के किसानों को अत्यधिक राहत पहुंचाई। बड़े-बड़े कारखानों का सरकार द्वारा स्थापित कर कपड़ा, ऊन, रेशम और चीनी का उत्पादन बढ़ाया गया। सार्वजनिक हित के निजी कारखानो पर सरकार का नियन्त्रण रखा गया। इटली जर्मनी, अमेरिका एव फ्रांस से व्यापारिक सन्धियां कर देश के व्यापार को प्रोत्साहित किया गया। देश की भूमि मे दबे खनिज की खुदाई का कार्य आरम्भ कर भू-सम्पदा का दोहन किया जाने लगा। इस प्रकार कमाल पाशा के प्रयत्नो से तुर्की की आर्थिक अवस्था अंशतः सुधरने लगी।

5. शिक्षा में सुधार – तुर्की में आधुनिक शिक्षा का प्रचलन किया गया। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क कर दिया गया। स्कूलों और कॉलेजों की संख्या में वृद्धि की गई। विज्ञान और अनुसन्धान विशेषकर चिकित्सा शास्त्र को प्रोत्साहित किया गया। इस्तम्बूल में आयुर्विज्ञान महाविद्यालय खोला गया और उसमें पढ़ाने के लिए 20 विदेशी प्राध्यापक नियुक्त किये गए। कूटनीतिक एव नागरिक शास्त्र के अध्ययनार्थ अंकारा में एक कालेज खोला गया। शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण स्कूल खोले गए। लड़कियों की शिक्षा के लिए व्यवस्था की गई। समाचार पत्र एवं पुस्तकों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए नगरों में वाचनालयों एव पुस्तकालयों का जाल बिछा दिया गया। गांव-गांव में कृषि, स्वास्थ्य,

नकाई आदि के शिक्षा की व्यवस्था की गई। रोमन लिपि को प्रोत्साहित करने के लिए विदेशों से छापेखाने और मशीनें आयात की गई। अरबी अंकों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अंक अपनाये गए।

6. न्याय व्यवस्था में सुधार—देश में प्राचीन न्याय व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था स्थापित की गई। स्विटजरलैण्ड के आधार पर दीवानी कानून, इटालियन फौजदारी कानून, जर्मन नियमों के आधार पर व्यापारिक कानून बना कर लागू किये गए। धार्मिक न्यायालय समाप्त कर कानूनी समानता स्थापित की गई। कमाल ने जनता के सम्मुख घोषणा की कि सरकार आपकी है आप ही राज्य है। यद्यपि इन सुधारों को क्रियान्वित करने में कमाल पाशा को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था किन्तु अपने निर्णयानुसार इन्हें लागू करता रहा और सतर्कता से इन पर दृष्टि रखता रहा।

7. राजनीतिक सुधार—टर्की को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर स्त्री एवं पुरुषों को समान मताधिकार के अवसर प्रदान किये गये। नागरिकों को धर्म एवं भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। विशेषाधिकार समाप्त कर कानून की दृष्टि से सभी नागरिक समान माने गए। देश की प्रशासनिक इकाइयों का पुनर्गठन कर समस्त तुर्की को 62 विलायत, 430 कजा और कई न्हीया में वर्गीकृत किया गया।

उल्लेखित सुधारों को मुस्तफा कमाल पाशा ने प्रजातन्त्रात्मक ढंग से लागू कराया था। प्रस्तावों द्वारा राष्ट्रीय महासभा की स्वीकृति के पश्चात ही यह सुधार लागू किए गए थे किन्तु राष्ट्रीय महासभा में उसके दल का बहुमत, सेना पर उसका नियन्त्रण आदि उसके प्रस्तावों पर आंख मूंद कर क्रियान्वित करने में तत्पर रहते थे। परन्तु मुस्तफा कमाल पाशा एक तानाशाह होते हुए भी जन-कल्याण में अपना ध्यान रखता था। उसने जो भी कार्य किये देश और जनता की भलाई के लिए किए किन्तु वह अपने कार्यों में रुकावट डालने वालों के प्रति अत्यधिक कठोर था। उसके विरोधियों में मुल्ला-मौलवी, धर्मान्ध तथा ओटोमान संसद के भूतपूर्व सदस्य मुख्य थे। इन्होंने कमाल पाशा के विरुद्ध कुर्दिस्तान में विद्रोह भी कराया पर कमाल पाशा ने तत्परतापूर्व उसे दबा दिया। प्रगतिशील गणतन्त्रवादी दल ने इस विद्रोह में भाग लिया था अतः इस दल को मुस्तफा कमाल ने अवैध करार करते हुए इसे समाप्त कर दिया। इस दल के 40 नेताओं को फांसी का दण्ड दिया गया। इस प्रकार कमाल पाशा के विरोधी धीरे-धीरे शान्त हो गए अथवा समाप्त हो गए। इस प्रकार कमाल के नेतृत्व में तुर्की एक प्रगतिशील, सम्पन्न, समृद्ध तथा धर्म निरपेक्ष राष्ट्र के रूप में आधुनिक देश बन गया।

कमाल की विदेश नीति—मुस्तफा कमाल पाशा ने अपनी विदेश नीति में स्वतन्त्रता का परिचय दिया था। वह मित्र राष्ट्रों के साथ साथ धुरी राष्ट्रों के

साथ भी सम्बन्ध बनाये रखने में सफल रहा था। 1 23 ई. में लोसान की संधि उसकी कूटनीतिज्ञता का अच्छा परिचायक है। 1925 ई. मे उसने रूस से दस वर्षीय मित्रता एवं सहयोग का समझौता कर इंगलैंड को इस बात के लिए विवश किया कि उसने तुर्की के साथ एक समझौता कर मोसुल के तेल का दसवां भाग देना स्वीकार किया। 1930 ई. में तुर्की ने अपने शत्रु युनान से समझौता किया जो कमाल की सूझ का परिणाम था। 1932 ई. में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इसके पूर्व 1929 ई. में फ्रांस और इटली से भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। रूस के बढ़ते साम्यवाद के खतरे को तुर्की में बढ़ता देखकर कमाल पाशा ने रूस से दूरी बनाये रखी। हिटलर के उत्थान ने जब तुर्की के लिए खतरा उत्पन्न किया तो कमाल पाशा ने 1934 ई में 'बाल्कन राज्यों का संघ' (यूनान, तुर्की, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया) बना कर अपने देश की सीमा को सुरक्षित बनाने का प्रयास किया। इसी प्रकार तुर्की को सुरक्षित करने के लिए 1937 ई. में कमाल पाशा ने ईरान, अफगानिस्तान तथा ईराक से सन्धि की। इसके माध्यम से उसने मुस्लिम राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इतिहासकार लेंगसम के अनुसार "इस गतिविधि से तुर्की ने बाल्कन गुट तथा पूर्वी लीग का सदस्य बनकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।"

कमाल के कार्यों का मूल्यांकन—10 दिसम्बर 1938 ई. को यकृत रोग से केवल 57 वर्ष की आयु में मुस्तफा कमाल पाशा की मृत्यु हो गई। कमाल के पश्चात इस्मत इनोनू को नया राष्ट्रपति बनाया गया। कमाल अतातुर्क आधुनिक तुर्की का निर्माता था। राष्ट्रीयता, धर्म, समानता और प्रगति के बारे में वह बहुत ही स्पष्ट, क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील विचार रखने वाला व्यक्ति था। उसे तानाशाह कहा जाता है किन्तु वह निरंकुश सुधारक था। वह संविधान के प्रति श्रद्धावान था। उसने शक्ति का प्रयोग सदैव ही गणतन्त्र की रक्षा एवं देश की उन्नति के लिए किया था। उसने आवश्यक सुधारों के लिए कानून बनाये तो रूढ़िवादी परम्पराओं को बदलने के लिए अपील का मार्ग भी अपनाया। वेश-भूषा और पर्दा-प्रथा के लिए उसने अपीलें ही की थीं। उसने इस्लाम के कट्टर पंथियों की मुठ्ठियों में कसे हुए स्त्री समाज को नई रोशनी प्रदान कर पुरुषों के समान दर्जा देने का एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था। वह एक महान सुधारक, सफल राजनीतिज्ञ, अच्छा कूटनीतिज्ञ होने के साथ साथ विवेकी सेनानायक एवं मार्ग दर्शक राष्ट्र निर्माता था। उसने तुर्की की लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया वहां तुर्कों को ज्ञान के प्रकाश द्वारा आलोकित कर विश्व में तुर्कों को सम्मान दिलवाया। यूरोप का मरीज राष्ट्र कमाल पाशा के प्रयत्नों से यूरोप का प्रगतिशील राष्ट्र बन गया। इतना होने पर भी उस पर जुआ, शराब और

मुल्लाओं के प्रति आसक्ति का दोष, आर्थिक दृष्टि से तुर्की को अधिक लाभ नहीं पहुंचाने वाला दोषी तथा प्रजातन्त्र का गला घोंटने वाले निर्मम व्यक्ति का आरोप लगाया जाता है। व्यक्तिगत दोष को छोड़कर शेष दोष उसके जनकल्याणात्मक प्रयत्नों का परिणाम ही कहा जा सकता है। निष्कर्षतः मुस्तफा कमाल पाशा विश्व के महान व्यक्तियों में से एक था।

इस्मत इनोनू (11 नवम्बर, 1938 से 22 मई, 1950 ई.)

मुस्तफा कमाल पाशा के उत्तराधिकारी इस्मत इनोनू का जन्म 24 सितम्बर 1884 ई. में हुआ था। उसका पिता हाजी रशीद वे ओटामान साम्राज्य में न्यायाधीश था। इनोनू की शिक्षा भी सैनिक महाविद्यालय में हुई। 1906 ई. इसकी नियुक्ति एड्रियानोपल में हुई जहां वह 'एकता-प्रगति संघ' के सम्पर्क में आया। 1910 ई. में इनोनू को यमन भेजा गया जहां 1912 ई. में यमन स्थित तुर्की सेना का सेनापति बना दिया गया। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ मे वह कमाल का सैन्याधिकारी रहा था। युद्ध में उसे कर्नल का पद दिया गया। कमाल ने जब 'महान राष्ट्रीय सभा' का पुनर्गठन किया तो इनोनू ने भी अपनी सेवायें राष्ट्रीय सभा को समर्पित कर दीं। 1921 ई. में यूनान के विरुद्ध "इनोनू के युद्धों" में अच्छी सफलता प्राप्त की थी। इसीलिए उसने इनोनू की पदवी धारण की। लोसान की सम्मानजनक संधि प्राप्त करने वाला तुर्कों का प्रतिनिधि इनोनू ही था। इनोनू कई समय तक तुर्की का प्रधान मंत्री भी रहा। जब कमाल की मृत्यु हो गई तो कमाल के मित्र, सहयोगी एवं आधुनिक तुर्की के निर्माण में भागीदार इनोनू को राष्ट्रीय महासभा द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। 11 नवम्बर 1938 ई. को उसने शपथ ग्रहण की।

इनोनू की गृह नीति—राष्ट्रपति बनते ही इनोनू को उन सभी समस्याओं से जूझना पड़ा जो कमाल पाशा के दबदबे के कारण भूमिगत थीं। मुस्तफा ने चक्रवात की गति से तुर्की में परिवर्तन किया था। इससे रूढ़िवादियों में गहरा असंतोष व्याप्त था किन्तु मुस्तफा कमाल की तानाशाही ने इन विरोधियों को कठोरता पूर्वक कुचल दिया था। पर मुस्तफा की मृत्यु के पश्चात प्रतिक्रियावादी शक्ति पुनः सांस लेनी लगी। ऐसे समय में द्वितीय विश्व युद्ध ने तुर्की को आर्थिक संकट में डाल दिया। सैनिक व्यय में बढ़त विदेशी आयात में कमी आदि के फलतः तुर्की में मंहगाई बढ़ने लगी। इनोनू योग्य सेनानायक एवं सफल राजनीतिज्ञ था पर उसमें मुस्तफा की व्यावहारिकता का अभाव था। तुर्की की अर्थ व्यवस्था सुधारने के लिए 11 नवम्बर 1942 ई. को उसने तुर्की नागरिकों पर 'जायदाद कर' लगा दिया। इस कर को उसने गैर मुस्लिम नागरिकों से मुस्लिम नागरिकों की तुलना मे दस गुना अधिक वसूल किया। कर वसूली में उसने अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार किया

इस प्रकार इनोनू की यह कार्यवाही कमाल के धर्मनिरपेक्षवाद और गणतन्त्र के आदर्शों पर एक काला धब्बा थी । इससे सामाजिक समानता के सिद्धान्त की हत्या कर दी गई वहां गैर मुस्लिम लोग इनोनू के विरोधी हो गये । यद्यपि इस कर को द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होते ही उठा लिया गया किन्तु इससे तुर्की के वाणिज्य-व्यापार और अन्य व्यवसायों पर विपरीत प्रभाव पड़ा । इस कर से उत्पन्न असंतोष ने प्रतिक्रियावादियों की कार्यवाही को अधिक बल प्रदान किया । इन लोगों ने मुस्तफा कमाल पाशा को धर्म निरपेक्ष एवं उदारवादी नीति को परिवर्तन करने की मांग प्रारम्भ गर दी । बौद्धिक एवं शिक्षित वर्ग भी देश की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए मांग करने लगा. व्यापारी नये स्रोत्रों को खोजने में इनोनू की असमर्थता के कारण विरोधी बनने लगे, श्रमिक वर्ग सरकार की दमनकारी नीति में संशोधन की मांग उठाने लगा, धर्मान्ध लोग इस्लाम की पुनः प्रतिष्ठा करने की आवाज उठाने लगे तो गैर मुस्लिम जायदाद कर के कारण इनोनू पर अविश्वास करने लगे थे । इस प्रकार सभी वर्ग इनोनू से नाराज एव सरकार की नीतियों में परिवर्तन चाहते थे । इनोनू ने अपने को तटस्थ रखते हुए नीति-निर्धारण करने के लिए राष्ट्रीय महासभा को दायित्व सौंप दिया ।

नवम्बर 1945 ई. में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन शुरू हुआ । इस समय तक द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था । अन्य दलों पर प्रतिवन्ध की आवश्यकता नहीं देख इनोनू ने महासभा में विरोधी दल की अनिवार्यता पर जोर दिया । 7 जनवरी 1946 ई. को गणतांत्रिक जनता दल में दरार पैदा हो गई । सेलाल बयार तथा अदनान मेंदरस के नेतृत्व में 'डेमोक्रेटिक दल' का गठन हुआ । सेलाल बयार भी कमाल पाशा का सहयोगी एवं प्रधान मंत्री रहा था । यह दल मुस्तफा कमाल पाशा के सिद्धान्तों को विरोधी नहीं अपितु समयानुरूप संशोधन के पक्ष में था । इसके साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिवन्धों का विरोधी था । जुलाई 1946 ई के आम चुनाव में इस दल को 62 स्थान ही मिले किन्तु मई 1950 ई. के आम चुनाव में कुल 487 स्थानों में से डेमोक्रेटिक दल को 408 तथा शासक दल को 69 स्थान प्राप्त हुए । अतः शान्तिपूर्वक मत क्रान्ति द्वारा तुर्की के शासन की बागडोर डेमोक्रेटिक दल के हाथ में चली गई । 22 मई 1950 ई. को इनोनू के स्थान पर राष्ट्रीय महासभा ने सेलाल बयार को राष्ट्रपति निर्वाचित किया । मेंदरस को तुर्की का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया । इस प्रकार इनोनू की गृह नीति में तटस्थता एवं अदूरदर्शिता के कारण गणतन्त्रीय जनता दल का पतन हो गया ।

विदेश नीति—इनोनू ने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षार्थ "राष्ट्रीय स्वार्थपरकता की नीति का पालन किया । इनोनू ने द्वितीय विश्व युद्ध में अपने देश की शान्ति

एवं समृद्धि के लिए तटस्थता का पालन करना लक्ष्य बनाया था। इसीलिए उसने इंग्लैण्ड एवं फ्रांस से मधुर सम्बन्ध बनाकर इनसे मैत्री संन्धियां कीं। इसके साथ उसने जर्मन से भी 18 जून, 1941 ई. को अनाक्रमण सन्धि कर ली वहां रूस के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखे। 23 फरवरी 1945 ई. को तुर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु इसके पीछे इनोनू का उद्देश्य तुर्की को युद्ध में उलझाना नहीं बल्कि सेन फ्रांसिस को सम्मेलन में तुर्की के भाग लेने का अधिकार प्राप्त करना था। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध में इनोनू की विदेश नीति "राष्ट्रीय सुरक्षा" को धारण किये समयानुसार रंग बदलती रही थी। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व अमेरिका और रूस के दो खेमों में बंट गया। रूस तुर्की से उसकी रंग बदल नीति के कारण रुष्ट था। अतः 21 मार्च 1945 ई. को रूस ने तुर्की से पुरानी सन्धि समाप्त कर दी। तुर्की रूस से भयभीत अमेरिका की ओर झुक गया। 1950 ई. में तुर्की में डेमोक्रेटिक दल का शासन होने पर भी तुर्की में विदेश नीति अमेरिका के पक्ष में चलती रही। मार्शल योजना के अन्तर्गत अमेरिका ने तुर्की को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी। रूस से रक्षा के लिए तुर्की को 'नाटो' या उत्तरी अटलांटिक सन्धि का सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार शीत युद्ध में तुर्की ने अपना समर्थन अमेरिका के साथ कर दिया।

डेमोक्रेटिक दल का उदय एवं पतन

22 मई, 1950 ई. को सेलाल बयार ने राष्ट्रपति बनने के पश्चात धार्मिक संस्थाओं को पुनः कार्य करने की अनुमति दे दी। सेलाल बयार का डेमोक्रेटिक दल इस्लाम धर्म को कुचलने के पक्ष में नहीं था। अतः अब अरबी भाषा में नमाज और कुरान पढ़ना गैर कानूनी नहीं रहा। मस्जिदों के निर्माण तथा धार्मिक संस्थाओं की पुर्नस्थापना की गई। उद्योगपतियों को देशी पूंजी उपलब्ध कराने में सरकार पर कर्ज भार बढ़ता ही गया। 1960 ई. तक मुस्तफा कमाल पाशा की नीतियों में डेमोक्रेटिक द्वारा निरन्तर संशोधन के परिणामस्वरूप गणतान्त्रीक जनता दल पुनः जनता में लोकप्रिय होने लगा। किन्तु डेमोक्रेटिक दल ने तुर्की के सभी दलों पर प्रतिबन्ध लगा कर उन्हें गैर–कानूनी घोषित कर दिया। इस समय तुर्की का राष्ट्रपति अदनान मेंदरस था। उसने सरकार की आलोचना करने वाले सभी अखबारों पर प्रतिबन्ध लगाते हुए गणतन्त्रीय जनता दल के समाचार पत्र "वतन," को सरकारी समाचार पत्र बना दिया। डेमोक्रेटिक दल की प्रतिबन्ध हटाने की नीति ही दल के सत्ता स्वार्थों के कारण प्रतिबन्धात्मक बनती चली गई। अतः इस दल के प्रति जन विरोध ने 27 मई, 1960 ई. को सैनिक-क्रान्ति का मार्ग साफ कर दिया। डेमोक्रेटिक दल के नेता सेना द्वारा बन्दी बना लिये गए। 17 मई तक तुर्की में सैनिक शासन चला जिसमें पुनः एक विधान की रचना के आदेश 5दान

कर जुलाई 1961 ई. में इसे पूर्ण कराया। इस विधान में मुस्तफा कमाल पाशा के विधान की त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। राजनीतिक दलों को गठित करने की स्वतन्त्रता दी गई। कमाल के छः सूत्रों राज्यवाद एवं सुधारवाद को हटा दिया गया। धार्मिक शिक्षा को मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार यह नवीन संविधान अधिक प्रजातांत्रिक था। परन्तु यह विधान भी समस्या के निदान में सफल नहीं हो सका। आज भी तुर्की के जन-जीवन में प्राचीन परम्पराओं और आधुनिकता के मध्य संघर्ष विद्यमान है। पर लोकतन्त्र की दिशा में तुर्की निरन्तर आगे बढ़ रहा है।

12
पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीय जागरण

पश्चिमी एशिया; अंग्रेजों के ग्रन्थों में मध्य पूर्व (मिडल ईस्ट) के नाम से उल्लेखित होता रहा है क्योंकि यह भू-भाग इंग्लैण्ड और यूरोप के पूर्व में स्थित है। किन्तु भारत की दृष्टि से अरब, ईरान, ईराक, मिश्र आदि देश पश्चिमी में स्थित होने के कारण इन देशों के लिए पश्चिमी एशीयाई देश लिखना ही तर्क संगत है। पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीय-जागरण की नींव डालने का श्रेय उन ईसाई पादरियों को है जो पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में धर्म प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे थे। इन्होंने अपने धर्म प्रसार लिए के लोगों में शैक्षिक अभिरुचियां उत्पन्न कर पश्चिमी एशिया के लोगों के कूपमण्डूक ज्ञान को समुद्र के समान व्यापक बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु राष्ट्रीय-जागरण को गति प्रदान करने वाले तत्वों में अंग्रेज एवं फ्रांसीसी औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा मुख्य थी। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए नेपोलियन बोनापार्ट ने मिश्र पर अधिकार स्थापित कर लिया तो पश्चिमी एशिया की मुस्लिम जनता को पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। नेपोलियन की विजय के साथ-साथ जिन नये तत्वों का मिश्र में प्रवेश हुआ, उनमें एक मुद्रणालय भी था। इस मुद्रणालय को नेपोलियन ने कैरो में स्थापित किया था। यद्यपि इस प्रेस का प्रयोजन मिश्र के लोगों में फ्रांस के शासन के पक्ष में प्रचार करना था किन्तु इसमें अन्य बौद्धिक जागृति की सामग्री भी छपती थी। इसी प्रकार नेपोलियन ने अपने शासनकाल में मिश्र में एक साहित्य अकादमी और पुस्तकालय की स्थापना की थी। इन माध्यमों ने मिश्र तथा इसके पास लगे देशों के लोगों को पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान से अवगत कराया। इन देशों के लोगों ने यह अनुभव करना आरम्भ कर दिया कि "अपने देश" की उन्नति के लिए इन साधनों को अपनाना उपयोगी हो सकता है। 1805 ई. में जब मुहम्मद अली ने मिश्र में अपनी सत्ता स्थापित की तो उसने इस प्रक्रिया को निरन्तर रखा। उसने शिक्षा के महत्व को समझ कर मिश्र में पृथक रूप से शिक्षा विभाग की स्थापना की। उसने चिकित्सा एवं इन्जीनियरिंग के कई शिक्षणालय

स्थापित किए। प्रारम्भ में फ्रांस के प्राध्यापक इन शिक्षणालयों में शिक्षा देने के लिए नियुक्त किए गए। इसके साथ-साथ सैंकड़ों की संख्या में छात्रवृत्ति प्रदान कर विद्यार्थियों को फ्रांस, इटली तथा अन्य यूरोपियन देशों में सैन्य-संचालन, कृषि शास्त्र, चिकित्सा, इन्जीनियरिंग एवं विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने भेजा गया। इस शिक्षा को प्राप्त करते हुए इन विद्यार्थियों को पाश्चात्य देशों के लोकतन्त्र एवं राष्ट्रीयता के विचारों को सुनने तथा पढ़ने का अवसर भी प्राप्त होता था। ये विद्यार्थी इससे अनुभव करने लगे कि हमारा देश नये ज्ञान-विज्ञान तथा नई व्यवस्था को अपनाकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार फ्रांस एवं यूरोपियन राज्यों के सम्पर्क ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में मिश्र ईरान आदि देशों में नवजागरण का सूत्रपात किया।

तरूण तुर्क आन्दोलन तथा मुस्तफा कमाल पाशा भी पश्चिमी एशिया की जागृति के प्रेरणा स्रोत रहे थे। ओटॉमान साम्राज्य के अन्तर्गत मिश्र, ईरान, ईराक, सीरिया आदि देश जाति एवं राष्ट्र के आधार पर अपने अपने देशों की स्वतन्त्र कल्पना करने लगे थे। तुर्की साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप इस साम्राज्य में सम्मिलित देशों को अपने नवनिर्माण हेतु सोचने का अवसर मिला था। पर पाश्चात्य शक्तियों ने इनकी सहायता का स्वांग रचते हुए अपने राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ इन देशों पर लादना शुरू कर दिया था। अतः पश्चिमी देशों के प्रभाव को सीमित करने के लिए पश्चिमी एशिया में आन्दोलन प्रारम्भ हुए। राष्ट्रीय चेतना युक्त यह आन्दोलन राष्ट्रीय संगठन के लिए लाभकारी हुए यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे आन्दोलन पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से इन देशों के निरंकुश शासकों द्वारा दबा दिए गए थे। पर शनैः शनैः राजनीतिक जाग्रति से आल्लोड़ित ऐसे आन्दोलनों ने इन देशों में आन्तरिक सुधारों को जन्म दिया। इस प्रकार सुधारात्मक प्रक्रिया के परिणामों ने पश्चिमी एशिया में नव चेतना, नवबोध एवं नवयुग का सूत्रपात किया।

रूस की क्रान्ति ने भी पश्चिमी एशिया के देशों में राष्ट्रीय भावना को प्रज्वलित किया था। पश्चिमी एशिया के लोग पुरातन राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर जनतन्त्रात्मक प्रणाली स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने लगे। यद्यपि पश्चिमी एशिया में जनतन्त्रात्मक सरकारों का उदय नहीं हुआ किन्तु वैद्यानिक राजतन्त्र अथवा सुधारात्मक निरंकुशतन्त्र की शुरुआत अवश्य हुई। यह तन्त्र उग्र राष्ट्रवाद के पोषक थे। परिणामतः "मिश्र मिश्रवादियों के लिए" जैसे नारे इन देशों में उठने लगे।

पश्चिमी एशिया के नव जागरण में इस्लाम धर्म के सुधारकों का भी योगदान था। जमालुद्दीन दुल-अफगानी, मुहम्मद अब्दुल आदि मुख्य सुधारक थे,

जिन्होंने पाश्चात्य के अन्धानुकरण के स्थान पर इस्लाम की शिक्षाओं तथा उनमें उल्लेखित सुधारों को महत्व देकर लोगों में धार्मिक जागरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। इनका मानना था कि इस्लाम और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है क्योंकि इस्लाम भी विज्ञान का एक मार्ग है। इन लोगों ने कुरान की अनेक संदर्भों में व्याख्या कर समाज और राज्य में सुधार के लिए लोगों को प्रेरित किया। मुहम्मद अब्दुल की शिष्य परम्परा में कासिम आमीन ने बहु विवाह, तलाक और परदे की प्रथा आदि के विरुद्ध आवाज उठाते हुए इन प्रथाओं को इस्लाम के प्रतिकूल सिद्ध किया। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के नव इस्लामीकरण ने भी लोगों को एकता के सूत्र में बांध कर राष्ट्रीय भावना के विकास की ओर उन्मुख किया।

उल्लेखित तथ्यों को हम पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता का उदभव एवं नवजागरण के विकास के क्रम में अध्ययन कर सकते हैं। किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तक पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन का उक्त प्रवेश सम्पन्न लोगों और सैनिक अफसरों तक ही सीमित था। सर्व साधारण जनता 20वीं शताब्दी के एक दो दशक तक राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आन्दोलन से भली भांति परिचित नहीं थी। पश्चिमी एशिया की बहुसंख्यक जनता अशिक्षित, धार्मिक संकीर्णता युक्त, पुरानपंथी थी। हम पश्चिमी एशिया के दो देशों को उदाहरण स्वरूप लेकर राष्ट्रीय भावना के विकास का अध्ययन करें तो सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया की राष्ट्रीय जाग्रति स्पष्ट हो सकती है। अतः मिश्र एवं ईरान का अध्ययन इस दृष्टि से उपयुक्त मानकर इनका अध्ययन करेंगे।

(अ) मिश्र में जागृति

अरब साम्राज्य के पश्चात् मिश्र ओटॉमान साम्राज्य के अधीन एक प्रान्त रहा था। 1798 ई. में नेपोलियन बोनापार्ट ने मिश्र के कुछ भाग (काहिरा एवं सिकन्दरिया) पर अधिकार कर लिया। किन्तु शीघ्र ही ब्रिटेन एवं तुर्की के प्रयास से मिश्र पर नेपोलियन के आधिपत्य को समाप्त कर पुनः तुर्की अधिकार स्थापित कराया गया। जैसाकि लिखा जा चुका है कि तुर्की की निर्बलता का लाभ उठाकर 1805 ई. में मिश्र के तुर्की सूबेदार मुहम्मद अली ने मिश्र में अपनी सत्ता स्थापित कर दी। मुहम्मद अली (1805–1845 ई.) एक योग्य एवं जनकल्याणकारी शासक था। उसने अपने काल में मिश्र की उन्नति के लिए जमींदारी प्रथा समाप्त कर मिश्र की सम्पूर्ण भूमि पर सरकार का स्वामित्व घोषित किया। उसने शिक्षा के क्षेत्र में स्कूल और कॉलेजों की स्थापना कर लोगों के ज्ञान का विकास किया। कई विद्यार्थियों को शिक्षा ग्रहण करने विदेशों में भेजा। यूरोपीय पद्धति पर सैन्य संगठन कर अपने राज्य का विस्तार किया। इस प्रकार मुहम्मद अली ने अपने देश के विकास के लिए फ्रांस का सहयोग प्राप्त कर देश को उन्नत किया। किन्तु

इसके फलस्वरूप मिश्र में फ्रांसीसियों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। 1854 ई. में एक फ्रांसीसी इन्जीनियर फर्डीनेन्डीले सम की प्रेरणा से स्वेज-नहर के निर्माण हेतु एक कम्पनी स्थापित की गई। 1869 ई. में स्वेज-नहर बन कर तैयार हो गई। मिश्र की सरकार और फ्रांसीसी कम्पनी के मध्य 99 वर्ष के लिए एक समझौता किया गया कि 1968 ई. तक यह कम्पनी मिश्र को एक निश्चित दर से शुल्क दिया करेगी तत्पश्चात् नहर पर मिश्र का अधिकार हो जायेगा। मिश्र को नहर के 15% शेयर दिये गए। मुहम्मद अली की मृत्यु के पश्चात् अब्बास पाशा (1849–1854 ई.), सईद पाशा (1854–1863ई.) तथा इस्माईल पाशा (1863–1874 ई.) के शासनकाल में मिश्र की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। आर्थिक दशा को सुधारने के लिए इस्माईल पाशा ने इंग्लैण्ड से कर्ज लिया। इंग्लैण्ड के लिए एशियाई उपनिवेशों में जाने आने के लिए स्वेज नहर का बहुत महत्व था। अतः जब मिश्र पर कर्ज का अधिक भार बढ़ गया तो इंग्लैण्ड ने 15 % मिश्र के स्वेज नहर के हिस्से सस्ते में खरीद लिए। स्वेज नहर पर अब मिश्र का कोई अधिकार नहीं रहा। इस्माईल पाशा द्वारा नहर के हिस्से बेचने पर भी मिश्र का ऋण-भार कम नहीं हुआ। फलतः फ्रांस एवं इंग्लैण्ड से कर्ज लेने में दोनों देशों का मिश्र पर आर्थिक नियंत्रण बढ़ता गया। इंग्लैण्ड ने कर्ज की वसूली के लिए मिश्र में अंग्रेज कर्मचारी नियुक्त कर दिए। इस्माईल पाशा ने जब इसका विरोध किया तो इंग्लैण्ड ने उसके निर्बल पुत्र तौफीक पाशा को मिश्र की गद्दी पर (1879 ई.) बिठवा दिया।

एंग्लो-फ्रेंच कन्सोरटियम– तौफीक पाशा के शासन में मिश्र के आय-व्यय का हिसाब रखने, अपने कर्ज को वसूल करने, मंत्री मंडल के निर्णयों पर अपना परामर्श देने आदि के लिए फ्रांस और इंग्लैण्ड का दोहरा नियंत्रण मिश्र पर स्थापित किया गया। प्रशासन में मिश्र के पदाधिकारियों के स्थान पर विदेशी सलाहकारों की संख्या बढ़ने लगी। आय के हिसाब की देखभाल फ्रांस के प्रतिनिधि तथा व्यय के हिसाब की देखभाल इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि करते थे। इस प्रकार मिश्र पर आर्थिक हस्तक्षेप ने विदेशी राजनीतिक हस्तक्षेप को आश्रय दिया। इससे मिश्र की जनता में असंतोष उठने लगा। मिश्र के लोग विदेशी हस्तक्षेप से मुक्ति पाने तथा देश में एक संवैधानिक सरकार की स्थापना करने की मांग उठाने लगे। इस राष्ट्रवादी क्रांति को जन्म देने का श्रेय मिश्र के एक कर्नल अरावी को है। इसीलिए इस प्रयत्न को इतिहास में 'अरावी विद्रोह' के नाम से जाना जाता है।

अराबी-क्रान्ति–अरावी क्रान्ति या विद्रोह नेताओं पर पश्चिमी एशिया में विदेशी हस्तक्षेप के विरोध में किए गए वहावी आन्दोलन, अखिल इस्लामवाद या पान इस्लामीजम तथा अखिल अरबवाद आन्दोलन का प्रभाव था। इन आन्दो-

लनों के पूर्ण इतिहास का उल्लेख यहां विस्तार से नहीं देकर संक्षिप्ततः कहा जा सकता है कि इस्लाम के विरोधियों के विरुद्ध जिहाद, इस्लाम के संगठित स्वरूप को विदेशी शक्ति के विरुद्ध लगाने, तथा कुरानादि में वर्णित उपदेशों को राजनीतिक चेतना की दृष्टि से प्रयुक्त कर जन-जागृति पैदा करना इन आन्दोलनों का लक्ष्य रहा था। कर्नल अरावी पर भी इन आन्दोलनों का प्रभाव था। इसीलिए जून 1882 ई. में अरावी ने बगैर तैयारी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। फ्रांस एवं तुर्की अपने घरेलू मामलों के कारण अरावी के विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सके। परन्तु इंग्लैण्ड ने मिश्र में शान्ति स्थापित करने तथा विदेशी–हितों की विद्रोहियों से सुरक्षा करने के नाम पर 11 जुलाई 1882 ई. को सिकन्दरिया के बन्दरगाह पर बम वर्षा कर तथा 13 सितम्बर 1882 ई. को 'तेल अल कबीर' के स्थल युद्ध में अरावी पाशा की सेना को बिल्कुल परास्त कर दिया। इस प्रकार अरावी क्रान्ति की असफलता ने इंग्लैण्ड के प्रभाव को मिश्र में अधिक बढ़ा दिया। वहाँ यह क्रान्ति दब अवश्य गई किन्तु समाप्त नहीं हुई। अरावी के नेतृत्व में यह मिश्र का प्रथम राष्ट्रवादी प्रयास था। इस प्रयास को दबाने के पश्चात 1882 ई. में तौफीक पाशा के स्थान पर अब्बास हिलमी को मिश्र का शासक बनाया गया।

मिश्र पर ब्रिटिश आधिपत्य—अब्बास हिलमी की सहायतार्थ इंगलैण्ड की सरकार ने सर एलविन बेरिंग बाद में लार्ड क्रोमर के नाम से विख्यात, को 1884 ई. में मिश्र में भेजा गया। 1907 ई. तक इंगलैण्ड के प्रतिनिधि के रूप में मिश्र पर लार्ड क्रोमर का प्रशासन मिश्र के इतिहास में आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक तथा प्रशासनिक सुधारों का काल रहा था। ब्रिटिश आधिपत्य ने मिश्र में सामाजिक सुधारों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया तथापि नवीन सामाजिक जागृति का बीजारोपण अवश्य कर दिया था। किन्तु 1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही इंगलैण्ड ने मिश्र को अपना संरक्षित राष्ट्र घोषित करते हुए अब्बास हिलमी के स्थान पर हुसैन कमाल को मिश्र का शासक बनाया। अब शासक को तुर्की के खदीव के स्थान पर सुल्तान घोषित कर तुर्की का मिश्र पर सैद्धांतिक अधिकार समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश आधिपत्य के फन्दे में फंसा मिश्र पुनः विदेशी फंदे को काटने की तैयारी में जुट गया परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के कारण कुछ समय मिश्र में शांति बनी रही। हम विषय की सरलता के लिए प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य में घटित राष्ट्रवादी घटनाओं को क्रमशः बिन्दुवार उल्लेखित करेंगे।

(1) राजनीतिक दलों का उदय –1895 ई. में मुस्तफा कामिल के नेतृत्व में 'अल-हिज्ब अल-वतनी' नामक एक संगठन विदेशी प्रभुत्व के विरोध में संगठित

हुआ था। शनैः शनैः यह दल मिश्र में लोकप्रिय होता गया और इसमें मिश्र के नवयुवक सम्मिलित होने लगे। 1907 ई. में इस संगठन को नवीन रूप देकर जगलूल पाशा के नेतृत्व में इसका पुनर्गठन किया गया। इस दल के लोग क्रांतिकारी थे। इस दल का लक्ष्य हिंसा द्वारा विदेशी शक्ति को समाप्त करना था। अतः मिश्र में अंग्रेज अधिकारियों को मौत के घाट उतारे जाने की कार्यवाहियां होने लगी। प्रथम विश्व युद्ध समाप्त होते ही मिश्र में हिंसा का ताण्डव उग्र हो गया। 1917 ई. में हुसैन कमाल की मृत्योपरांत फुआद को सुल्तान बनाया गया। पेरिस शांति सम्मेलन में मिश्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए राष्ट्रवादियों ने जगलूल पाशा की अध्यक्षता में एक शिष्ट मण्डल (वफद) पेरिस भेजने के लिए फुआद से अनुमति मांगी। किन्तु सुल्तान फुआद ने अंग्रेजों के इशारे पर इस मांग को ठुकरा दिया। इसी दौरान 1919 ई. जगलूल पाशा ने 'वफद दल' का गठन कर इसके द्वारा जगह-जगह आन्दोलन खड़े करा दिए। अंग्रेजों ने जगलूल तथा उसके सहयोगियों को कैद कर देश से निष्कासित कर दिया। इंग्लैंड सरकार की इस कार्यवाही ने स्थिति को अधिक विद्रोहात्मक एवं विस्फोटक बना दिया। देश के विभिन्न स्थानों पर हिंसात्मक कार्य बढ़ते गए तथा इंग्लैंड का शासन इनको नियंत्रण करने में असफल होने लगा। इससे भयभीत होकर जगलूल पाशा को पेरिस जाने की अनुमति दे दी गई। यद्यपि पेरिस सम्मेलन में जगलूल पाशा को अधिक सफलता नहीं मिली किन्तु मिश्र में उसकी ख्याति बढ़ गई। इसी समय में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने लार्ड एलनबी को मिश्र की स्थिति को नियंत्रित एवं व्यवस्था करने भेजा। 1919 ई. में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड मिलनर को मिश्र में स्थिति का अवलोकन कर रिपोर्ट देने को कहा गया।

(2) **ब्रिटेन और मिश्र की संधि**—लार्ड मिलनर की रिपोर्ट के आधार पर मिश्र की इंग्लैण्ड संरक्षित व्यवस्था को 'मित्रता की संधि' में परिवर्तित किया गया परन्तु जगलूल पाशा तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने इस प्रकार के सुझाव को मान्यता प्रदान करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप 1921 ई. में उपद्रव पुनः भड़क उठे और इसी कारण जगलूल तथा उसके सहयोगियों को एडेन तथा जिब्राल्टर भेज दिया गया। इंग्लैण्ड और मिश्र के बीच 28 फरवरी, 1922 ई. को मित्रता की संधि पर हस्ताक्षर किये गये। सुल्तान फुआद ने इसको स्वीकृति प्रदान करदी। इसके अनुसार—

ब्रिटेन ने मिश्र की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया किन्तु यह स्वाधीनता स्वेज नहर पर ब्रिटिश हितों की रक्षार्थ एक ब्रिटिश सेना, मिश्र में अल्प संख्यकों के हितों की रक्षार्थ ब्रिटिश उत्तरदायित्व, विदेशी आक्रमण से मिश्र की सुरक्षा

का ब्रिटिश दायित्व तथा सूडान (जो कि मिश्र का अंग था) को ब्रिटिश संरक्षता में रहने देने पर ही मानी जाएगी।

मिश्र के राष्ट्रवादी नेता इस सन्धि की व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे। किन्तु ब्रिटेन की विशाल सैनिक शक्ति का सामना करने में फिलहाल असमर्थता को देखते हुए उन्होंने ऊपरी तौर पर इसे मान लिया।

(3) **मिश्र में वैधानिक राजतन्त्र**—1923 ई. में स्वाधीन मिश्र के लिए एक नये संविधान का निर्माण किया गया। इस विधान के अनुसार मिश्र में संसद और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई। जनवरी 1924 ई. को मिश्र की संसद के लिए निर्वाचन हुए जिसमें वफ्द दल की भारी विजय हुई। इस दल का नेता जगलूल पाशा मिश्र का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया। जगलूल ने प्रधान मन्त्री पद ग्रहण करते ही 1922 ई. की अपमानजनक सन्धि में संशोधन की मांग करते हुए ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री रैमजे मैकडानल्ड से वार्ता आरम्भ की परन्तु कोई हल नहीं निकल सका। अतः पहले की भांति इस बार भी वार्तालाप के भंग हो जाने के कारण हड़ताल, उपद्रव और ब्रिटिश विरोधी कार्य प्रारम्भ हो गये। इसी मध्य नवम्बर 1924 ई. को मिश्र के ब्रिटिश सेनापति तथा सूडान के गवर्नर जनरल 'सर ली स्टाक' की हत्या कर दी गई। इससे इंग्लैण्ड की सरकार बड़ी नाराज हुई और उसने मिश्र की सरकार को एक चेतावनी देते हुए मांगें स्वीकार करने की धमकी दी कि यदि इन शर्तों को नहीं माना गया तो ब्रिटिश सरकार मिश्र और सूडान में मनमानी करने पर विवश होगी।

ब्रिटिश सरकार ने मिश्र सरकार से मांग की कि 'ली स्टाक' के हत्यारों को कठोर दण्ड दिया जाय तथा इस घटना की क्षतिपूर्ति के लिए मिश्र की सरकार 75 लाख रुपये ब्रिटेन को दे। मिश्र इस घटना के लिए क्षमायाचना करे तथा भविष्य में ऐसी घटना न होने देने के लिए वचन दे। सूडान से मिश्री अफसरों और सैनिकों को वापस बुला लिया जाय। मिश्र के राजकीय मन्त्रिमण्डल में वित्त, न्याय और गृह विभाग में अंग्रेज परामर्शदाता नियुक्त किये जायं तथा सूडान में कपास की खेती के लिए जितने भी जल की आवश्यकता हो वहां की सरकार को उसे नील नदी से प्राप्त करने का अधिकार दिया जाए।

(4) **जगलूल पाशा का त्यागपत्र**—जगलूल पाशा ने ब्रिटेन सरकार की मांग को नहीं माना क्योंकि नील नदी के सम्बन्ध में मांग को स्वीकार करने का अर्थ मिश्र के आर्थिक जीवन को खतरे में डालना था। फिर उपरोक्त मांगों को मानने का अर्थ मिश्र में ब्रिटेन का प्रत्यक्ष नियंत्रण स्वीकार करना होता, इसीलिए जगलूल पाशा को त्याग-पत्र देना पड़ा। 1926 ई. में नये चुनाव

कराये गए जिसमें जगलूल के वफ्द दल को 70% की असाधारण सफलता प्राप्त हुई। ब्रिटिश सरकार जगलूल को प्रधानमंत्री स्वीकार करने को तैयार नहीं थी अतः अल्पमत वाली लिबरल पार्टी के सखत पाशा को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। नये प्रधानमंत्री ने 1927 ई. में इंग्लैण्ड की यात्रा कर मिश्र तथा इंग्लैण्ड के मध्य मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। 1927 ई. में ही जगलूल पाशा की मृत्यु के पश्चात् नहस पाशा को वफ्द पार्टी का नया नेता बनाया गया। उसने भी जगलूल पाशा की नीति का अनुसरण करते हुए मिश्र की सरकार तथा ब्रिटेन को चेतावनी दी कि 'कोई भी अपमान जनक समझौता वफ्द दल को मान्य नहीं होगा।" क्योंकि संसद में वफ्द दल का बहुमत था अतः सखत पाशा के द्वारा सुझाये गए सन्धि-सूत्र को वफ्द दल द्वारा अस्वीकार करने पर सखत पाशा ने त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार वफ्द दल का नेता नहस पाशा मिश्र का प्रधानमंत्री बना। उसने ब्रिटेन के साथ संधि-योजनाओं की चेष्टा की किन्तु उसे भी कोई सफलता नहीं मिली। इसके अनन्तर सुलतान और वफ्द दल के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गया। इसीलिए सुलतान ने नहस पाशा के स्थान पर प्रतिक्रियावादी सिद्की पाशा को मिश्र का प्रधानमंत्री नियुक्त किया।

वफ्द दल की शक्ति को नष्ट करने के लिए 1923 ई. के संविधान को समाप्त कर 1930 ई. में नया संविधान घोषित किया गया। 1931 ई. में इस विधान के अनुसार निर्वाचन हुए तथा सिद्की पाशा के समर्थक भारी संख्या में निर्वाचित हुए। 1930 से 1933 ई. तक सिद्की ने मिश्र पर तानाशाह की भांति शासन किया। मिश्र में वफ्द दल ने इस अलोकतांत्रिकता के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया। अन्त में सिद्की पाशा ने विवश होकर 1933 ई. में त्यागपत्र दे दिया। इसके स्थान पर मुहम्मद तोफीक नसीम पाशा को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। सुलतान ने विधान भंग कर दिया।

(5) ब्रिटेन एवं मिश्र का समझौता—1935 ई. में इटली ने इथियोपिया पर आक्रमण कर दिया। इसके फलस्वरूप ब्रिटेन को स्वेज नहर के प्रति खतरे की आशंका होने लगी। अतः ब्रिटेन मिश्र से द्विपक्षी समझौते के पक्ष में हो गया। मिश्र में वफ्द दल के प्रभाव को देखते हुए कोई भी समझौता वफ्द दल की स्वीकृति के बगैर स्थायी नहीं हो सकता था। इसीलिए ब्रिटेन ने वफ्द दल की इच्छा को ध्यान में रखते हुए सुल्तान फुआद को 1930 ई. का विधान लागू करने का परामर्श दिया। पर सुल्तान ने 1930 ई. के स्थान पर 1923 ई. का विधान लागू कर ब्रिटेन की सरकार की इच्छा की उपेक्षा कर दी। इस वैधानिक क्षोभ विक्षोभ के मध्य अप्रेल 1935 ई. में सुल्तान फुआद की मृत्यु हो गई। अब फुआद का 16

वर्षीय पुत्र फारुख मिश्र के सिंहासन पर बैठा। मई 1936 ई. में नये सुल्तान ने निर्वाचन कराये। इस चुनाव में 'वफद' को भारी मत मिले और नहस पाशा दूसरी बार प्रधानमंत्री बनाया गया। इटली के बढ़ते खतरे को देख कर नहस पाशा भी ब्रिटेन से वार्ता को तैयार हो गया। 26 अगस्त, 1936 ई. में लन्दन सन्धि द्वारा मिश्र को एक सार्वभौम राज्य स्वीकार कर लिया गया। मिश्र पर से सैनिक संरक्षण समाप्त कर दिया गया। 20 वर्षीय इस संधि में तय हुआ कि—(अ) ब्रिटेन को मिश्र में हवाई अड्डा रखने की सुविधा प्राप्त होगी, (ब) ब्रिटिश सेनाएं स्वेज के निकटवर्ती प्रदेशों में बनी रहेंगी, (स) ब्रिटेन को मिश्र युद्ध की स्थिति में सहायता देगा तथा (द) इस संधि के विरोध में दोनों पक्षों द्वारा कोई संधि नहीं की जाएगी।

इस संधि से मिश्र में स्वतन्त्रता का एक चरण पूरा हो गया। 1937 ई. में मिश्र को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। 1937 ई. में मिश्र में विशेषाधिकार रखने वाले देशों का एक सम्मेलन मोन्त्रो में बुलाया गया। इस सम्मेलन में निर्णय किया गया कि 1949 ई. तक सभी देश मिश्र में अपने विशेषाधिकार समाप्त कर देंगे। लन्दन संधि उन युवा क्रान्तिकारियों को संतुष्ट नहीं कर सकी। वे विदेशी शक्ति से सर्वथा मुक्त मिश्र की कल्पना के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की योजना रखते थे। किन्तु 1938 ई. में मिश्र के शासक फारुख ने वयस्क होते ही शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया तथा वफद दल की सरकार को बर्खास्त कर दिया। इसी काल में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने से वफद दल ने शान्ति धारण कर ली। पर 1936 ई. के संधि के आधार पर ब्रिटेन ने मिश्र के शासन को पूर्णतः अपने नियन्त्रण में ले लिया। फारुक पर दबाव डाल कर मिश्र में पुनः नहस पाशा के मंत्रिमंडल को स्थापित किया गया। वफद दल ने विश्व युद्ध में तटस्थता की नीति अपनाते हुए 1944 ई. तक ब्रिटेन को पूर्ण सहयोग दिया।

(6) मिश्र का विश्व युद्ध में सम्मिलित होना—जनवरी 1945 ई. में मिश्र में निर्वाचन हुए। इस चुनाव में सादी पार्टी का बहुमत हो गया। अतः उसका नेता अहमद महर प्रधानमंत्री बना। अप्रेल 1945 ई. को अहमद महर की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। प्रधानमंत्री की इस घोषणा से तटस्थतावादी उग्र राष्ट्रीयता के लोगों में बड़ी नाराजगी उत्पन्न हुई। इसलिए कुछ उग्रवादियों द्वारा अहमद महर की हत्या कर दी गई। महमूद नोकराशी को अहमद महर का उत्तराधिकारी बनाया गया। युद्ध की घोषणा करने के पीछे अहमद महर का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनना था न कि ब्रिटेन के प्रति लगाव। अतः 1945 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते ही मिश्र के राष्ट्र-

वादी पुनः ब्रिटेन के विरुद्ध संगठित हो गए। उन्होंने स्वेज के क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाओं को हटाने तथा सूडान पर मिश्र के आधिपत्य को स्वीकार करने की माग उठाई। इस सम्बन्ध में, मिश्र के तत्कालीन प्रधानमंत्री सिदकी पाशा ने 1946 ई. में लन्दन जाकर मिश्र की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया किन्तु असफल होने से त्याग पत्र दे दिया। इसके स्थान पर नियुक्त अहमद नोकराशी ने 1947 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ से मांग की कि मिश्र से ब्रिटिश सेनाएँ तुरन्त हटाकर सूडान को मिश्र का अंग माना जाए। संयुक्त राष्ट्र संघ पर बड़े देशों का प्रभाव होने से मिश्र की मांग की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। इन सभी कारणों से मिश्र में उग्र राष्ट्रवादियों ने हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करना शुरु कर दिया। "मुस्लिम बिरादरी" नामक क्रान्तिकारी संस्था के मार्ग-दर्शन में राष्ट्रवादियों की आंतकवादी गतिविधियाँ तेज हो गई। दिसम्बर 1948 ई, में इसी कारण प्रधानमंत्री अहमद नोकराशी की हत्या कर दी गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् मिश्र—कतिपय घटनाओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। 1950 ई. के चुनाव में वफद दल को संसद में बहुमत प्राप्त होने से नहस पाशा को तीसरी बार प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। उसने 15 अक्टूबर 1951 ई. को मिश्र की संसद ने 1936 ई. की संधि को समाप्त करने का प्रस्ताव रखते हुए सूडान के स्वायत्त शासन को मान्यता देने की अपील की। नहस पाशा का यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। मिश्र की सरकार ने सूडान के लिए एक नया संविधान भी बनाया। किन्तु सूडानवासियों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। अंग्रेजों के विरोध स्वरूप स्वेज नहर के क्षेत्र से मिश्री मजदूरों को हटा लिया गया फलतः अंग्रेजों को मजदूर प्राप्त करना कठिन हो गया और उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके साथ-साथ मिश्र में ब्रिटेन के विरुद्ध प्रदर्शन, हमले और हत्याओं की गतिविधियां बढ़ती चली गई।

मिश्र में सैनिक क्रान्ति - मिश्र की इस अशान्ति और अराजकता का लाभ उठाकर 26 जुलाई 1952 ई. में मुहम्मद नगीब नामक एक सैन्य-अधिकारी के नेतृत्व में सैनिक क्रान्ति हो गई। मिश्र का शासक फारुक देश छोड़कर भाग गया। नगीब ने उसके अल्पवयस्क पुत्र को गद्दी पर बिठाकर शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। इस क्रान्ति में नगीब का मुख्य सहायक कर्नल नासिर था। शीघ्र ही मिश्र में वैधानिक राजतन्त्र की समाप्ति की घोषणा कर मिश्रको गणतन्त्र घोषित कर दिया गया नगीब गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री तथा कर्नल नासिर उप प्रधान मंत्री बना। यद्यपि नगीब मिश्र का राष्ट्राध्यक्ष था परन्तु देश की समस्त नीतियों का निर्धारण नासिर द्वारा होता था। अप्रत्यक्षतः नासिर ही मिश्र का सर्वेसर्वा था। सेनाधिकारियों की एक क्रान्तिकारी परिषद् कार्यपालिका का निर्वाचन तथा

परामर्श देने का कार्य करती थी। 1954 ई. में मिश्र के शासन की व्यवस्था के प्रश्न पर परिषद में फूट पड़ गई। देश का सम्पन्न वर्ग नगीब के और क्रान्तिकारी युवक नासिर के पक्ष में थे। अन्ततः अप्रेल 1954 ई. को नासिर द्वारा सत्ता हस्तगत कर ली गई। अब नासिर देश का प्रधानमंत्री और क्रान्तिकारी परिषद् का अध्यक्ष था। उसने शासन हाथ में लेते ही मिश्र में दो वर्षों के भीतर वैधानिक सरकार बनाने का आश्वासन दिया।

गमाल अब्दअल नासिर (1954–1967 ई.)

गमाल अब्द अल नासिर का जन्म 1918 ई. में एक साधारण परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही वह राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने लगा था। स्कूल के अध्ययन काल में भी वह राजनीतिक प्रदर्शनों में भाग लेता था। सेना में कार्य करते हुए वह ऐसे राष्ट्रवादी पदाधिकारियों के सम्पर्क में आया जो मिश्र की स्थिति के प्रति चिन्तनशील थे। 1948 ई. में मिश्र की इजराइल युद्ध में पराजय के पश्चात् वह गम्भीरता से समस्या को सुलझाने का मार्ग खोजने लगा। अन्ततः 1952 ई. में सैनिक क्रान्ति के द्वारा सत्ता प्राप्त कर कर्नल नासिर ने अपने दल द्वारा मिश्र की समस्या सुलझाना प्रारम्भ किया।

स्वेज नहर के क्षेत्र पर ब्रिटेन के प्रभुत्व को समाप्त करना नासिर के सामने प्रमुख समस्या थी। अतः उसने ब्रिटिश सरकार पर अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए 27 जुलाई 1954 ई. को एक समझौता किया। इसके अनुसार–ब्रिटेन ने 20 माह के अन्दर समस्त स्वेज क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाएं हटा लेने का वचन दिया। मिश्र पर विदेशी आक्रमण के समय ब्रिटेन की सेना मिश्र की अनुमति से स्वेज क्षेत्र में प्रवेश कर सकेगी। ब्रिटिश लोगों द्वारा स्वेज क्षेत्र में स्थापित कल-कारखाने सात वर्ष तक स्थापित रहेंगें किन्तु इनका संचालन असैनिक व्यक्तियों द्वारा किया जायेगा। 19 अक्तूबर 1954 ई. को दोनों देशों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। इस समझौते द्वारा मिश्र पर से ब्रिटेन के उस प्रभाव और प्रभुत्व का अन्त हो गया जो उसकी स्वाधीन तथा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्थिति के बाद भी उस पर विद्यमान था। सूडान को 1953 ई. में ही मिश्र तथा ब्रिटेन द्वारा स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया गया था। अतः नासिर ने अब आन्तरिक प्रगति के लिए भूमि की सिंचाई हेतु नील नदी पर आस्वान-बांध की योजना बनाई।

आस्वान के लिए नासिर ने अमेरिका से आर्थिक सहायता चाही। अमेरिका ने वायदा भी कर लिया किन्तु मिश्र की तटस्थ रहने की नीति के कारण नासिर ने बगदाद पैक्ट में सम्मिलित होने से मना कर दिया तो अमेरिका और इंग्लैण्ड नासिर से नाराज हो गए। इसके अतिरिक्त 1954 ई. में इजराइल द्वारा मिश्र पर आक्रमण करने पर मिश्र ने 27 सितम्बर 1955 ई. को रूस से समझौता कर

लिया तो अमेरिका और इंग्लैण्ड नासिर विरोधी हो गए। अतः अमेरिका ने सशर्त आर्थिक सहायता के लिए मिश्र से कहा। नासिर ने इस स्थिति से निपटने के लिए 26 जुलाई, 1956 ई. को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। स्वेज नहर से होने वाली आय को उसने आस्वान बांध योजना में लगाने का निर्णय लिया।

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से इंग्लैण्ड बौखला गया क्योंकि एशिया स्थित उसके उपनिवेशों की सुरक्षा को और स्वेज से प्राप्त आवागमन शुल्क बन्द होने से उसकी आर्थिक अवस्था को धक्का लगा था। फ्रांस को भी अपने शेयरों की इससे हानि हुई थी। रूस से समझौते के कारण अमेरिका पहले ही मिश्र से रुष्ट था। अतः तीनों राष्ट्रों ने समवेत स्वर में नहर राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हुए 16 अगस्त 1956 ई. को लन्दन में 22 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया। मिश्र ने पश्चिमी राष्ट्रों के इस विरोध की कोई चिन्ता नहीं की। फलतः इंग्लैण्ड और फ्रांस के इशारे पर इजराइल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। 19 अक्तूबर 1956 ई. को इजराइली सेनाएं सिनाई क्षेत्र में घुस गई। स्वेज नहर की सुरक्षा का बहाना बना कर नवम्बर माह में इंग्लैण्ड और फ्रांस की सेनाए स्वेज क्षेत्र में उतर गई। इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण होने लगी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसमें हस्तक्षेप कर मार्च 1957 ई. तक इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा इजराईल से मिश्र के क्षेत्र खाली कराये। इस प्रकार स्वेज नहर के बहाने पश्चिमी राष्ट्रों का औपनिवेशिक चंगुल मिश्र पर सदैव के लिए समाप्त हो गया। यद्यपि मिश्र इजराईल युद्ध में मिश्र की पराजय हुई थी किन्तु कूटनीतिक क्षेत्र में नासिर विजयी हुआ।

जून 1956 ई. में नये संविधान के अनुसार मिश्र में चुनाव हुए। नासिर को मिश्र के गणराज्य का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। नासिर ने मिश्र की गृहनीति में जनतंत्रीय विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाया। स्त्रियों को मताधिकार और संसद में निर्वाचित होने की अनुमति दी गई। धार्मिक कट्टरता का मिश्र में अन्त कर दिया गया। प्रारम्भ में नासिर साम्यवादियों का विरोधी था किन्तु अमेरिकन नीति ने उसे रूस की ओर उन्मुख कर दिया। 1961 में नासिर ने स्पष्ट किया कि मिश्र एक नई समाजवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख हो रहा है। उसने देश के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। 1962 ई. में सम्पन्न परिवारों की सम्पत्ति सीमा निश्चित् कर दी, भूमि की सीमा भी निश्चित की गई। पूंजीपतियों पर अधिक आय-कर लगा कर पूंजी के व्यक्तिगत केन्द्रीकरण को रोका गया। 1962 ई. में नासिर ने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कर इसमें विभिन्न संगठनों को प्रतिनिधित्व दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस के परामर्श पर नासिर

ने संयुक्त अरब गणराज्य की अरब नीति, सामाजिक क्रांति और मौलिक अधिकारों के विषय में घोषणा की। इस प्रकार नासिर ने अपने कार्यकाल में शिक्षा, ग्राम्य तथा कृषि विकास के लिए सफल योजनाओं का निर्माण कर मिश्र को एशिया अफ्रीका एवं अरब का आदर्श केन्द्र बना दिया। नासिर इसीलिए आधुनिक मिश्र का निर्माता कहा जाता है।

(आ) ईरान में राष्ट्रवाद

अरब साम्राज्य के पतन के पश्चात् ईरान पर तुर्क तत्पश्चात् मंगोलों का शासन रहा था। मंगोल शासक तैमूर लंग की मृत्यु के बाद ईरान पुनः ओटोमान साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। यद्यपि ईरान के एक भाग पर तैमूर के वंशजों का अधिकार रहा था। तैमूर के वंशजों के निर्बल होने पर इस्माइल नामक एक व्यक्ति ने सत्ता हस्तगत कर 1502 ई. में सफावी वंश की नींव डाली। सफावी वंश के पश्चात् 1794 ई. में आगा मोहम्मद शाह ने ईरान में कजार वंश की स्थापना की। सफावी वंश के काल में ईरान का सम्बन्ध पाश्चात्य शक्तियों से हो चुका था। यूरोप के पुनर्जागरण का प्रभाव ईरान पर भी पड़ा था। कजार वंश के काल में ईरान तुर्की, रूस तथा ब्रिटेन की लालसा का क्षेत्र तथा स्वयं की आन्तरिक समस्याओं से जूझता हुआ असहाय देश बन गया था। 19 वीं शताब्दी के अन्त तक ईरान के उत्तर में रूस अपने साम्राज्यवाद को पनपा रहा था तो दक्षिण में ब्रिटेन अपने क्षेत्र का प्रसार करने में प्रयत्नशील था। अंग्रेजों ने ईरान के विकास के नाम पर ईरान में सड़कें और रेल लाइन बिछाने, बैंक खोलने आदि के लिए विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए वहां उत्तरी ईरान में रूसियों को विशेषाधिकार थे। उत्तरी ईरान में रहने वाले रूसी ईरानी-कानून से परे थे। ईरान के शासक की अपव्ययता ने भी ईरान पर कर्ज का भार चढ़ा दिया था। इसके परिणामस्वरूप ईरान की आर्थिक दशा दिन प्रति दिन खराब होती जा रही थी वहीं विदेशी प्रभुत्व अपनी मुट्ठी ईरान पर कसता रहा था।

ईरान में संवैधानिक क्रांति—20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों की दो घटनाओं —1904-1905 ई. में जापान द्वारा रूस को पराजित करना तथा 1917 ई. की रूसी क्रांति ने ईरान के राष्ट्रवादियों को अत्यधिक प्रभावित किया। यूरोप के सम्पर्क, छापेखाने के योगदान तथा शिक्षित युवकों पर यूरोपीय उदारवादी दर्शन के प्रभाव ने भी साम्राज्यवाद के विरोध को प्रखर किया। इसके अतिरिक्त ईरानी संस्कृति, कला और साहित्य ने लोगों को राष्ट्रीयता की प्रेरणा दी। यह प्रेरणा स्वाभाविकतः ईरान के मुल्ला और मौलवियों के माध्यम से प्राप्त हुई थी। अतः 1905 ई. में ईरान में एक राष्ट्रीय दल की स्थापना इस आशय से की गई कि सम्राट की निरंकुशता पर अंकुश रखते हुए

यह दल ईरान में विदेशियों के हस्तक्षेप के विरुद्ध आंदोलन करता रहेगा। 1906 ई. में इस दल के नेतृत्व में क्रांति आरम्भ करदी गई। इसीलिए 2 अगस्त 1906 ई. को ईरान के शाह मुजफ्फरद्दीन को लोक सत्तात्मक विधान स्वीकार करना पड़ा। इस विधान के अनुसार एक व्यवस्थापिका सभा अर्थात मजलिस का निर्माण कर इसके लिए 136 सदस्यों का निर्वाचन करवाया गया। शासन में शाह की सहायतार्थ एक मन्त्री परिषद का निर्माण किया गया। इस समय ईरान की आर्थिक अवस्था शोचनीय थी अतः शाह ने मजलिस के सामने ऋण लेने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव को मजलिस द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इससे शाह और मजलिस में तनाव बढ़ने लगा। इसी बीच मुजफ्फरद्दीन की मृत्यु के पश्चात शाह मुहम्मद अली ईरान की गद्दी पर बैठा। यह इंगलैण्ड और रूस का भक्त था। अतः इन देशों के इशारे पर शाह ने मजलिस को भंग कर दिया। मजलिस पर बम गिराये गये तथा कई देशभक्त नेता कैद कर लिए गए। जनता मजलिस के साथ थी। इसीलिए स्थान-स्थान पर विद्रोह उठ खड़े हुए। 1909 ई. रूसी सेनाओं ने क्रांतिकारियों का दमन करने तबरीज नामक नगर पर अधिकार कर लिया। जुलाई 1909 ई. में इसके प्रत्युतर में राष्ट्रवादी लोगों ने तेहरान को अपने अधिकार में ले लिया। ईरान का शाह अपनी जान बचाने के लिए रूसी दूतावास की शरण में चला गया। मजलिस ने मुहम्मद अली शाह को गद्दीच्युत कर उसके नाबालिग लड़के अहमद शाह को गद्दी पर बैठा दिया।

संवैधानिक शासन का प्रारम्भ—अहमदशाह को गद्दी पर बिठा कर संविधानवादी पुनः सत्ता में स्थायी हो गए। किन्तु उन्हें ईरान में व्याप्त कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा। 15 नवम्बर, 1909 ई. को जब दूसरी मजलिस का सत्र प्रारम्भ हुआ तो उसमें क्रांतिकारी तथा विकासवादी दो दल बन गए। प्रथम दल का नाम लोकप्रिय प्रजातांत्रिक दल एवं दूसरे का नदर्मलीय समाजवादी था। अपने आंतरिक मतभेदों के कारण 1910 ई. का पूरा वर्ष मजलिस ने केवल ईरान के आर्थिक प्रबन्ध में लगा दिया। मजलिस ने विदेशी ऋण नहीं लेकर देश के ऋण का उपयोग किया। ईरान के स्त्री पुरुषों ने अत्यन्त उत्साहक पूर्वक योगदान किया। इस मध्य मजलिस ने देश के आर्थिक प्रबन्ध के लिए अमेरिका से मार्गन शुस्टर को उच्च वित्ताधिकारी नियुक्त कर बुलाया। शुस्टर ने ईरान की आर्थिक व्यवस्था को बल प्रदान कर लोकप्रियता हस्तगत की। उसकी लोकप्रियता तथा पर्शिया (ईरान) की वित्तीय स्थिरता ने विदेशी शक्तियों में वैमनस्य की भावना को प्रोत्साहित किया। इसी कारण 1911 में रूस ने शुस्टर को ईरान से हटाने की

चेतावनी दी। मजलिस द्वारा इस चेतावनी पर ध्यान नहीं देने के फलस्वरूप 24 दिसम्बर 1911 ई. को मजलिस भंग कर दी गई तथा शुस्टर को पद से हटा दिया गया। इस प्रकार, रूस तथा इंगलैंड ने ईरान में हस्तक्षेप कर अपना प्रभुत्व निरन्तर रखा। 1914 ई. में अहमद शाह के वयस्क होने पर राज्याभिषेक किया गया तथा नई मजलिस के चुनाव कराये गए इसमें लोकप्रिय प्रजातांत्रिक दल को बहुमत प्राप्त हुआ।

ब्रिटेन का निरंकुश हस्तक्षेप—1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस एवं इंग्लैण्ड की ईरान में शोषण नीति के विरोधस्वरूप ईरान के राष्ट्रवादियों का झुकाव युद्ध में जर्मन की ओर था। इससे रुष्ट होकर 1915 ई. में रूस ने ईरान पर आक्रमण कर उत्तरी-पूर्वी भागों पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन की सेना भी दक्षिण में आगे बढ़ने लगी। पर 1917 ई. में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के कारण रूस विश्वयुद्ध से हट गया और इसकी पूर्ति करने केलिए ब्रिटेन ने उत्तरी ईरान पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रवादियों ने कुचिक खां के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध उत्तरी ईरान में युद्ध आरम्भ कर दिया। 191 8ई. में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ईरान में व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं थी। कई प्रदेशों पर विदेशियों का प्रभुत्व था। ईरान की सरकार असहाय थी। अतः ईरान की निर्बलता का लाभ उठाकर ब्रिटेन ने 1919 ई. में ईरान से एक समझौता किया। इसके अनुसार ब्रिटेन ने ईरान पर राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक नियंत्रण स्थापित करने की मांग रखी थी। यह सन्धि ईरानी सरकार द्वारा स्वीकृत कर ली गयी किन्तु मजलिस ने इसकी पुष्टि नहीं की। ईरान के राष्ट्रवादी आंग्ल-सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए अन्दर ही अन्दर धधक रहे थे। इसी समय में ईरान के राजनीतिक रंगमंच पर रजा खां का प्रादुर्भाव होता है। इसी ने 1925 ई. में ईरान के कजारवंश का अन्त कर रजा शाह के नाम से ईरान में पहलवी वंश की नींव डाली। 17 फरवरी 1921 ई. को रजा खां एवं जियाउद्दीन ने ईरान की अव्यवस्थित सरकार को समाप्त कर अहमद शाह के नाममात्र के शासन में अपनी सरकार स्थापित की। जियाउद्दीन प्रधानमंत्री तथा रजा खां देश का प्रधान सेनापति एवं युद्ध मंत्री बनाया गया।

जियाउद्दीन का प्रधानमन्त्रित्व काल—जियाउद्दीन ने सत्ता में आते ही 1919 ई. की आंग्ल-ईरानी संधि को मानने से इन्कार कर दिया। इसके स्थान पर 26 फरवरी, 1921 ई. को उसने रूस के साथ सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार रूस ने ईरान पर चढ़ा ऋण समाप्त कर दिया, ईरान में रूस की सम्पत्ति को बगैर क्षतिपूर्ति के छोड़ दिया गया तथा रूस ने वचन दिया कि ईरान पर विदेशी आक्रमण के समय रूस ईरान की सैनिक सहायता करेगा। इस तरह रूस

ईरान के यह संधि जियाउद्दीन की विजय थी वहां 1907 ई. की आंग्ल-रूस मैत्री संधि इससे समाप्त हो गई। इस संधि द्वारा ईरान ब्रिटेन के चंगुल से बच गया। मजलिस ने इस संधि को स्वीकृति प्रदान कर दी। जियाउद्दीन ने ईरान की आर्थिक दशा सुधारने के लिए एक अमेरिकन अर्थशास्त्री आर्थर चेस्टर को नियुक्त किया। उसके प्रयासों से ईरान का बजट संतुलित होने लगा, यातायात के साधनों का विकास हुआ, पाश्चात्य ढंग पर औद्योगिक विकास आरम्भ किया गया। जियाउद्दीन प्रगतिशील विचारों का एवं साम्यवादी धारा से प्रभावित व्यक्ति था। इसीलिए उसने ईरान में सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए जमींदारों की सम्पति को राष्ट्रीय घोषित करते हुए उनकी जमीन किसानों में बांट दी। जियाउद्दीन के क्रान्तिकारी सुधारों तथा व्यक्तिगत लोकप्रियता से चिढ़ कर रजा खां जियाउद्दीन को हटाने का प्रयत्न करने लगा। जियाउद्दीन भी अपनी इच्छा रजा खां पर थोपना चाहता था। इसीलिए उसने रजा खां के सैनिक सुधारों का विरोध किया। दोनों नेताओं के मतभेदों ने जब उग्ररूप धारण कर लिया तो 1923 ई. में जियाउद्दीन ने अपना पद त्याग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रजा खां देश का प्रधानमंत्री एवं प्रधान सेनापति की शक्ति का उपभोग करने लगा।

रजा खां को शासक बनाना – ईरान की सेना पर रजा खां का एकाधिकार स्थापित था। प्रधानमंत्री बनने के पश्चात् वह नागरिकों में भी लोकप्रिय होता गया। ईरान का शाह अहमद प्रशासनिक कार्यों से उन्मुख रहता था अतः ईरान की जनता ऐसे अकर्मण्य शासक को गद्दी से हटाना चाहती थी। रजा खां की लोकप्रियता के कारण मजलिस ईरान का शासक रजा खां को बनाना चाहती थी। अतः 31 अक्टूबर 1925 ई. को अहमद शाह को ईरान की गद्दी से हटा कर 12 दिसम्बर 1925 ई. को रजा खां को ईरान का शाह बना दिया गया।

रजाशाह पहलवी (1925–1941 ई.)

रजाशाह का जन्म 16 मार्च 1878 ई. को कैस्पियन सागर के एक प्रदेश मजनदारान में एक सार्जेन्ट के घर हुआ था। आरम्भिक जीवन से ही रजाशाह सैनिक सेवा में चला गया था। शनैः शनैः उन्नति करता हुआ वह कोसेक ब्रिगेड में एक अधिकारी के पद पर पहुँच गया था। रजाशाह के व्यक्तित्व में दृढ़ संकल्प, क्रोध एवं धर्यहीनता का सम्मिश्रण था। उसे धर्म के प्रति कोई लगाव नहीं था। ईरान का शासक बनने के पश्चात् अपने कार्यक्रमों को सुधारात्मक रूप प्रदान कर देश में एक नवक्रान्ति का सूत्रपात किया। उसके सुधारों से ईरान ने राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अच्छी प्रगति की। वस्तुतः ईरान की आधुनिकीरण दिशा का मार्ग प्रशस्ता रजाशाह ही था। उसने—

(अ) पाश्चात्य ढंग पर ईरान का सैन्य संगठन किया। देश में अनिवार्य सैनिक शिक्षा एवं सेवा की प्रणाली लागू कर ईरान की शक्ति को बढ़ाया।

(आ) यातायात एवं आवागमन के साधनों की उन्नति के लिए प्रयत्न किये। रजाशाह ने उत्तरी एवं दक्षिणी ईरान को जोड़ने के लिए ट्रांस-ईरानियन रेल्वे का निर्माण कराया। इसी प्रकार छोटी-छोटी लाइनों का ईरान में जाल बिछा दिया गया। सड़कों के निर्माण का कार्य भी किया गया। हवाई अड्डों का निर्माण कराया गया। फारस (ईरान) से एशिया और यूरोप में ईरान के हवाई जहाज उड़ान भरने लगे। फारस की खाड़ी के बन्दरगाह से जहाज आना जाना शुरू हुए डाक-तार सेवा का भी विकास किया गया। 1931 ई. में 'ब्रिटिश इण्डो यूरोपियन' तार कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

(इ) ईरान में पुरातन व्यवस्था के स्थान पर आधुनिक ढ़ंग की शिक्षा व्यवस्था प्रारम्भ की गई। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। अनेक स्कूल एवं कॉलेज खोले गए। तेहरान में एक विश्व विद्यालय और इन्जिनियरिंग कॉलेज स्थापित किया गया। उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति प्रदान कर छात्रों को विदेश में भेजा गया। स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया गया। स्कूलों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा बन्द कर दी गई।

(ई) देश की आर्थिक दशा तथा आय व्यय को व्यवस्थित करने के लिए रजाशाह ने मिलस्पो को अमेरिका से बुलवाया। 1931 ई. में राष्ट्रीय सरकार ने विदेशी व्यापार पर अधिकार कर लिया। तेल के क्षेत्र में अंग्रेजी कम्पनी से विशेष सुविधाएं प्राप्त की गई। 1933 ई, में आंग्ल ईरानी तेल कम्पनी को अधिक शुल्क देने के लिए बाध्य किया गया। एक राष्ट्रीय "बैंक ली ईरान" की स्थापना की गई। कई बड़े बड़े उद्योग स्थापित किये गए। कृषि की दशा सुधारने एक अध्ययन परिषद का गठन किया गया। 1925 ई. में कृषि यन्त्रों के आयात को सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया। बड़ी संख्या में कृषि विशेषज्ञ ईरान बुलाए गए।

(उ) फारस को आधुनिक देश बनाने भूतकाल से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए रजाशाह ने देश का नाम ईरान रखा। समाज में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए कानूनों का निर्माण किया गया। पर्दा प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया गया। ईरान में भी तुर्की के अनुरूप पाश्चात्य वेश भूषा को प्रोत्साहित किया गया। उलेमाओं के विशेषाधिकारों को नियन्त्रित किया गया।

(ऊ) 1927 ई. में पुरातन न्याय व्यवस्था का अन्त कर नव न्याय मंत्रालय का गठन किया गया। इस मंत्रालय में यूरोपीय शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नियुक्त किये गए। 1928 ई. में नागरिक संहिता का प्रथम खण्ड ईरान में लागू किया गया।

राज्य न्यायालयों को शरीयत न्यायालयों के निर्णय के विरोध में अपील सुनने का अधिकार दिया गया। 1933 ई. तक नागरिक संहिता के शेष दो खण्ड भी प्रकाशित कर न्याय के लिए लागू कर दिए। इस प्रकार संहिता में उल्लेखित ईरान के नये कानून धर्म निरपेक्षता और सामाजिक समानता पर आधारित थे।

उपरोक्त सुधारों को जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिल सकी क्योंकि ईरान मुल्ला मौलवियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हुआ था। फिर रजाशाह स्वयं भी कम शिक्षित था। फिर भी इन सुधारों के द्वारा ईरान प्रगति और प्रभुत्व के मार्ग पर अग्रसर होता गया। रजाशाह ने नेपोलियन के फ्रांस तथा मुस्तफा कमाल पाशा के तुर्की के समान ईरान को भी विश्व के राष्ट्रों में एक आधुनिक देश बना दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध एवं रजाशाह—1939 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध में रजाशाह ने तटस्थता की नीति अपनाई। किन्तु ईरान पर जर्मनी के बढ़ते प्रभाव को देखकर रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन चिन्तित हो रहे थे। अतः इन्होंने रजाशाह को चेतावनी दी कि जर्मनी को ईरान से निकाल दे अन्यथा उनके द्वारा ईरान पर कठोर कार्यवाही की जायेगी। रजाशाह द्वारा ध्यान नहीं दिये जाने पर रूस तथा ब्रिटेन की सेनाओं ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। ईरान इस आक्रमण में परास्त कर दिया गया। इसके फलतः 6 सितम्बर 1941 ई. को रजाशाह पहलवी को अपने पुत्र मुहम्मद रजा के पक्ष में गद्दी छोड़नी पड़ी। मुहम्मद रजा ने ब्रिटेन रूस आदि मित्र राष्ट्रों से सन्धि सुलह कर जर्मन और इटली से सम्बन्ध तोड़ लिए।

मोहम्मद रजाशाह

1942 ई. में ईरान ने ब्रिटेन तथा रूस के साथ एक संधि कर मित्र देशों की सेनाओं के लिए ईरान के मार्ग खोल दिए। सितम्बर 1943 ई. में ईरान ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर मित्र राष्ट्रों का सहयोग प्रारम्भ कर दिया। रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन की सेनाओं के भारी जमाव ने ईरान की अर्थव्यवस्था को शोचनीय बना दिया था फिर ईरान के युद्ध में सम्मिलित होने से अव्यवस्था अधिक बढ़ने लगी। इस आर्थिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर अमेरिकन एवं ब्रिटिश कम्पनियों ने ईरान के सम्मुख 1944 ई. में एक प्रस्ताव रखा कि उन्हें दक्षिण-पूर्वी ईरान में तेल कूपों के निर्माण और तेल निकालने के अधिकार दिये जाय। इसी प्रकार रूस ने उत्तरी क्षेत्र में तेल निकालने के अधिकारों की मांग रखी। ईरान ने जब सभी देशों के प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया तो रूस ने उस पर अमेरिका एवं ब्रिटिश का अनुगामी होने का आरोप लगाते हुए युद्ध समाप्त होने पर (1945 ई.) भी अपनी सेनाएं उत्तरी ईरान से नहीं हटाई। युद्ध के पश्चात् उत्तरी ईरान में रूस समर्थक "तुदेह पार्टी" का प्रभाव बढ़ने लगा था अतः

इस पार्टी के तीन नेता मंत्रीमण्डल में सम्मिलित किए गये पर ब्रिटेन के दबाव पर दक्षिणी क्षेत्र में एक विद्रोह किया गया। इसलिए ईरान की सरकार को बाध्य होकर तुदेह पार्टी के मंत्रियों को मंत्रिमंडल से हटाना पड़ा। इससे रूस तथा ईरान के मध्य भयंकर कटुता उत्पन्न हो गई। मई 1946 ई. में रूस ने भी ईरान से अपनी सेनाएं हटा लीं। अब ईरान अमेरिकी गुट की ओर झुकने लगा।

ईरान पर अमरिकी प्रभाव—अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमेन ने जब ट्रूमेन सिद्धान्त घोषित किया तो ईरान और अमेरिका के मध्य एक संधि हो गई। इसके फलस्वरूप अमेरिका ने ईरान को मुक्त हस्त आर्थिक सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। अमेरिका ने ईरान में सैनिक मिशन स्थापित कर ईरानी सेना का पुनर्गठन करना शुरू किया। इसके साथ ही ईरान ने अमेरिका को आश्वासन दिया कि वह अन्य किसी भी देश से सैनिक सहायता प्राप्त नहीं करेगा। 4 जनवरी 1949 ई. को एक व्यक्ति ने मुहम्मद रजाशाह की हत्या का प्रयत्न किया। शाह बच गया किन्तु इस हत्या के प्रयास के पीछे रूस का हाथ माना गया। अतः ईरान में साम्यवादी सफाई अभियान आरम्भ हो गया। इससे रूस और ईरान के मध्य खाई अधिक गहरी होती गई। इसी मध्य में 8 मार्च 1951 ई. को ईरान के तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने से विश्व में एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई।

तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण—पश्चिमी एशिया की राजनीति में तेल राजनीति, पाश्चात्य देशों के लिए महत्वपूर्ण रही है। ईरान के तेल उद्योग का प्रबन्ध ब्रिटेन की कम्पनियों के नियंत्रण में रहा था। यद्यपि 1932 ई. में रायल्टी के प्रश्न पर ब्रिटेन एवं ईरान के मध्य मतभेद उत्पन्न हुए और ब्रिटेन ने सैनिक कार्यवाही द्वारा इसका हल निकालने के लिए युद्ध की तैयारी भी आरम्भ कर दी किन्तु राष्ट्रसंघ के प्रयासों से रायल्टी की दर निश्चित कर दी गई। इसमें ईरान को लाभ देते हुए 60 वर्ष के लिए ब्रिटेन को तेल का पट्टा दिलवा दिया गया। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ईरान में राष्ट्रीयता की भावना उग्र होने से ईरान के लोग ब्रिटेन के तेल प्रबन्ध को ईरान में ब्रिटेन का राजनीतिक आर्थिक हस्तक्षेप मानने लगे थे। इसीलिए 22 अक्तूबर, 1947 ई. को मजलिस ने तेल उद्योग के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित कर 5 वर्षों के लिए तेल की खोज का कार्य, प्रबन्ध तथा उपयोग के लिए ईरान के एकाधिकार को स्वीकृति प्रदान कर दी। इसके साथ ही प्रस्ताव में तेल विशेषज्ञों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए विशेषज्ञों का प्रबन्ध तटस्थ राष्ट्रों द्वारा किये जाने का उल्लेख किया गया। इसी प्रस्ताव में मिश्र को तेल का ठेका अथवा साझा देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए।

1949 ई. में ही ईरान और ब्रिटिश तेल कम्पनी के मध्य 50% रायल्टी पर समझौता किया गया। किन्तु ईरान के राष्ट्रवादियों ने इसे राष्ट्रविरोध के रूप में देखा। उन्हें डर था कि इस तेल के मार्ग से ब्रिटेन पुनः ईरान पर छा नहीं जाये। अतः मजलिस ने इस पर विचार करने के लिए डॉ. मुहम्मद मुसद्दिकी की अध्यक्षता में एक तेल आयोग गठित कर दिया। इस आयोग ने 1950 ई. में मजलिस के सम्मुख रिपोर्ट रखते हुए तेल के राष्ट्रीयकरण का सुझाव प्रस्तुत किया। ईरान में उग्र राष्ट्रवादियों द्वारा 7 मार्च, 1951 ई. में प्रधानमंत्री नज्म आरा की हत्या ने मजलिस को भयभीत कर दिया था। इसीलिए 8 मार्च 1951 इ. को तेल आयोग के सुझाव पर तेल का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। मार्च के अन्त तक मजलिस तथा सीनेट ने राष्ट्रीयकरण बिल को पारित कर दिया। शाह को विवश होकर यह विधेयक स्वीकार ही नहीं करना पड़ा अपितु डा. मुसद्दिकी को प्रधानमंत्री भी नियुक्त करना पड़ा।

ईरान की इस कार्यवाही से ब्रिटेन ईरान से नाराज हो गया। अतः उसने तकनीकी कर्मचारियों को ब्रिटेन में बुलवा लिया। वह मानता था कि विशेषज्ञों के अभाव में राष्ट्रीयकरण योजना असफल हो जायेगी किन्तु ईरान ने एंग्लो ईरानियन तेल कम्पनी के स्थान पर ईरानियन नेशनल आयल कम्पनी की स्थापना कर तेल उद्योग का संचालन अपने हाथों में ले लिया। ब्रिटेन इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और बाद में सुरक्षा परिषद तक ले गया किन्तु कोई हल नहीं निकला। अतः ब्रिटेन ने ईरान का आर्थिक बहिष्कार कर उसकी आर्थिक नाकेबन्दी करने की नीति अपनाई। ब्रिटेन की इस कार्यवाही ने ईरान के तेल उद्योग को घाटा पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन ने डा. मुसद्दिकी के विरोधियों को भी उकसाना प्रारम्भ किया। इससे डा मुसद्दिकी को और अधिक लाभ मिला। वह मजलिस का लोकप्रिय नेता बन गया और छ महिने के लिए मजलिस ने उसे असीमित अधिकार प्रदान कर ईरान का तानाशाह बना दिया। डा० मुसद्दिकी के असीमित अधिकार ही उसका पतन का कारण बन गए। शाह पहले से ही मुसद्दिकी का विरोधी था। अब जनता में भी उसकी तानाशाही प्रवृति के कारण सम्मान घटने लगा।। अतः शाह ने देश की अव्यवस्थित आर्थिक स्थिति का बहाना लेकर मुसद्दिकी के स्थान पर जनरल फजल्ला जेहदी को प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया। अमेरिका भी मुसद्दिकी को हटाने के पक्ष में था। इसलिए 16 अगस्त, 1953 ई. को जेहदी ने जब मुसद्दिकी को कैद करने का प्रयत्न किया तो ईरान में एक आन्दोलन उमड़ पड़ा। जेहदी को अपनी रक्षा के लिए भूमिगत होना पड़ा तो शाह और रानी देश छोड़कर भाग गए। ईरान में शाह की मूर्तियां तोड़ दी गई। आंदोलनकारी मुसद्दिकी को

गणराज्य का अध्यक्ष बनाने की तैयारियों में लग गए। परन्तु ईरानी सेना परिवर्तन के पक्ष में नहीं थी अतः आन्दोलनकारियों और सेना में एक दिन के युद्ध के पश्चात मुसद्दिकी को कैद कर लिया गया। 22 अगस्त 1953 ई. को शाह पुनः ईरान लौट आया। मुसद्दिकी पर देशद्रोह का मुकदमा चलाकर तीन वर्ष का कठोर दण्ड और उसके सहयोगियों को मृत्यु दण्ड दिया गया। यद्यपि 1956 ई. में मुसद्दिकी को छोड़ दिया गया किन्तु इस समय तक ईरान शाह के नियंत्रण में आ चुका था। ईरान पर अमेरिका का आर्थिक नियंत्रण भी इस काल तक पूर्णतः स्थापित हो गया था।

इसके पश्चात जेहदी सरकार ने ब्रिटेन से कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित कर आठ विदेशी कम्पनियों के समूह को तेल का ठेका दे दिया। 3 अक्टूबर 1955 ई. को ईरान बगदाद संधि में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार ईरान फिर से पश्चिमी देशों के साम्राज्य का अदृश्यात्मक अंग बन गया। इससे रूस और अमेरिका के मध्य चलने वाले शीत युद्ध का एक केन्द्र ईरान भी बनने लगा। यद्यपि शाह ने 1956 ई. में रूस की यात्रा द्वारा रूस को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया किन्तु कोई वांछित परिणाम नहीं निकला।

1956 ई. में हुसैन आला की सरकार ने अपने देश के लिए द्वितीय सप्त-वर्षीय योजना का निर्माण किया किन्तु वह बेकारी की समस्या का निदान खोजने में असफल रहा। 1957 ई. में मीनूचिहर इकबाल को प्रधानमंत्री बनाया गया। पर उसके कार्यकाल में ईरान की दशा सुधार नहीं सकी। इसीलिए 1961 ई. से स्वयं शाह ने प्रयत्न आरम्भ कर दिये। शाह ने जमींदारी प्रथा को समाप्त कर 1962 ई. में भूमि सुधार कानून लागू किये। इससे किसानों को राहत मिलने लगी। अमेरिका की आर्थिक सहायता के बल पर ईरान में सीमेंट, मछली, तम्बाकू और रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हुई किन्तु उसकी आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार तेल का विक्रय ही था। ईरान में आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ रजाशाह पहलवी द्वितीय ने विश्वविद्यालय स्थापित कर शिक्षा की प्रगति के लिए भी प्रयत्न किये। श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए श्रम कानून बनाये गए तथा श्रमिक संगठनों को भी मान्यता दी गई। पर इन सुधारों के स्थायी होने से पूर्व ईरान में एक क्रान्ति हो गई। अयातुल्लाह खोमेनी के नेतृत्व में ईरान पर इस्लाम-वाद का प्रभाव बढ़ता गया और अन्ततः शाह को सपरिवार ईरान छोड़ कर (1979 ई.) पुनः भागना पड़ा। विदेश में ही शाह की मृत्यु हो गई। आज ईरान का शासन इस्लामी क्रान्तिकारी परिषद के हाथों में है जो अपनी नीतिगत संकीर्णता के कारण इराक से युद्ध में उलझी हुई है। एक प्रकार से व्यवस्थात्मक द्वन्द आज भी ईरान में मौजूद है। इसीलिए इस द्वन्द का लाभ उठाकर कोई शक्ति पुनः ईरान पर नियंत्रण स्थापित न करले इसमें संदेह नहीं है।

13

दक्षिण-पूर्वी एशिया का जागरण

दक्षिण-पूर्वी एशिया शब्द का प्रचलन सर्वप्रथम द्वितीय महायुद्ध के मध्य अगस्त 1943 ई. में क्यूबेक सम्मेलन द्वारा हुआ था। बर्मा, थाइलैण्ड, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, फिलिपाइन्स, हिन्देशिया, मलेशिया और सिंगापुर के सम्मिलित भौगोलिक क्षेत्र को जापान से मुक्त कराने के लिये मित्र राष्ट्रों द्वारा एडमिरल माउन्टबैटन की अधीनता में "दक्षिणी—पूर्वी एशिया कमान" उल्लेखित सम्मेलन द्वारा स्थापित की गई थी। भारत के दक्षिण-पूर्व में स्थित इन देशों की भौगोलिक स्थिति भी इस नाम को सार्थक करती है।

मध्यकाल के प्रारम्भ में उक्त देशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्रधानता थी। चौदहवीं शताब्दी में यहां के हिन्दू और बौद्ध नरेशों की निर्बलता का लाभ उठाते हुए अरब-मुस्लिम व्यापारियों ने फिलिपाइन्स, मलक्का और हिन्देशिया में अपने अपने राज्य स्थापित कर दिये। मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात् इन देशों में इस्लाम धर्म का तेजी के साथ विकास हुआ किन्तु हिन्दू और बौद्ध धर्म सर्वथा समाप्त नहीं हुआ, आज भी इन देशों में पौराणिक धर्म और बौद्ध धर्म के अनुयाई विद्यमान है।

पश्चिमी देशों का सम्पर्क—1511 ई. में पुर्तगाल का नागरिक अल्बुकर्क मलाया पहुंचा और इसने मलक्का बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भ में पुर्तगालियों का ध्येय गर्म मसालों का व्यापार करना था किन्तु हिन्दू और मुस्लिम शासकों की निर्बलता का लाभ उठाकर इन व्यापारियों ने राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना आरम्भ कर दिया। 1521 ई. में स्पेन राज्य की सेवा में कार्यरत फर्डीनेंड मैंगल नामक नाविक फिलीपाइन्स द्वीप समूह में जा पहुंचा। इसकी खोज यात्रा ने 1565 ई. में स्पेन को सीबू द्वीप में एक स्पेनिश बस्ती बसाने के लिए प्रेरित किया। 1571 ई. में स्पेनिश नगर मनीला की स्थापना हुई। शनैः-शनैः सम्पूर्ण फिलीपाइन्स पर स्पेन का अधिकार हो गया। 1898 ई. तक फिलीपाइन्स द्वीप समूह स्पेन के अधिकार में रहा तत्पश्चात् इस पर अमेरिका का अधिकार

हुआ। 16 वीं शताब्दी के अन्त में डचों (हालैण्ड निवासी) ने भी टीन, रबड़ और गर्म मसालों के व्यापार हेतु इस क्षेत्र में प्रवेश किया। इस व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में राजनीतिक संघर्ष को उत्पन्न किया। फलतः डच लोगों ने पुर्तगालियों को परास्त कर 1641 ई. में मलक्का के बन्दरगाह को छीन लिया तथा जावा में बटेविया को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण हिन्देशिया पर डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अधिकार कर लिया। डच लोगों के पश्चात् अंग्रेज भी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से मलाया में पहुंचे। इन्होंने अपनी विस्तारवादी नीति से 1909 ई. तक सम्पूर्ण मलाया प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके साथ-साथ बर्मा पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। साम्राज्यवाद की दौड़ में फ्रांस ने भी कम्बोडिया, लाओस तथा वियतनाम (हिन्द चीन या इन्डोचायना) में अपना प्रभाव जमा दिया। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के 9 देशों में थाइलैण्ड (श्याम) ही ऐसा देश था जो स्वतन्त्र बना रहा था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक इस क्षेत्र में चार शक्तियां क्रमशः अमेरिका (फिलीपाइन्स द्वीप), फ्रांस (कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम), इंगलैण्ड (मलाया, सिंगापुर, बर्मा) तथा हालैण्ड (हिन्देशिया) विद्यमान थीं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् रूस की बोल्शविक क्रान्ति (1917 ई.), भारत के स्वतन्त्रता संग्राम तथा पाश्चात्य विचारों के प्रभाव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में राष्ट्रीय जागृति को जन्म दिया। यद्यपि साम्राज्यवादी ताकतों के सम्मुख यह जागृति धराशायी हो गई किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में विजय अभियान चलाया तो स्थानीय जनसहयोग प्राप्त करने, विजित क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन स्थापित कर दिया। स्थानीय स्वशासन के स्वाद ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वतन्त्र भावना को प्रबल कर दिया। जब जापान को परास्त कर पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने अपना नियंत्रण स्थापित किया तब उनके सम्मुख विकट समस्या उमड़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने की थी। न तो राष्ट्रीय आन्दोलन दबे और न अधिक समय तक उनका साम्राज्य स्थापित रह सका। अन्ततः एशिया की जागृत लहर में उनका दमन बिखर गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में सर्वप्रथम स्वाधीन होने वाला देश फिलीपाइन्स था। 4 जुलाई 1946 ई. को अमेरिका द्वारा इसे स्वतन्त्र कर दिया गया तत्पश्चात् 4 जनवरी 1948 ई. को बर्मा, 27 दिसम्बर 1949 ई. में हिन्देशिया, 9 नवम्बर 1953 ई. में कम्बोडिया को स्वतन्त्रता मिली। 1 जुलाई 1954 ई. के जेनेवा सम्मेलन के फलस्वरूप उत्तरी वियतनाम, दक्षिण वियतनाम और लाओस को स्वतन्त्रता दी गई। 31 अगस्त 1957 ई. में मलेशिया ने और 9 अगस्त 1965 ई. में सिंगापुर ने अपने को संप्रभु घोषित किया। द्वितीय युद्ध के पश्चात् लगभग दस वर्षों में दक्षिण-पूर्वी एशिया साम्राज्यवाद से मुक्त हो कर स्वशासन के पथ पर अग्रसर हो गया। इन देशों में

प्रतिनिधित्व की दृष्टि से हिन्देशिया और मलेशिया के जागरण की व्याख्या ही हम यहां करेंगे।

(1) हिन्देशिया में राष्ट्रवादी लहर—1789 ई. में फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस की क्रान्तिकारी सेनाओं ने हालैण्ड को जीत लिया और वहां भी एक क्रांतिकारी सरकार की स्थापना कर दी। इस सरकार ने 1798 ई. में डच ईस्ट इन्डिया कम्पनी का अन्त कर हिन्देशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा युद्धकाल मे फ्रांस और उसके अधीनस्थ राज्यों के लिए संभव नहीं रहा कि वे समुद्र पार के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित रख सके। अत: ब्रिटेन की समुद्र शक्ति के सम्मुख फ्रांस अधिक ठहर नहीं पाया और ब्रिटेन ने हिन्देशिया पर 1811 ई. में अधिकार कर लिया। हिन्देशिया में ब्रिटेन का प्रभुत्व 1819 ई. तक रहा तत्पश्चात् 1815 ई की वी एना-कांग्रेस के निर्णयानुसार यह प्रदेश पुन: हालैंड को सौंप दिया (1819) गया।

1819 ई. में हालैण्ड के द्वारा पुन: अधिकार किये जाने के पश्चात् भी डच लोगों ने आर्थिक शोषण की नीति का परित्याग नहीं किया अत: सर्वप्रथम 18.5 ई. में जावा के लोगों द्वारा डच-शासन का विरोध किया गया। यह विरोधात्मक आन्दोलन पांच वर्ष तक चलता रहा। 1830 ई. में डच प्रशासन ने जावा के विरोध को कुचलकर अपना शासन स्थापित कर दिया। सुमात्रा की मुस्लिम जनता ने भी डचों के विरुद्ध आन्दोलन किये किन्तु इनको भी दबा कर डच सरकार ने वहां प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर लिया। वोर्नियो द्वीप के चीनी लोगों के उपद्रवों का दमन करने में डच लोगों को लम्बा संघर्ष करना पड़ा। 1880 ई. में वोर्नियो की चीनी वस्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो सका। बाली द्वीप पर जावा की अधीनता के साथ ही प्रभुत्व स्थापित कर दिया गया था। पर 1908 ई. में वहां की हिन्दू जनता ने डच शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और इसे शान्त करने में डचों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार सेलेवस द्वीप मे भी डचों को पूर्ण शक्ति लगानी पड़ी। इस द्वीप में अनेक मुस्लिम सुल्तानों का शासन था जिन्होंने जनता के साथ डचों का मुकाबला किया। अन्त में डचों ने इनको परास्त कर अपना प्रभुत्व कायम किया। 1931 ई. में समस्त बोर्नियो पर हालैण्ड का अधिकार हो गया। इन सभी से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्देशिया के विविध द्वीपों के निवासियों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। उन्हे डच लोगों का शासन पसन्द नहीं था। किन्तु हिन्देशिया में एकता नहीं थी अलग-अलग द्वीपों के विरोध को हालैण्ड द्वारा दबाना आसान था। यदि इस समय सम्पूर्ण हिन्देशिया एक नेतृत्व में गठित होकर हालैण्ड के शासन का विरोध करता तो संभव था कि डच लोग हिन्देशिया को इस समय ही स्वाधीनता प्रदान कर देते।

डच प्रशासन का कल्चर सिस्टम—हालैण्ड को हिन्देशिया के द्वीपों पर राजनीतिक प्रभुसत्ता स्थापित करने तथा विद्रोहों को दबाने में बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। अतः डच सरकार ने इस क्षति की पूर्ति और अपने आर्थिक साम्राज्यवादी प्रसार के लिए हिन्देशिया को आर्थिक समृद्धि के साधन की दृष्टि से माध्यम मानते हुए एक नई आर्थिक पद्धति को लागू किया। यह पद्धति इतिहास में 'कल्चर सिस्टम' के नाम से प्रसिद्ध है। 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक हिन्देशिया की प्रधान फसल चावल थी और इस पैदावार का एक निश्चित हिस्सा सरकार मालगुजारी के रूप में किसानों से वसूल किया करती थी। अब नई पद्धति के अनुसार डच सरकार ने व्यवस्था की कि सब किसान अपनी जमीन के एक हिस्से में ईख और कॉफी बोया करें और यह हिस्सा मालगुजारी के रूप में सरकार को देय होगा। इस नीति को लागू करने का कारण यह था कि इस फसल की यूरोप में बहुत मांग थी और इसका क्रय मूल्य भी अच्छा था। इस नीति के फलस्वरूप किसानों को सरकार की फसल बोने और उगाने में ही अधिक समय और घर का पैसा नष्ट हो जाता था अतः अपनी फसल पर वे ध्यान नहीं दे सकते थे फिर इस फसल का कोई मूल्य भी उन्हें प्राप्त नहीं होता था। अतः इस पद्धति ने किसानों को निर्धन बना दिया। किसान डच सरकार के बेगारी हो गये। गन्ने का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में होने लगा कि डच लोगों ने चीनी तैयार करने की बड़ी-बड़ी मिलें कायम कर खूब लाभ कमाना शुरू किया। डच सरकारी अफसर भी किसानों की दयनीय अवस्था और सरकारी पद्धति का लाभ रिश्वत प्राप्त कर लेने लगे। क्योंकि किसान के खेत का सरकारी अनुपात और उपज का हिस्सा तय करना उन्हीं का काम था। इस तरह कल्चर सिस्टम ने हिन्देशिया के कृषकों की स्थिति अर्ध-दासों के समान कर दी जो अपनी ही जमीन पर दूसरों के लिए खेती करते थे अपनी मेहनत का कोई फल प्राप्त नहीं कर सकते थे।

कल्चर सिस्टम का विरोध—हालैण्ड में ऐसे लोग भी थे जो कल्चर सिस्टम की बुराइयों से अवगत थे। ऐसे विचारशील लोगों ने डच सरकार की इस कृषक-दमन-नीति का विरोध करना प्रारम्भ किया। 1848 ई. में उदारवादी पादरियों ने इस पद्धति के विरुद्ध आवाज उठाई। इसके पूर्व विएना कांग्रेस (1814–15 ई.) में दास प्रथा समाप्त करने के लिए एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया था। 1860 ई. में अमेरिका में भी इस प्रथा का अन्त कर दिया गया था। हालैण्ड के उपनिवेश हिन्देशिया में किसान दास-सदृश ही थे। अतः विचारशील लोगों, उदार पादरियों तथा हिन्देशियावासियों ने जब इस ओर अपना विरोध प्रकट करना शुरू किया तो कुछ डच अफसरों ने भी इनका साथ दिया। हिन्देशिया में नियुक्त एक डच अफसर ने तो इस प्रथा के खिलाफ एक उपन्यास तक लिख दिया। इस उपन्यास ने

हालैण्ड में लोगों का ध्यान हिन्देशिया में सरकारी शोषण की ओर खिचा परिणाम-स्वरूप हालैण्ड में इस प्रथा के विरुद्ध आवाजें उठने लगी। देश के अन्दर और बाहर जन विरोध को देखते हुए डच सरकार ने 1870 ई. में कल्चर सिस्टम को समाप्त कर दिया। हिन्देशिया के कृषक अब इच्छानुसार खेती करने के लिए स्वतन्त्र कर दिये गये। इस तरह बाधित श्रम और डच पूंजीपतियों के शोषण से मुक्त किसानों की आर्थिक दशा को सुधारने में डच सरकार की इस घोषणा का सर्वत्र स्वागत किया गया। किन्तु डच सरकार ने इसके पश्चात जिस नीति को लागू किया वह आर्थिक शोषण का दूसरा रूप था फिर भी इस नीति ने हिन्देशिया में आर्थिक प्रगति के मार्ग को अवश्य प्रशस्त किया।

ईथिकल पोलिसी या नैतिक नीति—कल्चर सिस्टम के स्थान पर जिस नई नीति को लागू किया गया, वह ईथिकल पोलिसी कहलाती है। इस नीति का मुख्य उद्देश्य हिन्देशिया के निजी क्षेत्र के व्यवसायों और उद्योगों को प्रोत्साहन दे कर लोगों की आर्थिक दशा को सुधारना था ताकि लोगों का भला हो। डच सरकार की इस नैतिक जागृति के कारण ही इस नीति को नैतिक नीति कहा गया किन्तु इस नीति के पृष्ठ में मात्र नैतिक भावना ही नहीं थी अपितु साम्राज्यवादी स्वार्थ भी जुड़े हुए थे। डच शासक सोचने लगे कि यदि इस उपनिवेश का भली-भांति विकास न किया गया तो यह बड़ी आसानी से अन्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार बन सकता है। इन देशों में सबसे अधिक भय जापान से था जो कि 20 वीं सदी के प्रथम दशक में साम्राज्यवादी देश के रूप में उभरने लगा था। इस प्रकारेजन असंतोष और उपनिवेश के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये 'नैतिक नीति' के अन्तर्गत हिन्देशिया का विकास मार्ग प्रशस्त हो गया।

डच प्रशासन द्वारा आर्थिक-विकास कार्यक्रम – उल्लेखित नीति के अन्तर्गत भूमि का सर्वेक्षण कराया गया तथा अलग-अलग क्षेत्रों में उपलब्ध खनिज सम्पदा का पता लगाया गया। सड़कों और रेल मार्गों का निर्माण कराया गया। जल मार्गों को सुधारा गया। कृषि की उन्नति की दिशा में कई योजनाएं बनाई गई। मछली पालन और पशु पालन के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की गई। सार्वजनिक स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

डच सरकार के इन प्रयासों से हिन्देशिया में पुनः चावल, ईख, काफी, तमाखू और चाय की खेती से कृषक समृद्ध होने लगे। साथ-साथ विश्व में मसालों की मांग की पूर्ति करने के लिए मसालों के उत्पादन और उसके विदेशी व्यापार को उन्नत किया गया। मसालों के अतिरिक्त कुनीन की पैदावार को बढ़ाया गया और विश्व में हिन्देशिया की कुनीन ने एकाधिकार स्थापित कर लिया। डच लोगों ने हिन्देशिया के विभिन्न द्वीपों में पैदा होने वाले रबड़-व्यवसाय की ओर भी ध्यान

दिया फलस्वरूप सुमात्रा के पूर्वी तट पर इतना अधिक रबड़ पैदा होने लगा कि हिन्देशिया के निर्यात माल में उसकी मात्रा अन्य किसी भी प्रकार के माल से कम नहीं रही। इस व्यापार में ब्रिटिश उपनिवेश मलाया के मुकाबले हिन्देशिया का रबड निर्यात अधिक बढ़ गया। खेती और जंगल की पैदावार की दृष्टि से हिन्देशिया समृद्ध था ही बाद में डच सरकार के प्रयास से पेट्रोलियम उत्पादन भी बढ़ने लगा। सुमात्रा और बोर्नियो में पेट्रोलियम की उपलब्धि के फलतः इन द्वीपों में बहुत से कुए खुदवाये गये। टिन भी बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध होने लगा परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में मलाया के पश्चात् हिन्देशिया ने स्थान ले लिया। कल्चर सिस्टम के अन्तर्गत ईख की प्रचुर खेती के कारण हिन्देशिया मे शक्कर की मिलें स्थापित हुई थी। नैतिक नीति में नीजी क्षेत्र में और मिलें खोली गई अतः 1940 ई. तक विश्व में शक्कर उत्पादन का 5 प्रतिशत उत्पादन केवल जावा में होने लगा था।

हिन्देशिया की इस आर्थिक विकास और सम्पन्नता से आकर्षित होकर इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, अमेरिका आदि देशों ने वहां काफी मात्रा में अपनी पूंजी लगाई। इस प्रकार हिन्देशिया में हालैण्ड का आर्थिक एकाधिकार समाप्त होने लगा और हिन्देशिया का व्यापारिक सम्बन्ध अन्य देशों से कायम हुआ। जापान भी आर्थिक दृष्टि से अधिक उन्नति कर चुका था अतः उसका भी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ कि हिन्देशिया में उसका व्यापार विकास करे। उसका माल पाश्चात्य देशों के माल के मुकाबले में बहुत सस्ता पड़ता था अतः हिन्देशिया के बाजारों में जापानी माल की मांग बड़ी तेजी से बढ़ने लग गई। व्यापार-वृद्धि के साथ-साथ जापानी लोगों में हिन्देशिया के प्रति साम्राज्य-प्रसार की भावना विकसित होने लगी थी। इस प्रकार विदेशी व्यापार के प्रसार ने हिन्देशिया में आर्थिक जागृति के साथ-साथ राजनीतिक जागृति पनपने लगी।

शिक्षा का प्रसार और राष्ट्रीय चेतना का उदय—शिक्षा के प्रसार की ओर डच शासकों ने ध्यान दिया। नये ढंग से आधुनिक शिक्षा देने के लिए शिक्षणालयों का विस्तार किया गया और नये स्कूल खोले गये। इसके फलस्वरूप हिन्देशिया के लोगों में नवीन विचारों का विकास होने लगा। हिन्देशिया छोटे-छोटे द्वीप समूहों की भौगोलिक इकाई था, जिनको भाषा अलग-अलग थी और संस्कृति भी भिन्न-भिन्न थी। हालैण्ड द्वारा प्रारम्भ की गई नई शिक्षा-प्रणाली ने भाषा की एकता को स्थापित किया तो लोगों में पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान एवं पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि के माध्यम ने राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय किया। इसलिए डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में "निःसंदेह नैतिक नीति ने हिन्देशिया में नव-जागरण प्रारम्भ करने में बहुत सहायता की।" हिन्देशिया में आधुनिक शिक्षा ने लोगों में पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव को स्थापित किया और यूरोप के साहित्य, राजनीति और दर्शन द्वारा उनमें स्वतन्त्रता, समानता प्रजातन्त्र

आदि का ज्ञान जागने लगा। अनेक युवक जब आगे पढ़ने के लिये यूरोप और एशिया में गये तो वहां की राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रभाव भी उन पर पड़ा। पाश्चात्य देशों की तुलना में उनके देश की दशा ने भी उनमें क्रान्तिकारी विचारों को पैदा किया।

हिन्देशिया में स्वतन्त्रता-आन्दोलन—हालैण्ड में भी ऐसे राजनीतिक दल थे जो अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों के शासन में उदार नीति के पक्षपाती थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही हिन्देशिया में स्वतन्त्रता के आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। 1908 ई. में **बोदी उतोमो** नामक संगठन ने हिन्देशिया में आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक विकास के लिए कार्य प्रारम्भ किया। इस संगठन ने इस विकास कार्यक्रम द्वारा अपरोक्षतः लोगों की राजनीतिक चेतना को भी जगाया यद्यपि इस संगठन के प्रति सम्पन्न लोग ही आकर्षित हुए, आम जनता में इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। स्पष्टतः बोदी उतोमो भी टर्की के तरूण तुर्क आन्दोलन 1908 ई. से प्रभावित था। इसके पश्चात् भारत में मुस्लिम लीग की स्थापना के अनुरूप 1912 ई. में हिन्देशिया में भी सरेकत इस्लाम की स्थापना की गई। इस राष्ट्रीय संस्था का मुख्य उद्देश्य किसानों की दशा को सुधारना था किन्तु यह संस्था मुस्लिम स्वराज्य स्थापित करने की दशा में भी कार्य कर रही थी। इस सस्था का प्रभाव सम्पूर्ण हिन्देशिया में स्थापित हो गया। लाखों शहरी और ग्रामीण लोग इसके सदस्य बने। इसी समय मे प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रथम विश्व-युद्ध में सम्मिलित मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन, फ्रांस आदि) निरन्तर घोषित कर रहे थे कि उनका युद्ध ध्येय लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना का है जिनका हनन आस्ट्रिया और जर्मन ने किया है। फिर 1917 ई. में अमेरिका विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ तो उसके राष्ट्रपति विल्सन ने भी इसी सिद्धान्त की दुहाई दी। फलतः स्वाभाविक था कि पाश्चात्य राष्ट्रों की इन घोषणाओं का प्रभाव हिन्देशिया पर भी पड़े। 1917 ई. में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात साम्यवादी सरकार ने पश्चिमी साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने में एशिया के प्रत्येक देश को सहयोग देने की इच्छा व्यक्त की। इसी से प्रभावित 1920 ई. में हिन्देशिया साम्यवादी दल की स्थापना भी हुई। इस दल का उद्देश्य हिन्देशिया में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना था। इसी के प्रभाव से 1920 ई. में जावा और सुमात्रा में डच शासन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हुआ, यह विद्रोह अनेक वर्षों तक चला तथा इसका दमन करने में डच सरकार को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके उपरान्त 1927 ई. में डॉ. अहमद

बांद सदस्य पश्चिम में शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी थे। डा. सुकर्णो भी पश्चिम से इन्जिनियरिंग पढ़ कर आये थे। राष्ट्रवादी दल को मजबूत बनाने में सुकर्णो को अपने साथी मोहम्मद हट्टा से काफी सहयोग मिला था। इस दल ने भी हिन्देशिया में शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर जगह-जगह अपनी शाखाएं स्थापित कर दी। इस दल की नीति अधिक उदार थी। यह हिन्देशिया में एक लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना में विश्वास करता था। इस दल के आन्दोलन ने डच सरकार को विचलित किया। उसने दल को अवैध घोषित करते हुए दमनात्मक कार्यवाही का आश्रय लिया। डच सरकार के दमन के परिणामतः 1929 ई. में डा. सुकर्णो को अपने साथी हट्टा सहित जापान जाना पड़ा। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक डच सरकार राष्ट्रवादियों का दमन करती रही वहां उसने स्वतन्त्रता आन्दोलन की कार्यवाहियों को रोकने कुछ शासन सुधार भी किये।

हिन्देशिया में शासन सुधार—1916 ई. में फोल्क्सराड (संसद) की स्थापना कर उसे कानून और शासन के मामलों में परामर्श देने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार अधिकार विहीन यह सभा मात्र परामर्शदात्री सभा थी। इन परामर्शों पर सरकार का ध्यान देना आवश्यक नहीं था फिर भी इस संस्था ने राजनीतिक जागरण और प्रशासन के विरोध में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इस संस्था की राजनीतिक आलोचनाओं से प्रभावित होकर 1927 ई. में डच सरकार ने हिन्देशिया में शासन सुधार किया। इस समय व्यावहारिक विधान सभा का निर्माण किया गया जिसके दो तिहाई सदस्य निर्वाचित होते थे। शेष एक तिहाई सदस्यों को डच सरकार मनोनीत करती थी। इन मनोनीत सदस्यों में 50 प्रतिशत डच, 45 प्रतिशत हिन्देशिया के निवासी तथा 5 प्रतिशत हिन्देशिया में निवास करने वाले अन्य विदेशी होते थे। विदेशी लोगों में प्रधानतः चीनी और अरब लोगों का स्थान था। विधान सभा का अध्यक्ष डच सरकार द्वारा नियुक्त होता था।

हिन्देशिया के शासन संचालन करने के लिए एक सिविल सेवा का संगठन किया हुआ था। जिसमें डच लोग ही नियुक्ति प्राप्त कर सकते थे। किन्तु लोगों का इस सेवा के प्रति आक्रोश देखते हुए हिन्देशिया के लोगों को सिविल सेवा में भर्ती किया जाने लगा। 1941 ई. तक इस सेवा में 84% कर्मचारी हिन्देशिया के थे। किन्तु उच्च सेवाओं में अभी तक डच एकाधिकार कायम था। अतः लोगों में इसका विरोध बराबर बना रहा। 1927 ई. में शासन सुधारों द्वारा डच सरकार ने यह भी प्रयत्न किया कि हिन्देशिया को अनेक प्रांतों में विभक्त कर उनमें प्रांतीय स्वायत्त शासन की स्थापना कर दी जावे। पर हिन्देशिया के नेता और राजनीतिक दल इन सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे। वे देश की स्वतन्त्रता के लिए अधिक जोर दे रहे थे। इन सुधारों के पृष्ठ में डच सरकार का आशय चाहे 'फूट डालो और राज्य

करों' का रहा हो किन्तु सम्पूर्ण हिन्देशिया में राष्ट्रीय एकता को बनाने में इन सुधारों का योगदान अवश्य रहा। विविध द्वीप सदियों के पश्चात् एक विधान सभा में एकत्रित हुए और यहां उन्होंने पारस्परिक विद्वेषों को भूलाकर एक राष्ट्र की दृष्टि से सोचना प्रारम्भ किया।

द्वितीय विश्व युद्ध और हिन्देशिया— द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मन ने हालैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस को परास्त कर दिया तो उसके मित्र देश जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में इस राजनीतिक रिक्तता का लाभ उठाते हुए इस प्रदेश के देशों में सैनिक अभियान शुरू कर दिये। जापान 7 दिसम्बर 1941 ई. को द्वितीय विश्व युद्ध में सम्मिलित हुआ था और 12 मार्च 1942 ई. को उसने हिन्देशिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। दक्षिण:पूर्वी एशिया के अन्य देशों की तरह हिन्देशिया में भी जापान ने प्रभुत्व स्थापित करते हुए शान्ति और व्यवस्था के नाम पर, सैनिक शासन की स्थापना कर वहां जापानी सैनिक अधिकारी नियुक्त कर दिये। इन सैनिक शासकों ने जब इन प्रदेशों में व्यवस्था कायम कर दी तो विश्व युद्ध के मध्य में ही सर्वत्र 'स्वराज्य' की स्थापना कर वहां के नेताओं को शासन की बागडोर देते हुए पारस्परिक मैत्री-सुरक्षा की सन्धियों द्वारा मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध दक्षिण-पूर्वी एशिया को युद्ध में उतार दिया। हिन्देशिया में भी सैनिक शासन स्थापित करते हुए जापान की सरकार ने घोषणा की थी कि जापान का उद्देश्य वहां स्वाधीन सरकार की स्थापना का है। इसीलिए जापान में निर्वासित डॉ सुकर्णो जैसे नेताओं और हिन्देशिया की जनता ने भी जापान का साथ दिया। डॉ सुकर्णो के नेतृत्व में जापान ने 1943 ई. में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर अपने वचन को पूरा किया। यद्यपि इसमें जापान का आर्थिक स्वार्थ था परन्तु राजनीतिक दृष्टि से एशिया एशिया वालों के लिए, पश्चिमी देशों के लिए नहीं—के जापानी नारे ने दक्षिण-पूर्वी एशिया मे एक हलचल मचा दी थी। अन्य एशियन देशों के समान हिन्देशिया भी जापान को मुक्ति दाता के रूप में देख रहा था अतः डॉ सुकर्णो ने राष्ट्रीय सेना का निर्माण कर उसे जापान की सहायतार्थ लगा दिया। अगस्त 1945 ई. के पूर्व तक डॉ सुकर्णो के नेतृत्व में हिन्देशिया का शासन अच्छी प्रकार व्यवस्थित हो गया था। किन्तु डच की निर्वासित सरकार ने इंगलैण्ड में रहते हुए प्रयत्न किया कि वह युद्ध समाप्त होने के पश्चात् हिन्देशिया को स्वायत्तता प्रदान करने की कार्यवाही करेगी। इस उद्घोषणा का हिन्देशिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि थोथे पाश्चात्य आदर्श को वे प्रथम विश्वयुद्ध में देख चुके थे।

विश्व युद्ध के पश्चात्—द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की पराजय होने पर हिन्देशिया पर पुनः अधिकार करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द किया गया था। इस सेना को निर्देश दिया गया कि हिन्देशिया के जो द्वीप मित्र-सेनाओं के

अधिकार में आते जाएं, उन्हें पुनः डच सरकार के शासन में दे दिया जाय। इसके लिए हालैण्ड सरकार ने "नीदरलैण्डस इन्डीज सिविल एडमिनिस्ट्रेशन" नामक संगठन का निर्माण किया था। हिन्देशिया के जो-जो द्वीप ब्रिटिश सेना के अधिकार में आते गए उन पर इस संगठन का शासन स्थापित कर दिया गया। किन्तु जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इन्डोनीसियन रिपब्लिक का शासन सुकर्णो के नेतृत्व में सुव्यवस्थित रूप से स्थापित था। अतः ब्रिटिश सेना ने यहां आकर जापानी अधिकारियों, सैनिकों और नागरिकों को तो अपने कब्जे में ले लिया पर उन्होंने इन्डोनीसियन रिपब्लिक सरकार का प्रतिरोध करना उचित नहीं समझा। इसका कारण डॉ. विद्यालंकार के अनुसार ब्रिटिश सेनाओं की बुद्धिमता पूर्ण नीति था क्योंकि इस सरकार के प्रतिरोध का अर्थ पुनः जनशक्ति से युद्ध था। फिर हिन्देशिया के इन द्वीपों ने स्वराज्य का उपभोग कर लिया था अतः वे पुनः पराधीन होना नहीं चाहते थे।

स्वतन्त्रता-संघर्ष का तृतीय चरण—जापान के आत्म-समर्पण के दो दिन पश्चात् 17 अगस्त 1945 ई. को हिन्देशिया में स्वतन्त्र गणराज्य की घोषणा हो चुकी थी। डॉ. सुकर्णो राष्ट्रपति, हट्टा उपराष्ट्रपति तथा सहरीर प्रधानमन्त्री बनाये गये। 135 सदस्यों की एक राष्ट्रीय समिति बनाई गई। इस प्रकार हिन्देशिया में 1946 ई. तक दो सरकारें कायम हो गई। डॉ. सुकर्णो के नेतृत्व वाली की रिपब्लिक (सुमात्रा, जावा और मदुरा द्वीप) तथा अन्य द्वीपों पर नीदरलैण्ड इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन का शासन था। इस सिविल एडमिनिस्ट्रेशन ने अधिकृत द्वीपों में उसी ढंग का शासन फिर से स्थापित कर लिया, जैसाकि 1942 ई. के पूर्व डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी का था। सिविल एडमिनिस्ट्रेशन की सेनाओं ने स्वतन्त्र गणराज्य पर आक्रमण कर इसे समाप्त करने का प्रयास किया किन्तु उसको सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह था कि सम्पूर्ण हिन्देशिया की आबादी का दो तिहाई भाग जावा और मदुरा के द्वीपों में रहता था अतः जनसंख्या की दृष्टि से 66% से भी अधिक लोग रिपब्लिकन सरकार के शासन में थे। यह लोग डच प्रतिरोध के लिये पूर्णतः तैयार थे। फिर स्वराज्य काल में गणतन्त्र की राष्ट्रीय सेना का निर्माण हो चुका था जो डच सेना का विरोध करने में सक्षम थी। इस सेना ने डच सेना का डटकर मुकाबला किया। 17 जनवरी 1946 ई. को यूक्रेन ने हिन्देशिया का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध के कारण किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं हो पाई। इसी मध्य डच सरकार और हिन्देशिया गणराज्य मे समझौता कराने के लिए भी कई प्रयास हुए परन्तु डच सरकार की हठधर्मिता के कारण कोई सफलता नहीं मिल सकी। किन्तु 15 नवम्बर 1946 ई. को ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता के फलस्वरूप दोनों में सामयिक रूप से युद्ध रोकने की सन्धि हो गई। अब इस बात का

प्रयत्न आरम्भ हुआ कि परस्पर बातचीत द्वारा हिन्देशिया के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था का निर्धारण किया जाय जो कि दोनों पक्षों को मान्य हो।

लिंगयाती समझौता (Linggadjati Agreement)—25 मार्च 1947 ई. को हिन्देशिया गणराज्य और डच सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जो लिंगयाती समझौते के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार निश्चय किया गया कि—(1) हिन्देशिया के जिन प्रदेशों पर डा. सुकर्णो की गणतन्त्र सरकार का कब्जा है उसे स्वतन्त्र हिन्देशिया गणतन्त्र के रूप मे स्वीकार किया जाता हैं। (2) दक्षिण-पूर्वी एशिया में डच सरकार की अधीनता वाले अन्य प्रदेश 'विशाल पूर्व' नामक गणराज्य के रूप में संयुक्त कर, हिन्देशिया गणतन्त्र और विशाल पूर्व गणराज्य को एक राजनीतिक इकाई के रूप में एकत्रित किया गया। दोनों गणराज्य की संयुक्त व्यवस्था को 'हिन्देशिया का संयुक्त राज्य संघ' कहा गया। इस राज्य संघ में विविध राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की गई। परन्तु केन्द्रीय शासन के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर संघ सरकार का नियन्त्रण रखा गया। (3) बोर्नियों में पृथक् गणराज्य स्थापित करने का निश्चय किया गया। (4) हिन्देशिया संयुक्त राज्य संघ और हालैण्ड को मिलाकर 'यूनियन' कायम किये जाने की व्यवस्था हुई। विदेशों से सम्बन्ध, सेना आदि विषय इस यूनियन के अधीन रखे गये।

इस प्रकार लिंगयाती समझौते के अनुसार हिन्देशिया राज्य संघ के अन्तर्गत तीन गणतन्त्र सम्मिलित किये गये जिनमें दो पर प्रत्यक्षतः नीदरलैण्ड इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन का शासक था। इसके अतिरिक्त हिन्देशिया राज्य संघ की परराष्ट्र नीति और सेना आदि पर हालैण्ड का प्रभाव स्थापित हो जाता था। इस दशा में अनेक राष्ट्रवादी नेता लिंगयाती समझौते से असन्तुष्ट थे। परिणाम यह हुआ कि समझौता लागू होने के पूर्व ही हिन्देशिया गणतन्त्र और डच सेनाओं में पुनः संघर्ष शुरू हो गया। एक ओर युद्ध तथा दूसरी ओर डच सरकार ने हिन्देशिया मे पार्थक्य आन्दोलन को भड़काने की कार्यवाही को तेज कर दिया। इसी के फलस्वरूप अप्रेल 1947 ई. को हिन्देशिया गणतन्त्र के एक द्वीप जावा ने विद्रोह कर डच सैनिक संरक्षण में एक पृथक राज्य की स्थापना कर दी। मई 1947 ई. को पश्चिमी बोर्नियों को "संयुक्त राज्य इन्डोनेशिया" के अन्दर एक स्व-शासित प्रदेश घोषित करते हुए अगस्त में पूर्वी बोर्नियो को भी यही स्तर प्रदान किया गया। डच सरकार के निरन्तर सैनिक दवाव और हिन्देशिया की स्वतन्त्रता को नष्ट करने की कूटनीतिक चालों के विरोध में भारत और आस्ट्रेलिया ने यह मामला 1 अगस्त 1947 ई. को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के सम्मुख उपस्थित किया। सुरक्षा परिषद ने दोनों पक्षों से युद्ध रोकने की अपील करते हुए व्यवस्था दी कि हिन्देशिया की समस्यापर विचार करने एक कमेटी बनाई जाये जिसमें तीन सदस्य हों। इस कमेटी के

एक सदस्य को हालैण्ड मनोनीत करे, दूसरे को हिन्देशिया गणतन्त्र और दोनों सदस्य मिलकर तीसरे की नियुक्ति करे। हालैण्ड की ओर से बेल्जियम, हिन्देशिया गणतन्त्र की ओर से आस्ट्रेलिया और दोनों ने मिलकर अमेरिका को कमेटी का सदस्य निर्वाचित किया। इस कमेटी ने तत्काल युद्ध विराम कराते हुए 18 जनवरी 1948 ई को दोनों के मध्य "रेनविल" नामक एक समझौता कराया। यह समझौता लिंगयाती समझौते के अनुरूप ही था किन्तु इसमें हिन्देशिया में डॉ. सुकर्णो की सरकार वाले प्रदेशों को स्वतन्त्र गणतन्त्र में मानते हुए व्यवस्था की गई कि यह गणतन्त्र चाहे अलग या संयुक्त रूप से राज्य संघ में सम्मिलित हो सकता है। इस समझौते से भी दोनों पक्ष संतुष्ट नहीं थे क्योंकि जहां एक पक्ष पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में था वहां दूसरा हिन्देशिया में जाति-भेद, द्वीप-भेद आदि उत्पन्न कर वहां की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को हमेशा के लिए समाप्त करने की कार्यवाही में संलग्न था। इसमें डच सरकार को सफलता भी मिली। हिन्देशिया में गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया और इसका लाभ उठाते हुए दिसम्बर 1948 ई. को डच सेनाओं ने गणतन्त्र की राजधानी जोगजकार्ता को अधिकृत करते हुए डॉ. सुकर्णो आदि सहित कई नेताओं को बन्दी बना लिया।

विश्व के राष्ट्रों की सद्भावना और प्रयत्न – डच प्रशासन के क्रूर और अमानवीय व्यवहारों ने बाह्य सद्भावना को खोना शुरू कर दिया। विश्व में हालैण्ड के प्रति विरोध जागने लगा। सुरक्षा परिषद् ने संकटकालीन अधिवेशन द्वारा इस समस्या पर पुनर्विचार शुरू कर दिया और हालैण्ड से राजनीतिक बन्दियों को तत्काल मुक्त करने और दोनों पक्षों से युद्ध विराम की अपील की। चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना के पश्चात् अमेरिकन लोकमत के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया का महत्व अधिक बढ़ गया था और अमेरिकन सरकार इस क्षेत्र में बढ़ते साम्यवादी प्रभाव के प्रति चिन्तित थी। अतः जब अमेरिकन कांग्रेस ने भी अपनी सरकार पर हालैण्ड की भर्त्सना करने का जोर डाला तो अमेरिकन सरकार भी इस समस्या के प्रति जागरूक हो उठी। इसी समय में 20 जनवरी 1949 ई. को नई दिल्ली में हिन्देशिया की समस्या पर विचार करने पं. नेहरू के प्रयत्नों से एशियाई देशों के राजनेताओं का सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 19 राष्ट्रों के नेताओं ने भाग लिया। इन नेताओं ने सर्वसम्मति से हालैण्ड की भर्त्सना का प्रस्ताव पारित किया वहां हिन्देशिया की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए सयुक्त राष्ट्र संघ को इस समस्या को हल करने सुझाव प्रेषित किये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दिल्ली सम्मेलन के प्रस्ताव को क्रियात्मक और उचित मानते हुए, इस ओर प्रयत्न प्रारम्भ किया। इन परिस्थितियों में हालैण्ड के लिए विश्व जनमत की अवहेलना करना कठिन हो गया वहां हिन्देशिया के राष्ट्रवादियों ने छापामार युद्ध द्वारा डच शासन को परेशान कर दिया था। फलतः हालैण्ड को पुनः समझौते के लिए

तैयार होना पड़ा। 3 अगस्त 1949 ई. को दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया। इसके अनुसार हालैण्ड ने सैनिक कार्यवाही रोक दी और समस्त राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया। समस्या के समाधान के लिये हेग में गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया।

हेग सम्मेलन द्वारा समझौता—हेग की गोलमेज परिषद् ने 2 नवम्बर 1949 ई. को अपना कार्य समाप्त कर लिया। इसके निर्णय को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया। गोलमेज परिषद् के निर्णयानुसार हिन्देशिया को 16 राज्यों का संयुक्त राज्य हिन्देशिया घोषित कर डॉ. सुकर्णो के नेतृत्व को मान लिया गया। इसके साथ-साथ हालैण्ड की इसमें साझेदारी की दृष्टि से निर्णय लिया गया कि संयुक्त राज्य हिन्देशिया और हालैण्ड की यूनियन का अध्यक्ष हालैण्ड की साम्राज्ञी जूलियाना रहेगी। इस प्रस्तावित संघ सरकार में डच न्यूगिनी (पश्चिमी न्यूगिनी या इरियन) को सम्मलित नहीं किया गया। इस प्रकार लिंगयाती समझौते में और इसमें अन्तर यह रहा कि पहले हालैण्ड की संरक्षित सरकार सयुक्त राज्यों में थी। अब उन्हें स्वायत्तता प्रदान कर दी गई तथा सुकर्णो वाले गणतन्त्र राज्यों का इसमें सम्मिलत कर "सार्वभौम लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" की स्थापना कर दी गई। इस रिपब्लिक को अधिकार दिया गया कि वह अपने शासन विधान को स्वयं निर्माण करे और इसके लिये सविधान परिषद् का निर्वाचन कर अपना शासन संचालित करे। पर राष्ट्र मामलों में स्वतन्त्र रहे किन्तु विवादास्पद मामलों में हालैण्ड के साथ निर्णय पंच पद्धति द्वारा किया जावे। इस प्रकार हालैण्ड सरकार ने 27 दिसम्बर 1949 ई. को हिन्देशिया को सत्ता हस्तांतरित कर दी।

यह समझौता भी हिन्देशियाई नेताओं ने परिस्थितिवश किया था। यह नेता पश्चिमी इरियन पर अपना प्रभुत्व छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे फिर भी मौजूदा स्थिति में उन्हें स्वीकार करना पड़ा। इसी प्रकार, वे हिन्देशियाई संघ और हालैण्ड के सम्मिलित संघ (यूनियन) के लिए भी तैयार नहीं थे परन्तु उन्हें तैयार होना पड़ा क्योंकि हालैण्ड अपनी झूठी प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहता था। फिर भी इस समझौते ने हिन्देशिया के राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा को पूर्ण कर दिया था।

स्वतन्त्र हिन्देशिया की समस्याएं—27 दिसम्बर 1949 ई. को प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणतन्त्र के रूप में उदित होने के पश्चात् भी हिन्देशिया में कुछ समस्याएं विद्यमान थीं। इसमें दो समस्याएं प्रमुख थीं—(1) राष्ट्रीय एकता और (2) पश्चिमी न्यूगिनी पर हालैण्ड का प्रभुत्व। नये गणतन्त्र में डॉ. सुकर्ण उपराष्ट्रपति और हट्टा प्रधानमन्त्री थे। इन नेताओं ने अनुभव किया कि डचों की सुविधाओं के लिए विभिन्न इकाइयों द्वारा निर्मित संघीय ढांचा देश की उन्नति और राष्ट्रीय एकता में विशेष सहायक नहीं होगा। इस दृष्टि से देश मे नया सविधान तैयार किया

गया और 1954 ई. में संघात्मक शासन पद्धति के स्थान पर एकात्मक शासन प्रणाली स्थापित की गई। इस नई शासन व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्देशिया को "हिन्देशिया गणतन्त्र" घोषित किया गया। इस घोषणा ने हालैण्ड को चौंका दिया अतः उसने पुनः हिन्देशिया में फूट फैलाने का जाल विछाया फलतः एकात्मक पद्धति के विरुद्ध विद्रोह खड़े हो गये। यद्यपि इन विद्रोहों को दबाने के लिए गणतन्त्र सरकार ने कार्यवाही प्रारम्भ कर दी किन्तु इसके फलतः हालैण्ड और हिन्देशिया के संघ में दरारें पड़ गईं। 10 अगस्त 1954 ई. को हिन्देशिया इस संघ से अलग हो गया। इस प्रकार हालैण्ड का रहा-सहा सम्बन्ध भी हिन्देशिया से समाप्त हो गया।

इस एकात्मक गणतन्त्र के विरुद्ध सुमात्रा (1954 ई.) में तथा बोर्नियो (1955 ई.) में सैनिक क्रान्तियां खड़ी हो गईं। 1957 ई. तक इन आन्तरिक उपद्रवों ने स्थिति को यहां तक पहुंचा दिया कि राष्ट्रपति सुकर्णो की सत्ता केवल जावा और उसके समीप के प्रदेशों तक सीमित हो गई। इन क्रान्तियों के परिणाम-स्वरूप डॉ. सुकर्णो ने संसद की एक सदनीय व्यवस्था को भंग कर फरवरी 1957 ई में सैनिक शासन की घोषणा कर दी। इस प्रणाली के अन्तर्गत सुकर्णो राष्ट्रपति पद पर बने रहे और प्रशासन की मन्त्रणा हेतु 43 सदस्यों की एक राष्ट्रीय परामर्श-दात्री सभा का गठन किया गया। इस सभा में तीनों सेनाओं के प्रधान सेना-पतियों को भी सम्मिलित किया गया। डॉ. जुआन्डा को प्रधानमन्त्री बनाया गया।

इस प्रकार सैनिक शासन लागू कर डॉ. सुकर्णो ने विद्रोही सैनिक नेताओं के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया। यह सैनिक शासन 10 वर्ष तक प्रचलित रहा। इस काल में सुकर्णो ने आन्तरिक समस्याओं पर विजय प्राप्त कर देश की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। देश के शासन की सुव्यवस्था के लिये 12 जनवरी 1960 ई. को एक अध्यादेश द्वारा देश की समस्त राजनीतिक पार्टियों को समाप्त कर दिया। शासन की मन्त्रणा के लिए राष्ट्रीय सभा के स्थान पर "जनता परामर्शदात्री महासभा" का गठन किया। इस सभा में 283 सदस्य रखे गये। इन सदस्यों में 130 सदस्य विभिन्न राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते थे और 153 सदस्य विभिन्न वर्गों का। इस प्रकार डॉ. सुकर्णो 1966 ई. तक देश के सर्वेसर्वा बने रहे। यह काल हिन्देशिया के इतिहास में 'मार्ग-दर्शक प्रजातन्त्र' का काल कहलाता है। इसके मुख्य सिद्धान्त विचार विमर्श और अनुकूलन थे किन्तु अप्रत्य-क्षतः यह सभी अधिनायक प्रवृत्तियों से लिपटे हुए थे। इस काल में सुकर्णो चीन और पाकिस्तान जैसी विश्व की विचार संकीर्ण शक्तियों की लपेट में आ गये थे तो दूसरी ओर देश में साम्यवादियों के निरन्तर बढ़ते प्रभाव ने विश्व के दक्षिण पंथी देशों को सशंकित कर दिया था। इसके फलतः सुकर्णो के प्रभाव में दुर्बलता आने लगी और आन्तरिक विद्रोहों ने उनकी सत्ता को निर्बल कर दिया। 11 मार्च

1966 ई. को सेना के जनरल सुहार्त्तो ने हिन्देशिया की सत्ता अपने हाथों में ले कर 12 मार्च 1967 ई. को स्वयं को राष्ट्रपति घोषित कर दिया। सुहार्त्तो ने पुनः विश्व से अच्छे सम्बन्ध बनाने की नीति का अवलम्बन करते हुए मलेशिया को राजनीतिक मान्यता प्रदान की, सुकर्णो द्वारा 1965 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता छोड़ने की कार्यवाही के स्थान पर हिन्देशिया को पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया, चीन और पाकिस्तान की अंध भक्त नीति से हिन्देशिया को तटस्थ किया और आर्थिक समृद्धि के लिये अमेरिका आदि से अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये। इस प्रकार आज हिन्देशिया सुहार्त्तो के सैनिक नेतृत्व में राष्ट्रीय भावना से प्रोत है। इसमें सुकर्णो का महत्व गौण नहीं है।

न्यूगिनि के लिए सुकर्णो ने वहां सैनिक कार्यवाही कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि अमेरिका और भारत की मध्यस्थता के फलतः 1 अक्तूबर 1962 ई. को वहां डच शासन समाप्त कर दिया गया। एक समझौते के अनुसार उसे अस्थाई रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में रखा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1 मई 1963 ई. को इसे हिन्देशिया को सौंप दिया। इस प्रकार सार्वभौम और एकात्मक गणराज्य का पूर्ण स्वप्न न्यूगिनि के हिन्देशिया में सम्मिलित होने के साथ पूर्ण हो गया जिसमें सुमात्रा, जावा, बाली, सोअम्बाबा, तिमोर, बांगका, बोर्नियो, मोलक्का आदि प्रमुख द्वीपों सहित कई छोटे-छोटे द्वीप हैं।

(2) मलेशिया बीसवीं सदी के पूर्व—हिन्दू और मुस्लिम शासन के पश्चात् पुर्तगाल (1511 ई.) के अधीन मलेशिया द्वीप के कुछ प्रदेशों में डच (हालैण्ड) (1641 ई. मे मलक्का पर प्रभुत्व) और ब्रिटेन (1786 ई. मे पिनांग पर अधिकार) द्वारा मलेशिया शासित होता रहा था। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पश्चात् जब नेपालियन ने हालैण्ड पर अधिकार कर लिया तब ब्रिटेन ने हालैण्ड के मलेशियन प्रदेशों पर 1795 ई. में कब्जा कर लिया। वियना सम्मेलन के निर्णय से हालैण्ड के दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित उपनिवेश पुनः हालैण्ड को प्रदान कर दिये गये किन्तु 1824 ई. में लन्दन संधि द्वारा मलक्का ब्रिटेन को सौंप दिया गया। इस संधि द्वारा तय किया गया कि मलाया में ब्रिटिश-प्रभाव प्रसार में हालैंड और हिन्देशिया में हालैण्ड-प्रभाव प्रसार में ब्रिटेन, एक-दूसरे के बाधक नहीं बनेगे। इसके पूर्व 1800 ई. में भारतीय गवर्नर जनरल वेलेजली ने मलाया के एक भाग पर अधिकार कर लिया था जिसे 'वेलेजली प्रान्त' कहा गया। 1819 ई. में जोहोर के सुल्तान से कुछ भाग खरीद लिया गया, जिससे सिंगापुर जैसा अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह ब्रिटेन के हाथ में आ गया। धीरे-धीरे विस्तारवादी नीति द्वारा ब्रिटेन ने मलेशिया के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार (1909 ई. तक) कर लिया।

ब्रिटिश अधिकृत मलेशिया के उपनिवेश का प्रशासन तीन भागों में विभक्त था – (1) पेराक, पेहांग, सेलांगोर तथा नेग्री सेम्बिलन नामक चार स्वतन्त्र राज्यों

के शासकों से 1896 ई. में अंग्रेजों ने संधि कर इनकी विदेश नीति और आर्थिक नीति के साथ कुछ प्रशासनिक अधिकार हस्तगत किये। इन चारों राज्यों के प्रशासन की देखरेख के लिये इन्हें संघीय राज्य की इकाई में गठित कर एक रेजीडेन्ट जनरल की नियुक्ति की गई और 1909 ई. में रेजीडेन्ट जनरल के परामर्श हेतु संघीय कौंसिल की स्थापना द्वारा राज्यों की स्वायत्तता भी समाप्त कर दी गई। इस संघीय मलय राज्य की राजधानी कुआलालाम्पुर रखी गई। 1935 ई. में वह संघ "स्ट्रेट्स सेटलमेन्ट" के गवर्नर (राज्यपाल) के अधीन कर दिया गया तथा राज्यपाल को तब हाई कमिश्नर (उच्चायुक्त) कहा जाने लगा। (2) जोहोर, केलान्तन, केदाह, त्रेन्गानू और पेलिस नामक पांच राज्यों के सुल्तानों से भारत के देशी शासकों के समान सरक्षण संधि कर इन्हें स्वतन्त्र राज्यों के रूप में असंघीय मलय राज्य की प्रशासनिक इकाई में रखा गया। यद्यपि यह शासक सैद्धान्तिक रूप में स्वतन्त्र थे किन्तु व्यवहार में ब्रिटिश शासन के निर्देशानुसार कार्य करने के लिये विवश थे। (3) सिंगापुर, मलक्का, पेनान, वेलेजली प्रान्त और डिंडिग्स के द्वीप और प्रदेश स्ट्रेट्स सेटलमेन्ट की प्रशासनिक इकाई के अन्तर्गत ब्रिटिश-भारत के प्रशासनाधीन रखा गया। भारत की आजादी (1947 ई.) तक यह भारतीय गर्वनर जनरल के अधीन रहे तत्पश्चात् इनका प्रशासन ब्रिटिश-ताज की अधीनता में एक पृथक उपनिवेश के रूप में संचालित किया जाता रहा था।

उपरोक्त प्रशासनिक इकाईयों द्वारा ब्रिटेन ने मलेशिया में प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किया वहां अपने स्वार्थों के निहित आर्थिक, शैक्षणिक, चिकित्सा आदि के विकास द्वारा मलेशिया की प्रगति में योगदान भी दिया। हम इन सभी स्थितियों का वर्णन मलेशिया के राष्ट्रीय जागरण के अन्तर्गत करेंगे।

मलेशिया के राष्ट्रीय जागरण के कारक :

(1) **आर्थिक उन्नति** — मलेशिया की खानों में टिन की प्रचुरता ने शनैःशनैः यहां की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाया। विश्व के टिन उत्पादन का 29% टिन अकेले मलाया में प्राप्त होता है। औद्योगिक क्रांति के फलतः यातायात के लिये मोटर गाड़ियों मे पहिये बनाने वाले रबड़ की मांग बढ़ी। विश्व के रबड़ उत्पादन में 90% रबड़ दक्षिण-पूर्वी एशिया में उत्पन्न होता है, जिसमें 40% अकेला मलेशिया पूर्ति करता है। इस दृष्टि से विश्व के बाजारों में मेलेशियन रबड़ की मांग ने भी मलेशिया की आर्थिक स्थिति को उन्नत किया। टिन और रबड़ के अलावा नारियल और चावल के उत्पादन में भी मलेशिया का मुख्य स्थान था। फिर मलेशियन माल और दक्षिण-पूर्वी एशिया के माल को विश्व तक पहुंचाने के लिये सिंगापुर जैसा व्यापारिक केन्द्र भी मलेशिया में स्थित था। अतः ससार के प्रायः सभी देशों के व्यापारी सिंगापुर में आकर बसने लगे। इस प्रकार मलेशिया की आर्थिक उन्नति मलेशिया निवासियों को विदेशी शोषण के प्रति जागरूक करना प्रारम्भ किया।

(2) **जनसंख्या में वृद्धि**—टिन की खानों और रबड़ के बागानों में मजदूरों की बहुत अधिक मांग थी। इसलिए इनमें काम करने के लिए चीनी और भारतीय मजदूर बड़ी संख्या में मलेशिया पहुंचने लगे। परिणामस्वरूप मलाया में विदेशी लोगों की संख्या वहां के अपने लोगों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। 1937 ई. की जनसंख्या के अनुसार मलेशिया की कुल जनसंख्या में 34% चीनी, 16% भारतीय और 5% अन्य देशों के लोग थे। इस प्रकार मलाया के मूल निवासी इस बढ़ती हुई विदेशी आबादी के विरोध में सोचने लगे। मलेशिया के लोग इस्लाम धर्म के अनुयायी थे जबकि भारत और चीन से जाने वाले लोग हिन्दू और बौद्ध धर्म के। धार्मिक प्रचारक ईसाई भी अपना धर्म प्रचार कर पिछड़ी हुई जातियों में ईसाई धर्म फैला रहे थे। अतः इस धार्मिक समस्या ने भी मलेशिया के लोगों को एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने के लिये प्रेरित किया। वे मानने लगे की जनसंख्या और अन्य धर्म का विकास मलेशिया के मूल निवासी और यहाँ के धर्म को समाप्त कर देगा अतः इस विदेशी प्रभाव को देश से मिटाना चाहिए।

(3) **पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव**—अन्य उपनिवेशों की भांति अंग्रेजों ने मलेशिया में भी शिक्षा का विस्तार किया। शिक्षा में विज्ञान को यथोचित स्थान दिया गया। फलतः मलेशिया के विद्यार्थी जहां पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आये वहां उनमें स्वाभिमान और स्वाधीनता का अंकुरण भी होने लगा। चिकित्सालयों द्वारा वैज्ञानिक ढंग से रोग निदान ने मृत्यु दर को घटाया वहां जीवन दर को बढ़ाया। इससे जनसंख्या की समस्या उठने लगी। पश्चिमी ढग पर आधारित विधिज्ञान ने राजनीतिक चेतना को जगृत कर दिया अतः मलेशियावासी शासकों के निरकुश शासन का विरोध करने लगे। सिंगापुर को बैंकाक से रेलवे-लाईन द्वारा मिलाया गया। टेलीफोन व टेलीग्राफ की व्यवस्था प्रारम्भ की गई। कृषि को वैज्ञानिक ढंग से किया जाने लगा। इन सभी का परिणाम यह हुआ कि मलाया की आर्थिक अवस्था में सुधार हुआ, वहां पश्चिमी सभ्यता का मलाया में शीघ्र विस्तार हुआ। इसी सभ्यता ने ब्रिटिश शासन का विरोध करना प्रारम्भ किया क्योंकि वे समझने लगे की मलाया की पूंजी मलायावालो के लिए है न कि ब्रिटिश शोषण के लिये। आर्थिक विकास ने मलाया के कुटीर उद्योगों को खत्म कर दिया था अतः कुटीर व्दवसायी बेकार होने लगे। इन लोगों ने भी ब्रिटिश व्यवस्था का विरोध मन ही मन उगाना शुरू कर दिया और जब समय आया तो यह वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों के साथ हो गया।

(4) **विश्वयुद्धों में अमेरिका के आदर्श**—प्रथम विश्वयुद्ध में राष्ट्रपति विल्सन के मानव स्वाधीनता के आदर्श तथा द्वितीय विश्व युद्ध में अटलांटिक चार्टर द्वारा घोषित राष्ट्रपति रूजवेल्ट की स्वाधीन और स्वतन्त्र राष्ट्र की कल्पनाओं ने भी मलेशिया के लोगों को स्वाधीन राष्ट्र के निर्माण तथा स्वाधीनता को प्राप्त

करने संघर्ष के प्रति प्रेरित किया था। वे सोचने लगे कि अमेरिका के यह नारे यूरोपीय उपनिवेशों को मिटाने के लिये आदर्श हैं वहां इंगलैंड का प्रजातन्त्र और उसका स्वायत्तता के प्रति सम्मान साम्राज्यवाद का अस्त्र है। अतः साम्राज्यवाद से मुक्ति बगैर संघर्ष के संभव नहीं है।

(5) एशिया-अफ्रीका में राष्ट्रीय लहर—मलेशिया के पड़ौस में हिन्देशिया का राष्ट्रीय जागरण भी मलेशिया के जन-जागृति का माध्यम बना। यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों की तुलना में मलेशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय अत्यन्त विलम्ब से हुआ था फिर भी इनका प्रभाव मलेशिया पर स्वाभाविक था। आस्ट्रेलिया को इंगलैण्ड द्वारा औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करना, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलन तथा मिस्र में ब्रिटिश विरोधी कार्यवाहियों ने मलाया में राष्ट्रीय भावना को दिन-प्रतिदिन प्रबल बनाने में सहयोग दिया।

(6) 1935 ई. के प्रशासनिक सुधार—प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18 ई.) के पश्चात् संघीय मलय राज्य में मांग उठने लगी कि ब्रिटिश रेजिडेन्ट जनरल (जो कि अब चीफ सेक्रेटरी कहलाने लगा था) के पद को समाप्त कर सुलतानों के प्रभुत्व की पुनः स्थापना की जाय। इन राज्यों के यूरोपियन निवासियों ने इस आन्दोलन का विरोध किया। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए 1935 ई. में संघीय मलय राज्य के शासन में कतिपय सुधार किये गये। इसके द्वारा चीफ सेक्रेटरी का पद नष्ट कर दिया गया और स्टेट्स सैटलमैंट के गवर्नर को यह कार्य सौंप दिया गया कि वह संघीय मलय राज्य के हाई कमिश्नर के रूप में शासन पर नियन्त्रण रखे। इस प्रकार मलाया के राष्ट्रीय नेताओं को आंशिक रूप से संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया पर इनसे मलेशियावासी संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने सुधारवादी आन्दोलन चालू रखा।

(7) मलेशिया में जापान की कार्यवाही –द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया को पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त कराने 'एशिया, एशिया वालों के लिये''—का नारा दिया तो मलेशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन मिला। किन्तु 1942 ई में जब जापानियों ने मलेशिया पर अधिकार कर अपनी सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आर्थिक शोषण आरम्भ कर दिया तो मलेशियन लोगों में राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना का विकास तीव्रतर हुआ। परिणामतः जापानियों ने मलेशिया में स्वराज्य की स्थापना कर वहां का शासन मलय लोगों को सौंप दिया। इस तरह जापान ने मलेशिया के लोगों को प्रथम बार स्वराज्य की अनुभूति प्रदान कर लोगो में आत्मविश्वास जगा दिया। इसके अतिरिक्त एशिया में अंग्रेजों की जल-पराजय ने भी मलेशिया में ब्रिटिश शक्ति के भय को समाप्त कर दिया।

(8) **द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मलाया संघ**—1945 ई में जापान के आत्म समर्पण के बाद ब्रिटिश सेना ने मलाया में प्रवेश किया किन्तु वहां राष्ट्रवादी देशभक्तों का अधिकार देख उन्होंने कूटनीति द्वारा प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया, वहां देश भक्तों के लिये भी सभव नहीं था कि वे ब्रिटिश सेनाओं का प्रतिरोध करें। अतः अक्तूबर 1945 ई. में ब्रिटिश सरकार की ओर से सिंगपुर को अलग रखते हुए शेष मलेशिया के राज्यों को अर्द्ध स्वायत्तता प्रदान करने की घोषणा की गई। जिसमें एक विधान सभा और देश के निजी कानून का प्रावधान रखा गया किन्तु ,इस यूनियन क्षेत्र का गवर्नर ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने की व्यवस्था थी पर मलाया के राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश सरकार की इस योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे। इन नेताओं ने ब्रिटिश योजना का विरोध करने—**यूनाइटेड मलाया नेशनल आर्गेनिजेशन** (संयुक्त मलय राष्ट्रीय सगठन)नामक राजनीतिक संगठन का निर्माण किया। इस समय चीन में गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया था अतः चीनी साम्यवादी प्रभाव को रोकने के लिए मलेशिया में ब्रिटिश सरकार ने नई योजना बनायी। इस योजना के अनुसार मलाया के दसों राज्यों की पृथक विधानसभा और कार्यपालिका की व्यवस्था के साथ सभी की संयुक्त संघीय सरकार और संघीय कौंसिल का प्रावधान रखा गया। ब्रिटिश सरकार की ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति केवल परामर्श देने रखी गई। सरकार पर इसका नियन्त्रण नहीं रखा गया वहां राज्य सरकार व संघ सरकार को अलग-अलग स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

इस योजना को पुतेरा नामक उग्रवादी दल ने बिल्कुल स्वीकार नहीं किया। यह दल पूर्ण स्वाधीनता के साथ-साथ संघीय राज्य की व्यवस्था चाहते थे। जबकि संयुक्त मलय राष्ट्रीय संगठन इस योजना से संतुष्ट था। इसीलिए संयुक्त मलय राष्ट्रीय संगठन के उग्रवादियों ने **'मलाया नेशनलिस्ट पार्टी'** का गठन कर इस योजना का विरोध प्रारम्भ किया। यह दल सुल्तानों का प्रभुत्व भी नहीं चाहता था एवं शुद्ध लोकतन्त्र में विश्वास रखता था। हिन्देशिया इस समय तक स्वतन्त्र हो चुका था अतः ब्रिटिश सम्राट जार्ज षष्टम ने 1 फरवरी 1948 ई. को मलाया के राज्यों का एक नवीन सघ बनाने की घोषणा करते हुए नौ राज्यो के शासको को आन्तरिक मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सुरक्षा और विदेश के मामले ब्रिटेन ने अपने अधिकार में रखे। मलेशियावासियों को प्रशासन मे पर्याप्त अधिकार प्रदान किये गये। सिंगापुर के लिए अलग संविधान बनाया गया।

(9) **नवोदित मलाया संघ का विरोध**—मलाया संघ की नवीन सरकार और व्यवस्था को उग्र राष्ट्रवादी नेता स्वीकार नहीं करते थे। वह पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने मलाया राष्ट्रीय दल के नेतृत्व में संघर्ष जारी रखा। इस दल का विरोध विदेशी जनसंख्या के विरुद्ध भी था। इसके नेताओं की मांग थी-

पूर्ण स्वतन्त्रता और मलाया मलायी लोगों के लिये। अगस्त 1949 ई. में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई थी अतः मलेशिया में भी साम्यवादी नेता समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिए सघर्ष करने लगे। इनको राष्ट्रवादी नेता भी सहयोग देने लग गये। इस प्रकार मलाया संघ की सरकार को देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना कठिन हो गया। 1954 ई. में टिकू अब्दुल रहमान के नेतृत्व में मलाया राष्ट्रीय दल ने आन्दोलन को उग्र कर दिया। 1955 ई. में मलाया की संघीय सभा के निर्वाचन में मलाया राष्ट्रीय दल एवं उग्रवादियों को अधिक स्थान प्राप्त हुए। अतः ब्रिटिश सरकार के लिये राष्ट्रवाद को रोकना सम्भव नहीं रहा और 31 अगस्त 1957 ई. के दिन ब्रिटिश प्रभुत्ता का अन्त कर मलेशिया ने स्वराज्य की सम्पूर्ण प्रभुत्ता हस्तगत की। इसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता भी इसे मिल गई।

(10) स्वतन्त्र मलाया संघ की समस्याएं—स्वतन्त्र मलाया में सिंगापुर सम्मिलित नहीं किया गया था। मलाया में नौ राज्य वंशानुगत सुल्तानों के तथा दो राज्य (पेनाङ्ग और मलक्का) ब्रिटेन प्रशासित सम्मिलित किये गये। इस तरह 11 राज्यों के मलाया संघ राज्य में मलाया के शासक पद पर 9 राज्यों के सुल्तान अपने में से एक को पांच वर्ष के लिए निर्वाचित करते थे परन्तु देश का वास्तविक संचालन मन्त्रिपरिषद के हाथों में था, जो जनता द्वारा निर्वाचित विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी थी। नये संविधान में सीनेट और विधानसभा की दो सदन की ससद की व्यवस्था की गई। सम्पूर्ण मलाया का पहला शासक टनकू अब्दुल रहमान इबी अल-मरहूम टनकू मुहम्मद को चुना गया और प्रधानमन्त्री पद पर अब्दुल रजाक बिन हुसैन की नियुक्ति की गई। मलय सघ की स्वतन्त्रता के पश्चात् मलय नेताओं ने सम्पूर्ण मलय प्रायद्वीप के राजनीतिक एकीकरण की दिशा में सोचना प्रारम्भ किया, इसके पीछे मुख्य उद्देश्य—(1) चीनी साम्यवादी के मलाया में बढ़ते प्रभाव को निबल करना (2) मलाया के राजनीतिक जीवन पर प्रवासी चीनियों के प्रभाव को समाप्त करना (3) मलाया संस्कृति और भाषा वाले प्रदेशों को संयुक्त करना आदि थे।

27 मई 1961 ई. को मलाया के प्रधानमन्त्री टेकु अब्दुल रहमान ने मलेशिया की स्थापना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। इसमे सिंगापुर बोर्नियो, सारावाक और ब्रूनी के ब्रिटिश संरक्षित राज्यों को मलेशिया में सम्मिलित करने की योजना थी। यद्यपि प्रारम्भ में इन राज्यों ने मलाया की योजना का विरोध किया किन्तु आपसी विचार-विमर्श तथा इंग्लैण्ड के सहयोग से सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो और सारावाक को मलाया के साथ मिलने को प्रेरित किया।

इस योजना का सर्वाधिक विरोध फिलिपाइन्स और हिन्देशिया द्वारा किया गया परन्तु इंग्लैण्ड के प्रयास से फिलिपाइन्स ने विरोध करना छोड़ दिया।

हिन्देशिया के राष्ट्रपति डॉ. सुकर्णो ने हर सम्भव तरीके से मलेशिया के निर्माण को रोकने तक की धमकी दी। फिर भी 16 सितम्बर 1963 ई. को सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो, और सारावक को मिलाकर चौदह राज्यों के मलेशिया संघ की स्थापना की गई। केवल ब्रूनी इसमें सम्मिलित नहीं हुआ।

मलेशिया सघ की स्थापना होते ही हिन्देशिया ने मलेशिया को मिटाने के लिए बल प्रयोग की धमकी दी। फलस्वरूप ब्रिटेन ने मलेशिया की सहायतार्थ साबा और सारावाक में 50 हजार सैनिक तैनात कर दिये। इस प्रकार मलेशिया के निर्माण के साथ ही हिन्देशिया और मलेशिया में शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। 20 जून 1964 ई. को विवाद हल करने के लिये टोकियो में हिन्देशिया, मलेशिया और फिलिपाइन्स के शासनाध्यक्षों का शिखर सम्मेलन भी हुआ किन्तु कोई हल नहीं निकला। मलेशिया संघ में सम्मिलित होने के पश्चात् सिंगापुर की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी फिर वहां बसे चीनी भी मलेशिया के विरोधी थे। फलतः 6 अगस्त 1965 ई. को सिंगापुर मलेशिया सघ से पृथक हो गया। हिन्देशिया ने तत्काल उसे स्वतन्त्र राज्य के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण भी सिंगापुर और मलेशिया में सम्बन्ध तनावपूर्ण हुए।

मलेशियाई नेताओं ने अपने देश की आर्थिक स्थिति को उन्नत बनाने के लिये अथक प्रयत्न किये और आज भी ऐसे प्रयास जारी हैं। राजनीतिक क्षेत्र में मलेशिया ने साम्यवादी विरोध-नीति को अपनाते हुए पश्चिम के लोकतन्त्र को अधिक महत्व दिया है। 1965 ई. में हिन्देशिया गृह-युद्ध में फंस गया तत्पश्चात् वहां के नये शासक वर्ग ने मलेशिया को मान्यता प्रदान कर सहज सम्बन्ध स्थापित किये। इस प्रकार मलेशिया के निर्माण के पश्चात् भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के जैसे मलेशिया भी शीत युद्ध के वृत में सम्मिलित है। यद्यपि वहां के नेता इस स्थिति से पूर्णतः अवगत हैं और येन-केन राष्ट्र विकास को महत्व देते हुए नई आजादी की सुरक्षा और राष्ट्र उन्नति में जुटे हुए है। 1971 ई. से सम्भवतः इस उन्नति को गतिशील बनाने चुनाव आदि रोक दिये गये हैं और सुरक्षा हेतु इंगलैंड से शस्त्रादि खरीदने की ओर वहां के नेता अग्रसर हैं।

14

इंग्लैण्ड में संसदात्मक-प्रणाली का विकास

इंगलैण्ड में संसदात्मक-शासन व्यवस्था के विकास के विभिन्न चरणों को समझने के पूर्व विषय संदर्भ को समझने के लिए इंगलैंड के राजतन्त्र और राजनीतिक इतिहास का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। ईसा से 325 ई. पूर्व लगभग पाईथीज नामक एक व्यापारी ने ब्रिटेन का भ्रमण कर वहाँ का कुछ वर्णन लिखा। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि यूरोप के पश्चिम में दो द्वीप हैं जिनको टीन-द्वीप कहा जाता था। टीन-द्वीप का अर्थ था कि वहाँ से कुछ व्यापारी टीन लेकर यूरोप की मण्डियों में बेचा करते थे। ब्रिटेन को संसार से सम्पर्क कराने का कार्य रोमन गणराज्य के महान् सेनानायक जूलियस सीजर ने किया। जब वह 58 ई. पूर्व गॉल (फ्रांस) पर आक्रमण करने गया तो उसे पता लगा कि ब्रिटेन के कबीले गॉल के कुछ कबीलों की सहायता कर रहे हैं अतः तीन वर्ष बाद 55 ई. पूर्व उसने ब्रिटेन के दक्षिणी-पूर्वी तट केन्ट पर आक्रमण कर दिया। इसमें सैनिक सहायता के अभाव में वह निराश होकर रोम लौट गया। 54 ई. पू. अपनी पूर्ण तैयारी के साथ कास्सीवलोनस के लोगों को हराया तथा उनसे खिराज का वचन लेकर लौट आया। ब्रिटेन ने कोई खिराज नहीं दिया और न सीजर ने उधर ध्यान दिया क्योंकि रोमन विद्वान सिसरो के अनुसार उस द्वीप में तोला भर सोना भी नहीं था, गुलामों के सिवाय कोई माल न था और न ही साहित्य अथवा गाना विद्या के कोई विद्वान वहाँ थे, इन दो आक्रमणों ने ब्रिटेन को रोमन लोगों के सम्मुख स्पष्ट कर दिया फिर भी ब्रिटेन को जीतने का असली प्रयत्न एक सौ वर्ष बाद रोम के सम्राट क्लाडियस ने (43 ई. में) किया। स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड को छोड़कर रोमन साम्राज्य ने 85 ई. तक ब्रिटेन पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन पर रोमन शासकों ने 410 ई. (350 वर्ष) तक शासन किया। छठी सदी तक रोमन साम्राज्य

पर अनेक विदेशी जातियों (मुख्यतः गॉथ, विजिगॉथ, फ्रांक तथा सैक्सन) ने आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये थे फलतः 410 ई. में अपने साम्राज्य की रक्षार्थ रोमन शासकों ने ब्रिटेन से अपनी सेना बुला ली। ब्रिटेन में शून्य-शक्ति को देखकर पिक्ट, स्काट और सैक्सन लोगों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया जो लूट-खसोट कर अपने-अपने देशों को लौट जाते थे। पाँचवी सदी के मध्य तक आतताईयों ने लूट-पाट के स्थान पर देश को जीतने का प्रयत्न शुरू किया। इस क्रम में प्रथमतः 449 ई. में जूट लोग आये, फिर सैक्सन और बाद में आंगल लोग ब्रिटेन में आकर बस गये। 600 ई. तक इन तीनों जातियों ने अलग-अलग सात राज्य स्थापित कर दिये-जूटों के अधीन कैंट, सेक्सन के अधीन ससैक्स, वेसैक्स और एसैक्स तथा आंगल जाति के अधीन पूर्वी आंगलिया मर्शिया और नार्थम्ब्रिया था। ब्रिटिशों के पास कम्बरलैंड, वेल्ज और कार्नवाल नामक तीन प्रान्त पश्चिम में रह गये क्योंकि आंगल परिवार की संख्या अधिक थी और उन्होंने सबसे अधिक प्रदेश अपने कब्जे में किये थे इसलिये सारे देश का नाम उनके नाम पर इंग्लैण्ड पड़ गया। रोमन-शासन युग में ब्रिटिशों ने ईसाई धर्म अपना लिया था। आंगल-सैक्सन ने ईसाईयों को पश्चिम में धकेल दिया था परन्तु 661 ई. तक सारा इंग्लैंड ईसाई बन गया। 500 ई. से 900 ई. तक इंगलैण्ड विभिन्न जातियों के प्रभुत्व का युद्ध क्षेत्र बना रहा। सर्व प्रथम कैन्ट के जूट जाति के शासक एथेलबर्ट की 616 ई. में मृत्यु तक कैन्ट इंगलैण्ड का शासन-केन्द्र रहा। कैन्ट के बाद यह महत्ता आंगल जाति के शासकों के हाथ मे चली गई जिन्होंने 70 वर्ष (617-685 ई.) तक इंगलैण्ड पर नार्थम्ब्रिया के अधीन शासन किया। तत्पश्चात् मर्शिया के आंगल शासकों ने 9वीं शताब्दी तक इगलैण्ड पर राज्य किया। 9वीं शताब्दी में वैसेक्स के सैक्सन शासकों ने इंगलैण्ड पर शासन स्थापित किया। 786 ई. से डेनमार्क और नार्वे की रहने वाली जाति डेन ने इंगलैण्ड में लुटपाट करना प्रारम्भ किया किन्तु इनकी कार्यवाही 851 ई. में इंगलैण्ड में बसने की हो गई। तत्पश्चात् 866 से 870 ई. तक वैक्सैस को छोड सम्पूर्ण इंगलैण्ड को इन्होंने जीत लिया। 871 ई. में जब इन्होंने वैक्सैस पर हमला किया तो वहाँ के नव शासक एल्फ्रेड (871 ई.-900 ई.) ने डेनों को हराकर अपने राज्य को बचा लिया। डेन अंग्रेजों में घुलमिल गये। एल्फ्रेड के पश्चात् एडवर्ड ने स्काटलैण्ड और नार्थम्ब्रिया को जीत कर अपने राज्य में मिलाया। देश के मुख्य लोगों की **वाईटन** या **वाईटनगेमट** (बुद्धिमानों की) सभा जिनमें विशप देश के उच्च अफसर और जागीरदार (देन अथवा अर्ल) होते थे, राजा को परामर्श देने कानून बनाने, न्याय करने आदि कार्यो के साथ-साथ राजा का चुनाव भी करती थी। यद्यपि शासक वाईटन के सदस्य बनाता था फिर भी यह संस्था धीरे-धीरे पैतृक उत्तराधिकारियों का संगठन बनने से अधिक शक्तिशाली हो गई

थी। उल्लेखित शासक एडवर्ड को वाईटन द्वारा ही इंगलैण्ड का शासक (1042 ई.) में बनाया गया था। इसकी मृत्यु के पश्चात् 1066 ई. में हैरल्ड को 'वाईटन' द्वारा राजा बनाया गया। सर्वप्रथम नार्मण्डी के ड्यूक (फ्रांस के एक प्रान्त का) विलियम प्रथम ने 1066 ई. में हैरल्ड को परास्त कर शक्ति द्वारा इंगलैण्ड का राज्य हस्तगत किया तो वाईटन ने उसकी शक्ति से भयभीत हो कर उसे मान्यता प्रदान कर दी। विलियम प्रथम (1066-1087 ई.) ने देश में सामन्त प्रथा की नींव डाली, उसने नार्मन सरदारों को विजय की हुई भूमि वितरित करदी और इंगलैण्ड में नार्मन प्रशासन को स्थापित किया। वाईटन नामक संस्था नार्मन शासन काल में 'राज्य परिषद्' के रूप में परिवर्तित हो गई जो राजा की इच्छानुसार कार्य करती थी।

राज्य परिषद्—इस संस्था में क्यूरिया रैजिस (Curia rejis) और मेगनम कौन्सिलियम (Mag um concilium) नामक लघु परिपद और वृहद् परिषद होती थी। क्यूरिया रैजिस के अन्तर्गत जागीरदार (बैरन) और राज्य के गणमान्य नागरिक (चांसलर, न्यायाधीश, खजान्ची आदि) सदस्य होते थे। जागीरदारों में छोटे-छोटे भूमिहार भी सम्मिलित थे जो गरीब थे अतः वे क्यूरिया रैजिस में उपस्थित नहीं होते थे। जब क्यूरिया रैजिस का पूर्ण अधिवेशन किया जाता तो वही सभा मेगनम कौन्सिलियम का स्वरूप बन जाती थी।

1215 ई. का महान् अधिकार पत्र—नार्मन शासकों के पश्चात् पुनः सैक्सन वंश के सम्राटों ने राज्य पर अधिकार (1153 ई. में) किया था। इस वंश के हेनरी द्वितीय (1153-1189 ई.) के काल में बैरनों ने विद्रोह (1173 ई.) में किया जिसे दबा दिया गया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में राजा जॉन (1199-1216 ई.) के काल में जॉन की कठोर निरंकुशता ने बैरनों के विद्रोह को पुनः भड़का दिया फलतः 15 जून 1215 ई. को जॉन द्वारा महान् अधिकार पत्र (मेगनाकार्यटा) पर हस्ताक्षर करने पड़े। वैसे यह पत्र शासक और सामन्तों व पादरियों के मध्य एक समझौता पत्र था किन्तु यह अंग्रेजों की स्वतन्त्रता का प्रथम स्तम्भ कहा जाता है। इसमें राजा की शक्ति को सीमित कर बैरन और पादरियों ने अपनी स्थिति व अधिकारों को सुरक्षित कराया। यह भी इसमें उल्लेखित किया गया कि वह बगैर मेगनम कौसिलियम (जो कि अब राष्ट्रीय सभा कहलाने लगी थी) की स्वीकृती के कोई कर नहीं लगायेगा। यह देखने के लिये कि मैगना कार्टा के प्रावधानों का कहाँ तक पालन होता है, पच्चीस बैरनों की एक सभा बनाई गई। यद्यपि इस अधिकार पत्र द्वारा जनसाधारण की कोई भलाई नहीं हुई फिर भी शक्ति के विकेन्द्रीकरण में इसका महत्व अधिक है। हेनरी तृतीय (1216-1272 ई.) 9 वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। इसकी बाल्यावस्था से बैरन लोगों ने लाभ उठाते हुए साईमन नामक नेता के नेतृत्व में विद्रोह कर

दिया । अप्रेल 1258 ई. में मंगनम कौंसिलियम का एक सम्मेलन हुआ जिसमें बैरन सशस्त्र उपस्थित हुए । इस सम्मेलन को इतिहास में मैड पार्लिया मेन्ट कहा जाता है । राजा 24 बैरनों की एक समिति बनाने सहमत हो गया '12 राजा के समर्थक तथा 12 बैरनों के समर्थक सदस्य इसमें सम्मिलित किये गये इस समिति को **प्रिवी कौंसिल** के नाम से पुकारा गया । इस समिति ने जून 1258 ई. में आक्सफोर्ड नगर में एकत्रित हो कर **आक्सफोर्ड प्रावधान** द्वारा 27 सदस्यों की समिति का निर्माण किया जो वर्ष में तीन बार शासन व्यवस्था के अवलोकन हेतु एकत्रित हो कर विचार विमर्श करती, राजा को परामर्श देती, नई नियुक्तियों को स्वीकृत करती थी । यह समिति ही इंग्लैण्ड के इतिहास में संसद की प्रथम झलक थी ।

साईमन पार्लियामेन्ट—हेनरी तृतीय ने शीघ्र ही 1261 ई. में आक्सफोर्ड प्रावधानों को निरस्त करते हुए सत्ता पर स्वेच्छाचारिता स्थापित करने का प्रयत्न किया । इसके परिणामस्वरूप बैरनों और राजा में फिर संघर्ष छिड़ गया । 14 मई 1264 ई. को राजा हैनरी और उसके लड़के एडवर्ड ने बैरनों से हार स्वीकार कर ली बैरनों ने राजा के विरुद्ध अपने पुराने नेता साईमन डी मौन्टफोर्ड या अर्ल साईमन को पुनः नेता बनाया था । उसने हैनरी को बन्दी बना कर अपना राज्य स्थापित किया । साईमन ने प्रथम बार 1264 ई. में राजा के विरुद्ध संसद को बुलाया । इसमें बैरन और पादरियों के अतिरिक्त हर-एक उपराज्य के चार-चार प्रतिनिधियों (अर्ल) को आमांत्रित किया गया । इस संसद ने देश के शासन संचालन हेतु नौ सदस्यों की कौंसिल का निर्माण किया जिसका अध्यक्ष साईमन घोषित किया गया । सन् 1265 ई. में साईमन ने संसद को फिर आमंत्रित किया जिसमें प्रथम संसद में सम्मिलित प्रतिनिधियों के अलावा इंग्लैण्ड के समस्त बड़े शहरों और बोरोज (Boroughs) के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया । इसे इतिहास में प्रजातंत्र शासन स्थापना का प्रथम प्रयास या साईमन-पार्लियामेन्ट के नाम से जाना जाता है । साईमन क्योंकि एक विदेशी (फ्रांसीस) था अतः वह अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखते हुए अपनी नीति (साधारण जनता के लिये भलाई के कार्य) क्रियान्वित करने में असफल रहा और शीघ्र ही 3 अगस्त 1265 ई. को 'सेवेशाम' के युद्ध मे एडवर्ड के हाथों परास्त होकर मारा गया । फिर उसका महत्व इंग्लैण्ड के संसदात्मक शासन प्रणाली के इतिहास में 'प्रजातंत्र के पिता रूप में अविस्मरणिय रहेगा । यद्यपि एडवर्ड प्रथम ने इंग्लैण्ड का शासन हस्तगत कर लिया फिर भी उसने साईमन नीति को ही चालू रखा । इसीलिए कहा भी जाता है कि एडवर्ड प्रथम (1272-1307 ई.) की महानता साईमन के विचारों का ही परिणाम थी ।

मॉडल पार्लियामेन्ट—एडवर्ड प्रथम के शासनकाल में संसद दो भागों में विभक्त हो गई क्योंकि बैरन और पादरियों ने अपने आपको बोरोज शैरीफ

और छोटे भू-स्वामियों से अलग कर लिया। आगे चलकर बैरन और पादरियों की सभा 'लार्ड सभा' तथा बेरोज, शैरीफ तथा छोटे-2 भूमिहारों की सभा हाउस ऑफ 'कामन्स' कहलाई। 1295 ई. में जब एडवर्ड प्रथम ने फ्रांस और स्काटलैण्ड के विरुद्ध युद्ध करने धन की आवश्यकता हेतु छोटे पादरियों, नाइटों, बेरोज, शैरीफ आदि सभी वर्गों को संसद में आमंत्रित किया तो इतनी संख्या में लोग आये कि उनके लिये सभा कक्ष भी छोटा हो गया। इसीलिये इसको 'आदर्श संसद' कहा जाता है। यद्यपि 1295 ई. के पश्चात् एडवर्ड ने 20 बार संसद की बैठकें बुलाई किन्तु इनमें बारह बार साधारण जनता का एक प्रतिनिधि भी नहीं आया था। फिर भी संसद की आवश्यकता की एक परम्परा का जन्म एडवर्ड काल की उपलब्धि था। 1297 ई. में एक आज्ञापत्र द्वारा बगैर संसद की अनुमति के शासक द्वारा धन खर्च करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। एडवर्ड प्रथम के उत्तराधिकारी एडवर्ड द्वितीय (1307-1327 ई.) ने अपनी कार्यवाहियों से बैरनों को रुष्ट कर दिया क्योंकि वह विदेशियों पर अनुचित कृपा दृष्टि रखता था। 1310 ई. में बैरनों ने विद्रोह कर दिया। बैरनों 1311 ई. के अध्यादेश द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति, देश से बहार जाने और अन्य देश के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने आदि पर संसद की स्वीकृती को आवश्यक कर दिया। 1322 ई. में बैरनों के नेता अर्ल ऑफ लैंकास्टार (एडवर्ड प्रथम के छोटे भाई का पुत्र) को फांसी देने के पश्चात् एडवर्ड द्वितीय ने 1311 ई. के अध्यादेश रद्द कर दिये। परिणामतः शासक और सामन्त संघर्ष 1326 ई. तक चला और अन्त में विजय बैरनों की हुई। 1327 ई. में एडवर्ड को गद्दी से उतार कर बैरनों ने उसके 15 वर्षीय पुत्र एडवर्ड तृतीय (1327-1377 ई.) को ताज पहनाया। इसीलिये एक नवीन परम्परा स्थापित हुई कि शासक को कोई भी कार्य करने को बाध्य किया जा सकता है। एडवर्ड तृतीय के पोत्र रिचर्ड द्वितीय (1377–1399 ई.) का शासन भी एडवर्ड द्वितीय के समान संसद की दृष्टि से उतार-चढ़ाव पर रहा। अतः 1399 ई में उसे भी गद्दी से उतार कर संसद ने प्रथम बार रक्त सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए लैंकास्टर वंश के हेनरी चतुर्थ (1399-1413 ई.) को इंग्लैण्ड के सिंहासन पर बिठलाया। हेनरी, एडवर्ड तृतीय के पुत्र जॉन ऑफ गौंट या ड्यूक ऑफ लैंकास्टर का पुत्र था।

लैंकास्टर वंश के काल में संसद

रिचर्ड द्वितीय के काल में राजा का पक्ष और विपक्ष के रूप में दो दलबन्दी इंग्लैण्ड की राजनीतिक पार्टियों की प्रारम्भिक रूपरेखा कही जा सकती है। इसके साथ-साथ शत वर्षीय युद्ध में संसद ने शासक के सम्पूर्ण आर्थिक अधिकार अपने

हाथ में ले लिये क्योंकि लेखाधिकारी की नियुक्ति संसद की स्वीकृति से किये जाने का अधिकार संसद ने अधिकृत करा लिया था। रिचर्ड के शासन में दो सदन (हाऊस ऑफ लार्डस एवं हाऊस ऑफ कामन्स) स्पष्ट हो गये। साथ ही संसद की बैठक को 1330 ई. में प्रति वर्ष किये जाना अनिवार्य करते हुए निम्न सदन ने कुछ अधिकार सुरक्षित करा लिये कि साधारण सदस्यों को अधिकार है कि शासन अव्यवस्था के बारे में पूछताछ कर सके या संशोधन कर व्यवस्था स्थापित कर सके, विना स्वीकृति शासक कर न लगाये, किसी भी नियम को निर्मित करने दोनों सदनों का एकमत आवश्यक होगा आदि। इस प्रकार सौ वर्षीय लड़ाई में (फ्रांस और इंग्लैण्ड के मध्य) में शक्ति का विकेन्द्रीकरण राजा और कुलीनों से बढ़ कर मध्यम वर्ग तकहोने लगा और जन साधारण की प्रतिनिधि सभा शक्ति की ओर बढ़ने लगी। हेनरी चतुर्थ के उत्तराधिकारी हेनरी पंचम और षष्टम (1413-22 ई. तथा 1422-1461 ई.) के काल में सौ वर्ष का युद्ध चलता रहा किन्तु 1455 ई. में लैंकास्टर वंश और यार्क वंश के मध्य सिंहासन के लिये गृह युद्ध ने वैरनों को भी दो भागों में बाँट दिया था। अन्तत. इस गुलाब के फूलों की तीस वर्षीय लड़ाई ने वैरन प्रभुत्व को ही समाप्त कर दिया। गुलाब के फूलों की लड़ाईयों (1455-1485 ई.) के अन्त में वैरन प्रभुत्व तो समाप्त हो गया किन्तु वोरोज ने अपने आपको ऐसे शासक के पास समर्थन देने हेतु तैयार कर लिया था जो कि देश में शांति बनाये रख कर उन्हें व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में धन अर्जित करने का अवसर प्रदान करे। तीस वर्ष के काल में संसद शक्तिशाली दलों का खिलौना मात्र हो गई थी।

ट्यूडर वंश के काल में संसद

1485 ई. में वोसवर्थ के मैदान ने यार्क वंश के सम्राट रिचर्ड तृतीय को हरा कर ट्यूडर घराने का हेनरी सप्तम (1485-1509 ई.) शासक बना। वह अपनी शक्ति के बल पर शासक बना था अतः उसने संसद की चिन्ता नहीं कर निरंकुश राजतन्त्र को प्रोत्साहित किया। फिर भी उसने संसद भंग नहीं की अपितु उसे अपनी इच्छानुसार चलाया। उसने संसद से ऐसे कानून पास कराये जो उसे इंग्लैण्ड का विधि सम्मत राजा स्वीकार कर ले। संसद में उसने वोरोज को अधिकाधिक महत्व प्रदान कर मध्यम वर्ग को उत्साहित किया। लैंकेस्टर वंश का सम्बन्ध उसकी मता की ओर से था उसने यार्क वंश की एलीजावेथ से विवाह कर (1486ई. में) दो घरानों की प्रतिद्वन्दता को समाप्त कर दिया साथ ही उसके दो पुत्र वारी वारी से स्पेन की राजकुमारी कैथरीन से व्याहे गये। उसकी पुत्री मार्गरेट का विवाह स्काटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ से किया गया। 1494 ई. में आयरलैण्ड की संसद की शक्तियों को घटा कर उसने वहां अपनी निरंकुशता स्थापित की। कहने का

तात्पर्य यह है कि हैनरी सप्तम का काल इंगलैण्ड के इतिहास में शक्तिशाली राजा का काल था और संसद शासक की इच्छानुसार कानून आदि बनाती रही थी। हैनरी सप्तम का बड़ा पुत्र उसकी जीवित अवस्था में मर चुका था। अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा लड़का 18 वर्ष की अवस्था में हैनरी अष्टम (1509-1547ई.) के नाम से गद्दी पर बैठा। इस शासक का उल्लेख धर्म-सुधार प्रकरण में कैथरीन के तलाक के प्रश्न पर पूर्व में हम उल्लेखित कर चुके हैं।

हैनरी अस्टम ने पोप से सम्बन्ध विच्छेद करने 1529 ई. में संसद को आमन्त्रित किया जिसने 7 वर्ष (536) ई. तक कार्य किया। इस संसद में व्यापारी और जमींदार लोग अधिक थे जिन्होंने ऐसे कानून बनाये कि इंगलैण्ड में 900 वर्षों से चली आ रही पोप सत्ता को समाप्त कर दिया। इस कार्य का संयोजन करने में हैनरी अष्टम के मुख्य परामर्शक और सचिव 'क्रामवेल' का बहुत बड़ा हाथ था किन्तु उसे 1550 ई. में राजद्रोह के अपराध में फांसी चढ़ाकर हैनरी ने उसकी स्वामीभक्ति का बदला चुकाया। इसका मुख्य कारण क्रामवेल का प्रोटेस्टेन्ट होना था। हैनरी के पश्चात् उसका पुत्र एडवर्ड षष्टम (1547 ई.) के काल में प्रिवीकौंसिल के अन्दर कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों का संघर्ष चलता रहा। एडवर्ड की उम्र मात्र 10 वर्ष की थी अतः उसके प्रोटेस्टेन्ट संरक्षक भी प्रोटेस्टेन्टों की ओर से इंगलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट चर्च स्थापित करने हेतु प्रयत्न कर रहे थे, ऐसे समय में रुग्ण बालक राजा की मृत्यु हो गयी। एडवर्ड के बाद उसकी सौतेली बहिन और कैथोलिक कैथरीन की पुत्री मेरी गद्दी (1553 1558 ई.) पर बैठी। 1553 ई. की संसद ने मेरी की इच्छानुसार एडवर्ड कालीन सभी धार्मिक कानूनों को खत्म कर दिया अतः जनता द्वारा 1554ई. में वायट के नेतृत्व में एक विद्रोह किया गया किन्तु यह विद्रोह शक्तिपूर्वक दबा दिया गया। 1555 ई. में संसद की बैठक द्वारा पोप-प्रभुत्व, नास्तिकों को जलाने की औचित्यता आदि स्वीकार कर लिए गए पर चर्च को उसकी सम्पत्ति लौटाने के प्रश्न पर संसद ने मेरी का विरोध किया अतः मेरी ने भी संसद पर अधिक दबाव नहीं डाला। मेरी के पश्चात् एडवर्ड की सगी बहिन और मेरी की सौतेली बहिन एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603 ई.) इंगलैण्ड की महारानी बनी। इसने 1559 ई. में संसद का आमन्त्रित कर प्रिवीकौंसिल द्वारा प्रस्तुत सर्वोच्चता (धर्म में) का अधिनियम और एकरूपता (इंगलैण्ड की बाइबिल के अनुसार पूजा, अर्चना आदि) का अधिनियम को पुनः पारित कराये और देश में राजनीति का धर्म पर कठोर अंकुश स्थापित किया।

ट्यूडर काल में पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन सम्पूर्ण यूरोप में फैला हुआ था। अतः इस काल की संसद ने भले ही शासकों के इशारों पर कार्य किया हो किन्तु परिणाम इंगलैण्ड की जनतन्त्र प्रणाली के उत्थान के पक्ष में ही देखा जा सकता है। ट्यूडर शासकों द्वारा संसद चाहे आर्थिक अनुदान प्राप्त करने नहीं बुलाई गयी पर धर्म स्वायत्तता के अधिकार प्राप्त करने अवश्य बुलाई गई थी। इसलिए ट्यूडर काल में संसद का अस्तित्व किसी न किसी प्रकार बना रहा था। साथ ही साथ पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन का सूत्र मध्यम वर्ग के हाथ में रहा था जिसके फलस्वरूप संसद और शासकों के परामर्शक मण्डल (प्रिवी कौंसिल) में भी मध्यम वर्ग का प्रभाव स्वभावतः बढ़ने लगा। उच्च वर्ग के स्थान पर मध्यम वर्ग की उन्नति, आंशिक जनतन्त्र स्थापित करने का एक द्वार था जो पूर्णतः खुला नहीं था तो पूर्णतः बन्द भी नहीं था। निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि 1485 ई. की अपेक्षा 1603 ई. में एलिजाबेथ की मृत्यु के समय तक संसद अधिक शक्तिशाली थी जिसने चर्च की सम्पत्ति लौटाने, एलिजाबेथ द्वारा इच्छित उत्तराधिकार और धर्म प्रश्नों तथा 1601 ई. में एकाधिकारों के प्रस्तावों को ठुकरा कर शक्तिशाली ट्यूडरों को अपनी बात मनवाई थी। एलिजाबेथ द्वारा 1601 ई. में कामन सभा के शिष्ट मण्डल के सम्मुख कहे गये वाक्य कि "मैंने आपके प्रेम से ही राज्य किया है' संसद के प्रति ट्यूडरों का आदर प्रकट करता है।

स्टूआर्ट वंश के काल में संसद

रानी एलिजाबेथ की अविवाहित मृत्यु के कारण स्काटलैण्ड के शासक जेम्स षष्टम को इंग्लैण्ड में जेम्स प्रथम (16 3-1625 ई.)के नाम से गद्दी पर बिठाया गया। यह स्टूआर्ट वंश का प्रथम शासक था जो इंग्लैण्ड के लिए बिल्कुल नया व्यक्ति था। इसके बाद उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम (1625-16४9 ई.) गद्दी पर बैठा। दोनों ही शासक दैवी-सिद्धान्तों के कट्टर समर्थक और स्वेच्छाचारी थे। जेम्स प्रथम संसद क एको स्कूल मानते हुए अध्यापक की तरह संसद को पढ़ाने का प्रयत्न करता था और उसे राजा के अधिकार व प्रजा के कर्त्तव्यों पर भाषण सुनाता रहता था। फ्रांस का शासक उसे "सबसे बुद्धिमान मूर्ख" तो इंग्लैण्ड की जनता उसे 'राजा एलिजाबेथ' और एलिजाबेथ को रानी जेम्स कहती थी। उसका पुत्र उससे भी दो कदम आगे था वह अपने वचन तोड़ने में पारंगत था इसीलिए अन्त में इंग्लैण्ड की जनता द्वारा उसे प्राणदण्ड दिया गया।

जेम्स प्रथम ने अपनी पुस्तक "ट्रू लॉ ऑफ फ्री मोनार्कीज" में राजा को मात्र ईश्वर के प्रति उत्तरदायी बतलाया था अतः उसके निरंकुश व्यवहार ने

तात्पर्य यह है कि हैनरी सप्तम का काल इंगलैण्ड के इतिहास में शक्तिशाली राजा का काल था और संसद शासक की इच्छानुसार कानून आदि बनाती रही थी। हैनरी सप्तम का बड़ा पुत्र उसकी जीवित अवस्था में मर चुका था। अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा लड़का 18 वर्ष की अवस्था में हैनरी अष्टम (1509-1547ई.) के नाम से गद्दी पर बैठा। इस शासक का उल्लेख धर्म-सुधार प्रकरण में कैथरीन के तलाक के प्रश्न पर पूर्व में हम उल्लेखित कर चुके हैं।

हैनरी अष्टम ने पोप से सम्बन्ध विच्छेद करने 1529 ई. में संसद को आमन्त्रित किया जिसने 7 वर्ष (536) ई. तक कार्य किया। इस संसद में व्यापारी और जमींदार लोग अधिक थे जिन्होंने ऐसे कानून बनाये कि इंगलैण्ड में 900 वर्षों से चली आ रही पोप सत्ता को समाप्त कर दिया। इस कार्य का संयोजन करने में हैनरी अष्टम के मुख्य परामर्शक और सचिव 'क्रामवेल' का बहुत बड़ा हाथ था किन्तु उसे 1550 ई. में राजद्रोह के अपराध में फांसी चढ़ाकर हैनरी ने उसकी स्वामीभक्ति का बदला चुकाया। इसका मुख्य कारण क्रामवेल का प्रोटेस्टेन्ट होना था। हैनरी के पश्चात् उसका पुत्र एडवर्ड षष्टम (1547 ई.) के काल में प्रिवीकौंसिल के अन्दर कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों का संघर्ष चलता रहा। एडवर्ड की उम्र मात्र 10 वर्ष की थी अतः उसके प्रोटेस्टेन्ट संरक्षक भी प्रोटेस्टेन्टों की ओर से इंगलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट चर्च स्थापित करने हेतु प्रयत्न कर रहे थे, ऐसे समय में रुग्ण बालक राजा की मृत्यु हो गयी। एडवर्ड के बाद उसकी सौतेली बहिन और कैथोलिक कैथरीन की पुत्री मेरी गद्दी (1553 1558 ई.) पर बैठी। 1553 ई. की संसद ने मेरी की इच्छानुसार एडवर्ड कालीन सभी धार्मिक कानूनों को खत्म कर दिया अतः जनता द्वारा 1554ई. में वायट के नेतृत्व में एक विद्रोह किया गया किन्तु यह विद्रोह शक्तिपूर्वक दबा दिया गया। 1555 ई. में संसद की बैठक द्वारा पोप-प्रभुत्व, नास्तिकों को जलाने की औचित्यता आदि स्वीकार कर लिए गए पर चर्च को उसकी सम्पत्ति लौटाने के प्रश्न पर संसद ने मेरी का विरोध किया अतः मेरी ने भी संसद पर अधिक दबाव नहीं डाला। मेरी के पश्चात् एडवर्ड की सगी बहिन और मेरी की सौतेली बहिन एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603 ई.) इंगलैण्ड की महारानी बनी। इसने 1559 ई. में संसद को आमन्त्रित कर प्रिवीकौंसिल द्वारा प्रस्तुत सर्वोच्चता (धर्म में) का अधिनियम और एकरूपता (इंगलैण्ड की बाइबिल के अनुसार पूजा, अर्चना आदि) का अधिनियम को पुनः पारित कराये और देश में राजनीति का धर्म पर कठोर अंकुश स्थापित किया।

ट्यूडर काल में पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन सम्पूर्ण यूरोप में फैला हुआ था। अतः इस काल की संसद ने भले ही शासकों के इशारों पर कार्य किया हो किन्तु परिणाम इंगलैण्ड की जनतन्त्र प्रणाली के उत्थान के पक्ष में ही देखा जा सकता है। ट्यूडर शासकों द्वारा संसद चाहे आर्थिक अनुदान प्राप्त करने नहीं बुलाई गयी पर धर्म स्वायत्तता के अधिकार प्राप्त करने अवश्य बुलाई गई थी। इसलिए ट्यूडर काल में संसद का अस्तित्व किसी न किसी प्रकार बना रहा था। साथ ही साथ पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन का सूत्र मध्यम वर्ग के हाथ में रहा था जिसके फलस्वरूप संसद और शासकों के परामर्शक मण्डल (प्रिवी कौंसिल) में भी मध्यम वर्ग का प्रभाव स्वभावतः बढ़ने लगा। उच्च वर्ग के स्थान पर मध्यम वर्ग की उन्नति, आंशिक जनतन्त्र स्थापित करने का एक द्वार था जो पूर्णतः खुला नहीं था तो पूर्णतः बन्द भी नहीं था। निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि 1485 ई. की अपेक्षा 1603 ई. में एलिजावेथ की मृत्यु के समय तक संसद अधिक शक्तिशाली थी जिसने चर्च की सम्पत्ति लौटाने, एलिजावेथ द्वारा इच्छित उत्तराधिकार और धर्म प्रश्नों तथा 1601 ई. में एकाधिकारों के प्रस्तावों को ठुकरा कर शक्तिशाली ट्यूडरों को अपनी बात मनवाई थी। एलिजावेथ द्वारा 1601 ई. में कामन सभा के शिष्ट मण्डल के सम्मुख कहे गये वाक्य कि "मैंने आपके प्रेम से ही राज्य किया है' संसद के प्रति ट्यूडरों का आदर प्रकट करता है।

स्टूअर्ट वंश के काल में संसद

रानी एलिजावेथ की अविवाहित मृत्यु के कारण स्काटलैण्ड के शासक जेम्स षष्टम को इंग्लैण्ड में जेम्स प्रथम (16 3-1625 ई.) के नाम से गद्दी पर बिठाया गया। यह स्टूअर्ट वंश का प्रथम शासक था जो इंग्लैण्ड के लिए बिल्कुल नया व्यक्ति था। इसके बाद उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम (1625-1649 ई.) गद्दी पर बैठा। दोनों ही शासक दैवी-सिद्धान्तों के कट्टर समर्थक और स्वेच्छाचारी थे। जेम्स प्रथम संसद क एको स्कूल मानते हुए अध्यापक की तरह संसद को पढ़ाने का प्रयत्न करता था और उसे राजा के अधिकार व प्रजा के कर्त्तव्यों पर भाषण सुनाता रहता था। फ्रांस का शासक उसे "सबसे बुद्धिमान मूर्ख" तो इंग्लैण्ड की जनता उसे 'राजा एलिजाबेथ' और एलिजावेथ को रानी जेम्स कहती थी। उसका पुत्र उससे भी दो कदम आगे था वह अपने वचन तोड़ने में पारंगत था इसीलिए अन्त में इंग्लैण्ड की जनता द्वारा उसे प्राणदण्ड दिया गया।

जेम्स प्रथग ने अपनी पुस्तक "ट्रू लॉ ऑफ फ्री मोनार्कीज" में राजा को मात्र ईश्वर के प्रति उत्तरदायी वतलाया था अतः उसके निरंकुश व्यवहार ने

संसद परम्परा का उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया। संसद ने भी जेम्स का प्रथम विरोध, प्योरिटनो (प्रोटेस्टेन्ट की शाखा) द्वारा व्यक्त किया। उन्होंने मांग की कि एंग्लिकन चर्च पर राजा की नहीं अपितु संसद की प्रधानता होनी चाहिए जबकि जेम्स कहता था वह धर्म का ही नहीं अपितु प्रजा की सम्पूर्ण शक्ति का उद्गम है। 1604 ई., 1610 ई. की संसद ने जेम्स के इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड के राजनीतिक एकीकरण प्रस्ताव तथा वित्त योजना (जो महान् संविदा कहलाती है) को ठुकरा दिया साथ ही जेम्स पर क्षमा-पत्र के प्रस्ताव आदि द्वारा आरोप लगाने प्रारम्भ कर दिये। परिणामस्वरूप फरवरी 1611 ई. में जेम्स ने संसद को भंग करते हुए इसे फिर कभी न बुलाने का निश्चय किया। 1611 ई. से 1621 ई. तक इंग्लैण्ड में कोई संसद नहीं थी-1614 ई. में दो महिने के लिये राजा के पिट्ठुओं की सभा ही संसद घोषित की गई किन्तु उसने कोई कानून नहीं बनाया। इंग्लैण्ड में यह संसद–दूषित संसद के नाम से जानी गई। 1621 ई. में जेम्स के प्रधानमंत्री फ्रांसिस बेकन (महान लेखक) पर रिश्वत के आरोप में महाभियोग चलाने संसद एकत्रित हुई। तत्पश्चात् 1624 25 ई. में स्पेन पर आक्रमण करने के लिये स्वीकृती हेतु संसद बुलाई गई जिसमें जेम्स ने संसद का समर्थन किया। चार्ल्स प्रथम के काल में अगस्त 1625 ई. में संसद फ्रांस की कैथोलिक राजकुमारी से विवाह का विरोध किया वहां चार्ल्स के सचिव बकिंगहम के बर्खास्तगी की मांग रखी क्योंकि उसकी अनुत्तरदायित्ता के फलस्वरूप स्पेन और फ्रांस से इंग्लैण्ड की पराजय हुई थी संसद ने जब युद्ध अनुदान देने से इंकार कर दिया अतः चार्ल्स ने भी अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए संसद को भंग कर दिया। परन्तु चार्ल्स को धन की बड़ी आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्ति संसद ही कर सकती थी अतः चार्ल्स ने 1628 ई. में संसद को पुनः बुलाया। संसद धन की स्वीकृती के बदले में शासक के सम्मुख अधिकार याचिका (पिटीशन ऑफ राइट) रखते हुए हस्ताक्षर करने को कहा। चार्ल्स ने भी आवश्यकतावश जून 1628 ई. को इस पर हस्ताक्षर कर दिये। **अधिकार याचिका** इंग्लैण्ड की आजादी का आधार स्तम्भ था। इसको राजाओं को कर लगाने, इच्छानुसार दण्डित करने, मजबूरन लोगों के यहाँ सैनिक ठहराने आदि के अधिकार समाप्त कर दिये गये। यद्यपि चार्ल्स प्रथम ने इस याचिका का पूर्णत पालन नहीं किया फिर भी इसीका परिणाम था कि इंग्लैण्ड को गृहयुद्ध लड़ना पड़ा चार्ल्स प्रथम को फांसी दी गई और उसके पुत्र जेम्स द्वितीय को देश से भागना पड़ा था।

अधिकार पत्र की शर्तों के उल्लंघन से संसद का क्रोध बढ़ता गया। 1629 ई. में जब संसद की बैठक हुई तो उसके सदस्यों का खून खौल रहा था।

उन्होंने राजा पर आरोप लगाने प्रारम्भ कर दिये तो राजा ने अधिवेशन समाप्ति की आज्ञा दे दी परन्तु सदस्यों ने राजाज्ञा की अवहेलना करते हुए अध्यक्ष (स्पीकर) को बलपूर्वक कुर्सी पर बैठाकर संसद भवन के द्वार बन्द कर दिये और एकमत से तीन प्रस्ताव पारित किये—(1) जो धर्म में नया परिवर्तन लाना चाहेगा, या (2) जो संसद की बिना राय से टैक्स देने का प्रस्ताव करेगा, या (3) जो इस तरह का टैक्स देगा, वह राज्य का दुश्मन और इसकी स्वतन्त्रता का घातक सिद्ध होगा। इन प्रस्तावों की स्वीकृति को सुनकर चार्ल्स ने संसद को भंग कर दिया तथा संसद के कई सदस्यों, जिनमें इलियट भी था, जेल भेज दिया। कुछ लोगों को क्षमा मांगने पर छोड़ दिया गया किन्तु इलियट सच्चे देश भक्त के रूप में अपनी और संसद की मान्यता पर दृढ़ रहा। साढ़े तीन वर्ष जेल यातना भोगते हुए 1632 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार प्रजा के अधिकारों के लिये वह देश का प्रथम बलिदानी कहलाया। 1640 ई. तक संसद नहीं बुलाई गई पर स्काटलैण्ड के विद्रोह को दबाने हेतु अर्थ आवश्यकता ने संसद को बुलाने के लिये चार्ल्स को मजबूर कर दिया। यह संसद तीन सप्ताह तक कायम रही अतः इसे छोटी संसद या **शॉर्ट पार्लियामेन्ट** कहते हैं। सदस्यों द्वारा राजा के प्रस्तावों को अस्वीकार करने के के परिणामतः इसे भी भंग कर दिया गया। परन्तु चार्ल्स को स्काट सेना के साथ संधि के अनुसार 850 पौंड प्रतिदिन सेना व्यय देने के लिए धन की आवश्यकता ने संसद को बुलाने के लिये फिर मजबूर होना पड़ा। 3 नवम्बर 1650ई. को संसद को चार्ल्स द्वारा बुलाया गया। इस संसद को इतिहास में लम्बी संसद या **लॉंग पार्लियामेन्ट** के नाम से जाना जाता है क्योंकि यह किसी न किसी रूप में 20 वर्ष तक कायम रही थी। अगस्त 1641 ई. तक संसद सदस्यों ने एकमत होकर कार्य किया किन्तु इसी माह में एक धार्मिक बिल को लेकर सदस्यों में मतभेद प्रारम्भ हो गया। इसके फलतः संसद में दो दल बन गये राजा के पक्षपाती (कैवेलियर्स घोड़ों पर बैठ कर लड़ने वाले) तथा संसद के पक्षपाती (राउन्ड हेडस छोटे-छोटे बालों वाले प्यूरिन) तथ दोनों में **1642 से गृह युद्ध** प्रारम्भ हो गया। संसद की साथ वाली सेना का नेतृत्व क्रामवेल कर रहा था वहाँ राजा का साथ लार्ड (सामन्त) और कामन सभा के 150 सदस्य दे रहे थे। 1646 ई. में चार्ल्स ने सेना और संसद के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु इसी समय संसद और सेना में युद्ध छिड़ गया जिसकी समाप्ति 1648 ई. के अन्तिम माह में क्रामवेल द्वारा 140 सदस्यों को संसद से हटाने पर हुई। शेष संसद **रम्प संसद** सेना के नियंत्रण में थी जिसने चार्ल्स प्रथम को देशद्रोही घोषित कर जनवरी 1649 ई. में फांसी पर लटका दिया। क्रामवेल ने इंग्लैण्ड के राजतन्त्र को समाप्त कर गणतन्त्र की घोषणा कर दी और क्रामवेल की सरकार की कामनवेल्थ सरकार कहलाने लगी।

क्रामवेल का अधिनायक तंत्र (1649-1660 ई.)

क्रामवेल, चार्ल्स प्रथम से भी अधिक स्वेच्छाचारी था। उसने लार्ड सभा को खत्म कर दिया और उसके स्थान पर राज्य सभा या कौंसिल ऑफ स्टेट का निर्माण किया। इस कौंसिल में 41 सदस्य थे, जिनमें से 30 रम्प संसद के सदस्य थे। 20 अप्रेल 1653 ई. में रम्प को भी क्रामवेल द्वारा भंग कर दिया गया। क्रामवेल यद्यपि जनसाधारण का हितैषी था किन्तु संसद बनाने के बारे में उसने कोई निर्णय नहीं लिया। उसने देश में एक संविधान लागू किया जो उसके सैनिक परामर्शदाताओं द्वारा बनाया गया था। क्रामवेल को कामनवैल्थ का प्रोटैक्टर या रक्षक घोषित किया गया। प्रोटेक्टोरेट (संरक्षित देश) की प्रथम संसद सितम्बर 1654 ई. में बैठी जिसमें क्रामवेल ने पूर्व संसद के सदस्यों को इच्छानुसार आमन्त्रित किया किन्तु इस संसद ने जब नये संविधान का विरोध किया तो जनवरी 1655 ई. को इसे भंग कर दिया गया। अगस्त 1655 ई. में क्रामवेल ने ब्रिटेन (स्काटलैण्ड, आयरलैंड तथा इंगलैंड) पर सैनिक शासन लागू कर दिया। 1656 ई. क्रामवेल ने दूसरी संसद का गठन किया इस संसद ने सैनिक शासन खत्म कर क्रामवेल को शासक स्वीकार कर लिया। इस संसद ने एक नया विधान बनाया जो विनीत याचिका और सलाह कहलाया। इस विधान ने एक कामन सभा का निर्माण किया जो क्रामवेल के प्रति उत्तरदायी थी। साथ ही क्रामवेल को अपना अधिकारी नियुक्त करने का अधिकार भी इस संसद द्वारा प्रदान कर दिया गया। क्रामवेल के समर्थकों को लार्ड सभा का सदस्य बना दिया गया तो कामन सभा में क्रामवेल समर्थक अल्पमत में हो गये और वे इस नई व्यवस्था के पक्ष में अपने विरोधियों से दबने लगे फलतः क्रामवेल ने फरवरी 1658 ई. में दूसरी संसद को भी भंग कर दिया। यद्यपि सेना के भय से क्रामवेल ने राजा की उपाधि धारण नहीं की फिर भी उसके कार्य शासक जैसे ही थे। उसने नागरिक स्वतन्त्रता का हनन करते हुए प्रेस तथा न्याय का गला घोंट दिया। मनमाने टैक्सों द्वारा प्रजा को विरोधी बना लिया किन्तु उसकी शक्ति और इंगलैंड के प्रति उसकी सैनिक सेवा जो विजयों में दिखलाई देती थी, के प्रति सम्मान और भय के कारण किसी ने आवाज नहीं उठाई। 3 सितम्बर 1658 ई. में क्रामवेल की मृत्यु के पश्चात् दो वर्ष का काल इंगलैंड में उलझनपूर्ण रहा था। क्रामवेल के अपने पुत्र रिचार्ड को अपना उतराधिकारी मनोनीत किया था जो कि अयोग्य व्यक्ति था। 1659 ई. में रिचार्ड ने संसद को बुलाया जिसमें सदस्यों का निर्वाचन का कोई नियम नहीं था अपितु नाईट, शेरिफ, बोरोज आदि से सदस्य भेजे गये थे। सेना को अधिकार का खून लग चुका था अतः संसद और सेना के मध्य अधिकारों के प्रश्न पर झगड़ा प्रारम्भ

हो गया। रिचार्ड पहले दोनों में समझौता कराने का प्रयत्न करता रहा किन्तु असफल होने पर उसने सेना का पक्ष लेते हुए संसद को भंग कर दिया। इसके 15 दिन पश्चात् शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए रिचार्ड ने अपने पद से भी त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार संसद और संरक्षक की अनुपस्थिति में देश की सर्वेसर्वा सेना ही थी लेकिन सैनिक अधिकारियों में परस्पर फूट थी अतः कोई भी सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका और क्रामवेल द्वारा भंग रम्प संसद फिर से आमंत्रित की गई। इस संसद ने सेना पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया तो सैनिक अधिकारियों और रम्प में झगड़ा बढ़ गया। रम्प ने स्काटलैंड के शासक मौंक को अपनी सहायतार्थ आमन्त्रित किया जिसका सामना सेना की ओर से लैम्बर्ट द्वारा किया गया। लैम्बर्ट ने मौंक के सम्मुख पराजय स्वीकार कर फरवरी 1660 ई. में लाँग पार्लियामेन्ट की बैठक बुलाई। इस संसद ने इंगलैण्ड में पुनः प्रेसबिटेरियन धर्म स्थापित किया, नई लोकसभा के निर्वाचन के आदेश दिए और मौंक को सेनाध्यक्ष नियुक्त किया तथा मार्च 1660 ई. में इस संसद ने अपने को भंग कर लिया।

पुनर्स्थापना या स्टुआर्ट वंश का पुनः आगमन – लाँग पार्लियामेंट ने नई पार्लियामेन्ट के निर्वाचन का आदेश दे दिया था। नई संसद के चुनाव के पश्चात् इसके सदस्यों ने एक प्रस्ताव पारित किया कि—अंग्रेजी सरकार राजाओं, लॉर्डों और सर्वसाधारण की है और इन्हीं के द्वारा यह गठित होनी चाहिए। यह संसद बगैर राजाज्ञा के बुलाई गई थी इसीलिए इसे कन्वेशन पार्लियामेन्ट कहा जाता है इसी मध्य मौंक ने ब्रोडा (हालैण्ड) में निर्वासित स्टूआर्ट राजकुमार चार्ल्स ने सभा से सम्पर्क स्थापित कर इंगलैण्ड में आमंत्रित किया। चार्ल्स ने इंगलैण्ड आने के पूर्व घोषित किया कि सब राउन्ड हैड लोगों को क्षमा कर दिया जावेगा सिवाय उनके जिनको संसद सजा देना चाहे, संसद ही कैवेलियर और चर्च भूमि का प्रश्न तय करेगी, सेना को सारा शेष वेतन दे दिया जावेगा, संसद द्वारा कानून बना कर धर्म और पूजा कि स्वतन्त्रता दी जावेगी आदि। इस घोषणा का संसद ने स्वागत किया क्योंकि चार्ल्स संसद को सर्वोपरि मान रहा था। इसीलिए जब 29 मई 1660 ई. चार्ल्स को इंगलैण्ड लौटा तो जनता ने उसका प्रेम और उत्साह के साथ स्वागत करते हुए गद्दी पर बिठाया। चार्ल्स द्वितीय के शासन (1660-1685 ई.) की स्थापना ही इतिहास में पुनर्स्थापना कहलाती है।

पुनर्स्थापना से संसद की शक्ति में वृद्धि हुई क्योंकि संसद ने ही चार्ल्स द्वितीय को गद्दी प्रदान की थी। सन् 1667 ई. में सम्राट के एक मंत्री क्लैरेंडन पर देशद्रोह का महाभियोग लगाया गया। जिसकी पुष्टि कामन सभा ने भी की, किन्तु लार्ड सभा ने उसे देशद्रोही नहीं माना। सम्राट ने उसे क्षमा कर दिया तथा

कामन सभा के उग्र विरोध को देखकर सभा को भंग करने का निश्चय किया पर वह ऐसा साहस नहीं कर सका। संसद ने अपने अगले अधिवेशन में सम्राट की क्षमा को अवैध घोषित करते हुए क्लैरेंडन को पाँच वर्ष की जेल भोगने निर्वासित कर दिया। इस प्रकार संसद की इस शक्ति के कारण सम्राट अपने विशेषाधिकारों के प्रति उदासीन हो गया और मन्त्रियों को अपना संरक्षण देना वन्द कर दिया। गणतंत्र और उसके पूर्व 20 वर्षों में राज्य विषयक वहुत से विषयों का व्यावहारिक ज्ञान संसद ने प्राप्त किया था फिर संसद के पृष्ट में जनमत था। अतः संसद अपनी शक्ति के प्रदर्शन में चूकती नहीं थी – पिछले शासकों ने संसद से संघर्ष करके उसके वित्त सम्वन्धी अधिकार को अधिक पक्का कर दिया था। फिर चार्ल्स द्वितीय के काल में मन्त्रियों को भी संसद के प्रति उत्तरदायी होने की परम्परा वनने लगी थी जो आगे चल कर अधिक दृढ़ हो गई। गार्डिनर ने इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि मुख्यतः राजा कि अपेक्षा संसद का पुनर्स्थापिन हुआ था। संसद की शक्ति का विकास देख कर एडम्स ने विचार प्रकट किये कि–सिद्धान्त और विधान के अनुसार सम्राट ही सर्वोच्च संप्रभु था पर व्यवहार में संसद सर्वोच्च थी। लेकिन शासक की सर्वोच्चता अभी तक वैधानिक थी इसलिए संसद की संप्रभुता केवल राजा की इच्छा पर निर्भर थी संसद ने पूर्णतः शक्ति का हस्तगन गौरवपूर्ण क्रांति के समय किया था फिर भी भी पुनर्स्थापिन संसद की शक्ति के विकास में 'मील का पत्थर' कहा जा सकता है। इस समय शासक के स्वेच्छाचारी राजत्व को सीमित राजत्व में वांधने का कार्य प्रारम्भ हो चुका था।

पुनर्स्थापिन काल का अन्य महत्व

कन्वेशन संसद ने अपना कार्य समाप्त कर लिया था। इसलिए दिसम्वर 1660 ई. में इसे भंग कर दिया गया 1661 ई. में नई संसद का निर्वाचन कराया गया जिसमें नौजवान मतान्ध राजा के पक्षपाती लोग चुन कर आये। इस संसद के नोजवान राजनीति में कैवेलियर और धर्म में एंग्लिकन थे। चार्ल्स ऐसी संसद देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपनी खुशी सदस्यों के सम्मुख इस प्रकार प्रकट की—"मैं यह संसद तव तक कायम रखूंगा जब तक तुम्हारे चेहरों पर दाढ़ियाँ आएँगी" यह संसद इतिहास में कैवेलियर-संसद कहलाती है। इसने पूरे 18 वर्षों (1679 ई.) तक कार्य किया पर जैसे-जैसे समय गुजरा, वैसे-वैसे नये सदस्य संसद में आये, पुराने सदस्य मर गये, वहुतों की राय वदल गई और प्रारम्भिक वर्षों के राजभक्त कैवेलियर इतने राजभक्त नहीं रहे कि वे राजा की निरंकुशता का आँख वन्द कर समर्थन करते रहें। इस संसद की विशेषता क्लैरेंडन-कानून को पारित करना है जो प्रधानमंत्री (चांसलर)

के नाम से जाने जाते हैं। 1661 ई. के निगम अधिनियम 1662 ई. का एकरूपता कानून (जो 1605 ई. के कानून की पुनस्थापना थी), क्वेकरों के विरुद्ध कानून, 1964 ई. का सभा अधिनियम (कान्वैंटिकल एक्ट), 1665 ई. का का 5 मील अधिनियम,—यह पांच नियम मुख्यतः कैथोलिक राउन्ड हेडस तथा प्रोटेस्टेन्टों के विरुद्ध थे। अतः 1667 ई. में उदार कैवेलियरों और संसद सर्वोच्चता के भक्त सदस्यों द्वारा, उस पर देशद्रोह का आरोप लगाकर बर्खास्त करने के पश्चात् राजा ने प्रिवि कौंसिल के पाँच महत्वपूर्ण सदस्यों को अपना परामर्शक चुना। उनके नाम क्लिफर्ड, ऐशले, किंगहम, आर्लिंगटन और लाडरेल थे। इनके प्रथम अक्षर से 'केबाल' शब्द बना। यह शब्द फ्रेंच शब्द 'केब्रेल' से मिलता जुलता था जिसका अर्थ था गुप्त षडयन्त्रकारी। लोगों का विचार था कि वे फ्रांस और केथौलिकों के विरुद्ध गुप्त षडयन्त्रों में लगे हुए हैं और यह सही भी था। 1667 ई. से 1673 ई. तक यह लोग शक्तिशाली रहे। इनकी बैठक एक छोटे बन्द कमरे मे होती थी, जिसके कारण बाद में यह संस्था केबिनेट (मन्त्रिमण्डल) कहलाने लगी। यद्यपि 'केबाल' मन्त्रिमन्डल नहीं था, इसका कोई प्रधान नेता नहीं था, यह संसद के स्थान पर शासक के प्रति उत्तरदायी थी, इसके सदस्य एकमत होने के लिए प्रतिबन्धित नहीं थे फिर भी इस संस्था ने मन्त्रिमण्डल के विकास का मार्ग तैयार किया था। इंगलैंड का संविधान जिस प्रकार 'अवसर की संतान' है उसी प्रकार मन्त्रिमण्डल का विकास भी अवसर और परिस्थितियों के अनुसार विकसित हुआ जो गौरवपूर्ण क्रांति के पश्चात स्पष्ट दिखलाई देती है।

जैसाकि उल्लेखित किया गया है कि क्लेरेंडन-कोड़ द्वारा ऐंग्लिकन चर्च को इंगलैण्ड में पुर्नस्थापित कर दिया गया परन्तु चार्ल्स भीतर ही भीतर कैथोलिक समर्थक था। इसीलिये शेफ्टसबरी नामक व्यक्ति जब चांसलर (प्रधानमन्त्री) (1674 ई) बना तो उसने प्रयत्न किया कि कैथोलिक समर्थक व्यक्तियों को कानून द्वारा हमेशा के लिए इंगलैण्ड में पदों से वंचित कर दिया जावे। राजा ने शेफ्टसबरी को हटाकर लार्ड डेनबी को चांसलर (1674-1678 ई.) नियुक्त किया जो यद्यपि पक्का ऐंग्लिकन था किन्तु राजा का समर्थक था। डेनबी के चांसलर नियुक्त करने के साथ इंगलैण्ड के इतिहास में एक नई अवस्था का सूत्रपात हुआ। टोरी और व्हिग दलों का निर्माण आधुनिक इंगलैण्ड के राजनीतिक दलों के संगठन की प्रारम्भिक भूमिका सिद्ध हुई। यद्यपि पूर्व में हमने देखा है कि रिचर्ड द्वितीय के काल (1377–1399 ई.) में राजा के पक्ष और विपक्ष के रूप में दो दल बन्दी बनने लगी थी किन्तु यह समय के साथ-साथ गठित और

भंग होती रही। 15 वीं सदी के गृह युद्ध के समय में लैंकास्ट्रियन और यार्किस्ट नामक दल बन्दी दो राजघरानों के समर्थन के लिए गठित हो गयीं थी। 17वीं शताब्दी में कैवेलियर और राउन्डहैड के रूप में दो दल बने जिनका न कोई राजनीतिक संगठन, न सिद्धांत और न कार्यक्रम था। चार्ल्स द्वितीय के काल में दो दल विद्यमान थे। (1) कोर्ट पार्टी तथा (2) कन्ट्री पार्टी। कोई पार्टी राजा की थी, जिसका नेतृत्व डेनबी कर रहा था और कन्ट्री पार्टी संसद की समर्थक थी, जिसका नेतृत्व शेफ्टसबरी कर रहा था। कोर्ट पार्टी ऐंग्लिकन चर्च समर्थक और कैथोलिक विरोधी थी वहाँ कन्ट्री पार्टी भी कैथोलिक विरोधी होते हुए ऐंग्लिकन चर्च और राजा के अधिकारों को सीमित करने की पक्षपाती थी। इन दोनों दलों का समय-समय पर संघर्ष होता रहा।

चार्ल्स के उत्तरकाल में पोप-षडयन्त्र के विषय में एक अफवाह इंगलैण्ड में फैलने लगी थी। यार्क का ड्यूक और चार्ल्स का भाई जेम्स द्वितीय कैथोलिक था जो कि चार्ल्स के पश्चात् इंगलैण्ड की गद्दी का उत्तराधिकारी था। इंगलैण्ड के लोग कैथोलिकों को घृणा और शंका की दृष्टि से देखते थे। अतः शेफ्टसबरी ने संसद में एक्सक्लूजन बिल (वंचित-अधिनियम) 1769 ई. में प्रस्तुत किया जो जेम्स द्वितीय के विरोध में था। यद्यपि यह बिल पारित नहीं हुआ क्योंकि कन्ट्री पार्टी भी कैथोलिक विरोधी थी पर वह निसंतान शासक के पश्चात् इंगलैण्ड की गद्दी पुनः अराजकता को प्रदान नहीं करना चाहती थी। चार्ल्स ने इस बिल की लोकप्रियता को देखते हुए संसद को भंग कर दिया क्योंकि वह अपने भाई के विरोध में जाने को तैयार नहीं हुआ था। कुछ समय बाद नई संसद के चुनाव हुए परन्तु राजा पुनः वंचित अधिनियम के डर से अधिवेशन नहीं बुला रहा था। तब कन्ट्री दल के लोगों ने संसद बुलाने के लिए चार्ल्स को एक निवेदन-पत्र भेजा, इसलिए यह लोग निवेदक या पेटिशनर्स पुकारे जाने लगे। लेकिन कोर्ट पार्टी वाले निवेदन को नापसंद कर राजा के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे इसलिए वे उपेक्षक या एर्मोस कहलाये। इसी प्रकार चर्च में भी-हाई चर्च पार्टी तथा लो चर्च पार्टी बन गई थीं। हाई चर्च पार्टी और एमोरर्स व लो चर्च पार्टी और पेटिशनर्स में कार्यक्रम की बहुत कुछ समानता थी।

उपरोक्त दोनों दल जेम्स द्वितीय के काल में टोरी तथा व्हिग के नाम से पुकारे जाने लगे। वैसे यह शब्द गाली-गलौच के रूप में प्रयोग किये जाते थे—विद्रोही आयरिश कैथोलिक, टोरी थे तो विद्रोही स्कॉटिश प्रेस्बिटेरियन व्हिग कहलाते थे। पेटिशनर्सों को टोरी और टोरी और एमोरर्स को व्हिग के नाम से पारस्परिक छींटाकशी में पुकारा जाता था। बाद में शनैःशनैः यह दो विख्यात राजनीतिक दल के रूप में स्थापित हो गये। चार्ल्स के काल में टोरियों का

बोलवाला था, व्हिगों के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने उन्हें देश की राजनीति से निकाल फेंकने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ तो व्हिगों ने भी चार्ल्स द्वितीय के कत्ल की योजना बनाई जिसे "राई हाऊस प्लॉट" कहा जाता है। इस योजना का शीघ्र ही पता लग गया और व्हिगों को राजद्रोही घोषित कर कैद और प्राणदण्ड दिया जाने लगा। टोरियों ने जेम्स द्वितीय का समर्थन करते हुए संसद में एक्सक्लूजन बिल पारित नहीं होने दिया साथ ही उन्होंने धारणा फैलाई कि व्हिग चार्ल्स के रखैल के पुत्र ड्यूक ऑफ मनमथ को गद्दी पर बिठाना चाहते हैं। जब चार्ल्स ने मनमथ को प्राणदण्ड दिया तो व्हिग कुछ नहीं बोले फलतः लोगों के मन में व्हिगों के प्रति संदेह मिटने लगा और व्हिग दल भी पुनः शक्ति प्राप्त कर लोकप्रिय होने लगा। जेम्स द्वितीय के स्वेच्छाचारी शासन काल (1685–1688 ई.) में उसकी कट्टर कैथोलिक नीति ने टोरी दल को उससे दूर कर दिया और गौरवपूर्ण क्रांति के समय विलियम को निमंत्रित करने में टोरियों ने व्हिगों का सहयोग किया।

गौरवपूर्ण क्रांति

फरवरी 1685ई. में चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई ड्यूक ऑफ यार्क जेम्स द्वितीय अपनी 52 वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। इस समय उसके कोई पुत्र नहीं था मात्र दो पुत्रियाँ थी। बड़ी पुत्री मेरी का विवाह हालैन्ड के राजकुमार विलियम ऑफ ऑरेन्ज से हो चुका था और मेरी की विचारधारा प्रोटेस्टेन्ट धर्म से मेल खाती थी। अतः संसद ने वृद्ध सम्राट को इस आशा में गद्दी पर बिठा दिया कि उसकी मृत्यु के पश्चात् स्वतः उत्तराधिकार उदार विचारधारा वाले व्यक्ति को प्राप्त हो जायेगा। पर जेम्स द्वितीय ने गद्दी पर बैठते ही अपनी कैथोलिक नीति को लागू करना और संसद पारित अनेक कानूनों को रद्द करना प्रारम्भ कर दिया। इसलिए शासक और ससद में संघर्ष फिर से खड़ा हो गया। ऐसे समय में 1688 ई. में जेम्स के एक पुत्र पैदा हुआ जो नियमानुसार इंगलैण्ड के सिंहासन का अधिकारी था। जनता पहले ही जेम्स के व्यवहार से रुष्ट थी फिर पुत्र जन्म ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया क्योंकि कैथोलिक जेम्स उसे भी कैथोलिक शिक्षा प्रदान कर इंगलैण्ड पर कैथोलिकवाद थोप सकता था।

जेम्स द्वितीय ने अपने सिंहासनारूढ़ होने के समय विद्रोहों को दबाने सैनिकों की भर्ती की थी। पर विद्रोह-दमन के पश्चात् उस सेना का विघटन नहीं किया जो कि संसद द्वारा पारित विधान के विरुद्ध थी कि शासक को स्थाई सेना रखने का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त जेम्स ने धार्मिक न्यायालय की स्थापना कर 1641 ई. में पारित संसद के उस अधिनियम का उल्लंघन किया जो किसी भी प्रकार के विशेष न्यायालय स्थापित करने के विरुद्ध था। कट्टर कैथोलिक फ्रांस के शासक लुई चौदहवें से जेम्स की मित्रता भी लोगों को भड़का रही थी। विश्वविद्यालयों में जब कैथोलिकों की नियुक्ति की जाने लगी तो विद्यार्थी व प्राध्यापक

समुदाय भी जेम्स का विरोध प्रकट करने लगे। ऐसे समय में 1687 ई. को जेम्स ने रोम के पोप को इंगलैण्ड में बुलाकर उसका राजकीय सम्मान किया। अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए जेम्स ने एक ही नहीं दो बार धार्मिक अनुग्रह की घोषणा की—इसके अनुसार कैथोलिकों को अपने धर्म पालन करने की स्वतन्त्र', और बगैर धार्मिक पक्षपात नौकरियां देना था। जब ऐंगलिकन पादरियों ने इस घोषणा पत्र को पढ़ने से निवेदनपूर्वक मना कर दिया तो उन पर मुकदमें चलाये गये किन्तु ज्यूरी ने उन्हें निर्दोष ठहराया तो सारे राष्ट्र ने आनन्द का उत्सव मनाया। यह दिन 30 जून 1688 ई. था। इसी दिन एक परामर्शदात्री सभा बुलाई गई जिसमें लार्ड्स तथा चार्ल्स द्वितीय के शासनकालीन कॉमन सभा के सदस्य तथा सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सभा में व्हिग और टोरी दल के प्रतिनिधि भी शामिल हुए थे। इस सभा ने एक मत से विलियम ऑफ ऑरेंज को जेम्स के विरोध में निमन्त्रित किया।

विलियम का इगलैण्ड में प्रवेश— नवम्बर 1688 ई. में विलियम 15,000 सैनिक लेकर निर्विरोध इगलैण्ड पहुँचा। इस सेना में अंग्रेज, स्काट, डच, स्वीड तथा जर्मन सम्मिलित थे। इंगलैण्ड की सर्वसाधारण जनता, नेता तथा अधिकारियों, सभी ने विलियम का हार्दिक स्वागत किया। किसी ने भी अभागे जेम्स का साथ नहीं दिया। उसकी छोटी पुत्री एन ने भी उसका परित्याग कर दिया और यार्कशायर में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। अन्ततः जेम्स ने सैलिसबरी के स्थान पर लड़ने गया किन्तु उसके सेनापति जब उसका साथ छोड़ गये तो वह लन्दन लौट गया। यदि जेम्स इस समय भी स्वतन्त्र संसद बुलाना स्वीकार कर लेता, कानून विरोधी कार्यों के लिये शोक प्रकट करता और भविष्य में देश के कानूनों के अनुसार आचरण करने की प्रतिज्ञा करता तो संभव था कि जेम्स को राज्य से हाथ नहीं धोना पड़ता। पर उसने अंतिम समय तक अड़ियलपन का परिचय दिया। उसने अपना परिवार फ्रांस भेज दिया। उसे रोचेस्टर में बन्दी बना लिया गया किन्तु साधारण पहरे के कारण वह भी कैद से भाग कर फ्रांस चला गया। तत्पश्चात् कन्वेशन पार्लियामेन्ट की बैठक हुई जिसने सिंहासन को रिक्त घोषित करते हुए इंगलैण्ड का सिंहासन मेरी तथा विलियम को संयुक्त रूप से भेंट कर दिया। यह घटना इगलैण्ड के इतिहास में **गौरवपूर्ण क्रान्ति** कहलाती है। यह क्रांति बिना किसी रक्तपात के सम्पन्न हुई थी। इसका महत्व भी इसी में है कि बगैर रक्तपात के इगलैण्ड की जनता ने अपने धर्म और आजादी की रक्षा की थी। स्वेच्छाचारी शासकों का बिना किसी रक्तपात के अन्त होकर वैधानिक राजतंत्र की स्थापना होना निसंदेह गौरवपूर्ण था इसलिए एडमंड बर्क ने इसे 'आनन्दपूर्ण एवं गौरवपूर्ण' क्रांति कहा था। ट्रेवेलियन के अनुसार यह क्रांति विश्व की सभी क्रांतियों में अनुदार होते हुए भी उदार थी। इस क्रांति ने 1660 ई. की

पुनर्स्थापना के कार्य को वैधानिक स्वरूप प्रदान कर दिया था जिसमें संसद ने एक प्रस्ताव 1688 ई. को पारित करते हुए कहा था कि जेम्स द्वितीय ने सिंहासन त्याग दिया है और अनुभव से पाया गया है कि पोपवादी राजकुमार द्वारा इस प्रोटेस्टेन्ट राज्य का शासन असुरक्षित और अहितकर है, इसीलिये राजगद्दी विलियम और मेरी को संयुक्त रूप से प्रदान की गई है। उसके पश्चात् विलियम और मेरी की संतान, और उसके अभाव में मेरी की बहिन एन को तथा उसके बाद उसकी संतान को राजगद्दी का अधिकार प्राप्त होगा। विलियम और मेरी ने ऐसा स्वीकार करते हुए संसद द्वारा प्रस्तुत "अधिकारों की घोषणा" को भी स्वीकृती प्रदान कर दी।

13 फरवरी 1689 ई. को विलियम और मेरी का सिंहासनारोहण हुआ तथा कन्वेशन पार्लियामेन्ट ने अपने को निममित पार्लियामेन्ट घोषित करते हुए 1690 ई. तक बनाये रखा। इसीने उपरोक्त बिल ऑफ राईट्स सहित अनेक नियम पारित किये जिनको 22 मार्च 1690 ई. में गठित दूसरी संसद ने भी स्वीकृती प्रदान कर दी। यह नियम देश के कानून घोषित किये गये।

बिल ऑफ राइट्स, 1689 ई.–इस बिल में राजा को संसद की स्वीकृती बगैर कर लगाने का अधिकार अवैधानिक माना गया, कानून को स्थगित करने और विशेष न्यायालय गठित करने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए 1679 ई. के हैबियस कार्पस एक्ट को मजबूत किया जिसके अनुसार किसी भी गिरफ्तार व्यक्ति को तीन दिन के भीतर न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रावधान था। संसद में भाषण की स्वतन्त्रता, पर न्यायालयिक रोक पर प्रतिबन्ध स्थापित किया गया, व्यक्ति के अपराध सिद्ध नहीं होने तक उस पर जुर्माना, माल जब्त करने, आदि की धमकी को अवैध ठहराते हुए शारीरिक और आर्थिक दण्ड को उदार बनाया गया। प्रत्येक नागरिक को सम्राट के सम्मुख प्रार्थना प्रस्तुत करने का अधिकार देते हुए इस कारण नागरिकों को दण्ड प्रदान करने को अनुचित ठहराया गया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयाईयों को अपनी रक्षार्थ कानून द्वारा स्वीकृत हथियार रखने की स्वीकृती दी गई। पार्लियामेन्ट के स्वतन्त्र निर्वाचन तथा नियमित अधिवेशन को आवश्यक बनाया गया। इस प्रकार यह बिल महान् अधिकार पत्र (मेग्नाकार्टा) के पश्चात् संवैधानिक अधिकारों व नागरिक स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण विधेयक था।

मेरी और विलियम के काल में प्रेस की आजादी (1696 ई.) म्यूटिनी एक्ट 1696 ई. द्वारा संसद का सेना पर नियंत्रण, 1694 ई. का सहिष्णु अधिनियम द्वारा कैथोलिकों के अतिरिक्त धर्म स्वतन्त्रता, 1694 ई. के त्रेवार्षिक अधिनियम के द्वारा संसद काकाल तीन वर्ष तक सीमित करते हुए 1701 ई. का सैटिलमैन्ट एक्ट पारित किया गया।

एक्ट ऑफ सैटिलमेन्ट (1701 ई.) या उत्तराधिकार निर्णय अधिनियम 1689 ई. में मेरी और विलियम से बिल ऑफ राईटस में स्वीकृत करा लिया गया था कि उनके पश्चात् उनकी संतान, फिर एन तत्पश्चात् एन की संतान गद्दी पर बैठेगी। किन्तु 1694 ई. में मेरी की निसन्तान मृत्यु हो चुकी थी, 1700 ई. में रानी एन का पुत्र ड्यूक ऑफ ग्लोस्टर भी मर गया था ऐसी अवस्था में उत्तराधिकार का प्रश्न पुनः उठ खड़ा हुआ क्योंकि जेम्स द्वितीय के कैथोलिक उत्तराधिकारी को संसद गद्दी नहीं देना चाहती थी। अब गद्दी के लिए स्टूआर्ट वंश का एक ही प्रोटेस्टेन्ट अधिकारी रह गया था और वह जेम्स प्रथम कि पौत्री सोफिया थी जो कि हेनोवर (जर्मन) के इलेक्टर की पत्नी थी। 1701 ई. में संसद ने सोफिया तथा उसकी संतान को इंगलैण्ड का उत्तराधिकारी घोषित करते हुए कुछ धाराएं अधिनियम में सम्मिलित की जो निम्न थीं—

(1) यदि कोई भी व्यक्ति इंगलैण्ड का शासक होगा उसे इंगलैण्ड के चर्च का अनिवार्य सदस्य बनना पड़ेगा।

(2) यदि कोई भी व्यक्ति इंगलैण्ड का शासक होगा जो विदेश का रहने वाला हो तो इंगलैण्ड तथा उपनिवेशों की रक्षार्थ लड़ाई के लिए बगैर संसद स्वीकृती के कार्य नहीं करेगा।

(3) कोई भी शासक बगैर संसद की स्वीकृती के इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, तथा आयरलैण्ड के बाहर नहीं जायेगा।

(4) इस अधिनियम ने इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड और ब्रिटिश उपनिवेशों में पैदा हुए व्यक्तियों के लिए ही संसद सदस्यता सीमित कर दी। सैनिक विभाग और अन्य सरकारी पदों पर भी यह प्रतिबन्ध लगाया गया।

(5) न्यायपालिका को अधिक अधिकार प्रदान करने के लिये प्रावधान रखा गया कि संसद की बगैर स्वीकृती कोई भी शासक न्यायाधीशों को पद से हटा नहीं सकेंगे।

इस प्रकार यह एक्ट संसद की शक्ति को बढ़ाने वाले बिल ऑफ राइट्स से एक कदम आगे था। इस अधिनियम द्वारा राजतन्त्र के ऊपर संसदीय प्रधानता स्थापित कर दी गई थी। एडम्स के अनुसार इस अधिनियम ने इसकी पुष्टि कर दी कि इंगलैण्ड का सिंहासन दैवी अधिकारों का प्रतिफल नहीं अपितु पार्लियामेन्ट की कृपा का फल है। इसके साथ इस अधिनियम में संसदीय और मंत्रिमंडलीय प्रणाली के विकास को भी देखा जा सकता है क्योंकि प्रस्तावों पर मंत्रियों के हस्ताक्षर क व्यवस्था ने जहां राजा की उत्तरदायित्वता को समाप्त कर दिया वहाँ मन्त्रियों की उत्तरदायित्वता को निश्चित कर दिया। इसीलिये कहा जाने लगा कि "राजा कोई गलती नहीं करता।" वस्तुतः इंगलैण्ड के इतिहास में प्रजातन्त्र प्रणाली का सूत्रपात हमें बिल ऑफ राईट्स और एक्ट ऑफ सैटिलमैन्ट में दिखलाई देता है। रानी एन

के काल (1702–1714 ई.) में प्रधानमन्त्री कैम्पवेल बेनरमेन की घोषणा कि "कामन्स ही सर्वोच्च है" तथा 1711 ई. में लार्ड सभा से अधिक हाऊस ऑफ कामन्स को अधिकार प्रदान कर संसद के इतिहास में साधारण प्रजा को अधिक महत्व प्रदान किया गया था। 1714 ई. में रानी एन की मृत्यु के पश्चात् होनोवर वंश का जार्ज प्रथम गद्दी पर बैठा क्योंकि इसकी माता सोफिया की मृत्यु हो चुकी थी।

होनोवर वंश के काल में संसद

जार्ज प्रथम (1714–1714 ई) एक जर्मन था अतः इंगलिश भाषा और परम्परा से अनभिज्ञ था। उसने शासन से उदासीन रहने की नीति अपनाई इसीलिए उसने सारा प्रशासन भार मंत्रिमण्डल पर छोड़ दिया। 1697 ई. से जिस मंत्रि-मण्डल का गठन हुआ था वह संसद के बहुमत प्राप्त दल के लोगों का था। इसी प्रकार रानी एन टोरी दल के प्रति अधिक कृपा रखती थी और उसने टोरी दल के मंत्रियों की नियुक्ति की भी पर युद्ध के कारण टोरियों को व्हिगों पर आश्रित रहना पड़ा था। अतः व्हिगों ने भी अपनी शक्ति को बढ़ाया जब जार्ज प्रथम सम्राट बना तब संसद में व्हिग दल का बहुमत था। जार्ज ने जब मंत्रिमण्डल की अध्यक्षता करना छोड़ दिया तो उसका स्थान मंत्रियों में से एक वयोवृद्ध और अनुभवी पर यह भार आ पड़ा और बगैर प्रयत्न प्रधानमंत्री का पद इंगलैण्ड में सृजित हो गया। जार्ज ने यह सम्मान राबर्ट वालपोल को प्रदान किया जो 1721 से 1742 ई. तक मंत्रिमण्डल की अध्यक्षता करता रहा और प्रथम प्रधानमन्त्री कहलाया। पाट के बहुमत में होने तक ही प्रधानमंत्री की परम्परा भी वालपोल ने ही स्थापित की थी। जार्ज द्वितीय के काल (1727–1760ई.) में जब व्हिग दल अल्पमत में आ गया तो जार्ज द्वितीय की इच्छा के विरुद्ध उसने 1742 ई. में त्यागपत्र दे दिया। वालपोल ने केवल उन्हीं मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल में लेने का यत्न किया जो उसके विचारों से सहमत होते थे। प्रधानमंत्री की विचारधारा वाले या समान विचारों वाले मंत्रिमण्डल की देन के साथ-साथ प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता का सिद्धान्त उसने अपने साले टाउनशेंड को मंत्रिमण्डल से हटा कर स्थापित किया।

जार्ज द्वितीय के पौत्र और उत्तराधिकारी जार्ज तृतीय (1760-1820ई.) ने मन्त्रिमण्डल शासन प्रणाली को समाप्त कर अपने व्यक्तिगत शासन को स्थापित करने का प्रयत्न किया अतः 1782 ई. में डिनग ने संसद में प्रस्ताव रखा कि "राजा की शक्ति में वृद्धि हुई और होती जा रही है, इसे कम करना अनिवार्य है।" कामन सभा ने यह प्रस्ताव पारित कर दिया और लार्ड नार्थ ने 12 वर्ष बाद प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद फाक्स और नार्थ ने मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाया। 1783 ई. में फाक्स इन्डिया बिल कॉमन सभा से पारित होने के बाद

लार्ड सभा ने इसे अस्वीकृत कर दिया क्योंकि जार्ज तृतीय ने इसमें व्यक्तिगत हस्तक्षेप किया था। फलतः फाक्स ने त्यागपत्र दे दिया और दिसम्बर 1783 ई. में पिट् दयंगर प्रधानमन्त्री बना। पिट् द यंगर जनता में बड़ा लोकप्रिय था फिर राजा ने उसे प्रधानमन्त्री बनाया था अतः उसने कॉमन सभा का निर्वाचन करवा कर अपना बहुमत स्थापित किया। 1792 ई. में लार्ड चांसलर थर्लो को बरखास्त कर उसने संसद में अपनी धाक जमाई कि प्रधानमन्त्री अपने बहुमत पर अपनी नीतियों के हितार्थ सर्वोच्च है। इस प्रकार 1782 ई. से मन्त्रिमण्डल में संगठन और उसकी स्वतन्त्रता बढ़ने लगी तथा शासक का स्थान प्रधानमन्त्री लेने लगा। जार्ज चतुर्थ के काल (1820-1830 ई.) में व्हिग सरकार ने एक नियम के अनुसार राजा का खर्च और शासन का खर्च अलग अलग कर दिया। इस तरह शासन के खर्च पर संसद का नियंत्रण स्थापित हो गया और शासन प्रबन्ध पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण बढ़ने लगा। विलियम चतुर्थ (1830-1837 ई.) के शासन काल में **1832 ई. के प्रथम सुधार अधिनियम** ने राजा और लार्ड सभा की शक्ति को भारी धक्का लगा। इससे कॉमन सभा पर शासक प्रभुत्व लगभग समाप्त हो गया और राजा मात्र वैधानिक राजा रह गया। महारानी विक्टोरिया के शासनकाल (1837-1901ई.) में **1867 ई. में द्वितीय सुधार अधिनियम** पारित होने के बाद 1868 ई. में इंगलैण्ड संवैधानिक इतिहासकार वेजहाट ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की कि-मुकुट को औपचारिक कार्यों के अतिरिक्त तीन अधिकार है—(1) सलाह देना (2) प्रोत्साहित करना और (3) चेतावनी देना। इस अधिनियम ने मतदाताओं की संख्या में वृद्धि कर दी फलतः राजनीतिक दलों का महत्व बढ़ गया। अब यह विचार विकसित होने लगा कि मंत्री, प्रधानमन्त्री के प्रति वफादार हो, सारा मन्त्रिमण्डल एक प्रकार के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाला हो तथा पार्टी की नीतियों को संचालित करे। राजा के प्रति वफादारी की भावना मिटने लगी थी। यद्यपि पार्टी के प्रोग्राम के आधार पर जनता से अपील करने की प्रथा का विकास नहीं हुआ था। फिर भी 1831 ई. में व्हिग दल ने निर्वाचन सुधार को मुख्य मुद्दा बना कर चुनाव लड़ा था उनका नारा था—"बिल (1832 ई. का सुधार अधिनियम), सम्पूर्ण बिल, बिल के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" व्हिगों ने इस नीति पर जनमत का बहुमत प्राप्त कर बिल पारित कराया। रावर्ट पील का 'टैमवर्थ मेनीफेस्टो' भी इस दिशा में बढ़ता चरण था। क्रमशः राजनीतिक दल भी सिद्धान्त स्थापित कर चुनाव लड़ने की ओर बढ़ रहे थे। व्हिग दल (उदार दल) अनेक सुधारों जैसे दास प्रथा की समाप्ति, पूअर लॉ सुधार तथा नगरपालिकाओं के सुधार आदि में विश्वास रखता था तो इनके विपरीत राबर्ट पील द्वारा सुधरी हुई टोरी पार्टी (अनुदार दल) शासन के खर्च में कमी करने, विधान में क्रांतिकारी परिवर्तन आदि के विरुद्ध थी। **तृतीय सुधार**

अधिनियम 1884-85 ई. पारित होने के साथ ही मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारिणी के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए पूर्णतः कॉमन सभा के प्रति निष्ठावान हो गया।

रानी विक्टोरिया के उत्तराधिकारी पुत्र एडवर्ड सप्तम (1901-1910 ई.) के काल में आर्थिक बिल पर लार्ड सभा द्वारा रुकावट डालने पर **1911 ई. के पार्लियमेन्ट एक्ट** (संसदीय अधिनियम) द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया कि मन्त्रिमण्डल द्वारा लिया गया निर्णय अन्तिम है, सम्राट मन्त्रिमण्डल को अविश्वास प्रस्ताव के बगैर भंग नहीं करेगा, लार्ड सभा अर्थ बिल को तृतीय वाचन के पश्चात् स्वाभाविक रूप में पारित कर देगी आदि। इस बिल (1717 ई. के सप्तवर्षीय अधिनियम की समाप्ति) द्वारा संसद का कार्यकाल 7 वर्ष के स्थान पर 5 वर्ष कर दिया गया। संसद सदस्यों को भत्ता देना स्वीकार किया गया। यह अधिनियम जार्ज पंचम के काल (1910-1936 ई.) में पारित हुआ था इसी के काल में फ्रैंचाइज एक्ट या **रिप्रीजेन्टेशन ऑफ पीपल एक्ट, 1918 ई.** भी पारित किया गया जो इंगलैण्ड के मानवाधिकार के इतिहास में स्त्री-पुरुष के राजनीतिक अधिकारों को समदृष्टि प्रदान करता है।

फ्रैंचाइज एक्ट या रिप्रीजेन्टेशन ऑफ पीपल एक्ट, 1918 ई.—इंगलैण्ड के संविधान में 1918 ई. तक स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया गया और आश्चर्य जब अधिक बढ़ जाता है कि विश्व के प्रमुख और पुरातन प्रजातन्त्र कहे जाने वाले देश इंगलैण्ड से पूर्व 1893 ई. में न्यूजीलैण्ड में 1902 ई. में आस्ट्रेलिया में, तथा 1907 ई. में फिनलैण्डस्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो चुका था। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री जे. एस. मिल ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया और इस पर बहुत सी पुस्तकें भी लिखीं। 18(5 ई. में जब वह वेस्टमिनिस्टर से चुनाव लड़ा तो उसने चुनाव उद्देश्य में स्त्रियों के मताधिकार को मुख्य मुद्दा भी बनाया। संसद में पहुँचने के पश्चात् सुधार अधिनियमों में स्त्रियों के मताधिकार हेतु संशोधन प्रस्तुत किये किन्तु यह संशोधन स्वीकार नहीं किया गया। मिल के अतिरिक्त 1870 ई. में सर जेकॉब ब्राइट ने भी वीमेन्स सफ्रेज बिल प्रस्तुत किया परन्तु यह भी द्वितीय वाचन से अधिक आगे नहीं बढ़ा। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व संसद में इस निमित्त सात और बिल प्रस्तुत हुए वहाँ समाज में लगभग 100 संस्थाएँ स्त्रियों के राजनीतिक अधिकार के लिए कार्य कर रही थी। परन्तु इंगलैण्ड की स्त्रिरानी विक्टोरिया, प्रधानमंत्री ग्लैडस्टोन एवं दकियानूसी परम्परावादी समाज स्त्रियों के मताधिकार के विरुद्ध था। यह भी आश्चर्य है कि अनुदार दल (कन्जर्वेटिव दल या टोरी दल) का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति उदार दल (लिबरल दल या व्हिग दल) की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण था।

1906 ई. के पश्चात् इंग्लैण्ड का मजदूर दल (लेबर पार्टी) भी स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में हो गया। 1907 ई. में **क्वालिफिकेशन ऑफ वीमन एक्ट** द्वारा स्त्रियों को काउन्टी तथा बरो में काउंसिलर तथा एल्डरमेन बनने का अधिकार मिल गया। 19 3 ई. के पूर्व 'सफ्राजिस्ट' आन्दोलन चलाया गया जो कि शान्ति-पूर्ण कार्यवाही में विश्वास करने वाली पढ़ी-लिखी औरतों का आन्दोलन था। किन्तु इनकी असफलता ने इसका नेतृत्व आतंकवादियों के हाथ में छोड़ दिया जिसकी नेता मैनचेस्टर के एक वकील की विधवा श्रीमती पैन्खर्स्ट थी। 1903 ई. में इसने 'वीमेन्स सोशियल एण्ड पोलिटिकल यूनियन' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य समाज तथा सरकार के विरुद्ध युद्ध करना था। इस यूनियन ने राजनीतिक सभाओं में गड़बड़ी पैदा की, मन्त्रिमण्डल की बैठकों में हस्तक्षेप किया, सरकारी दफ्तरों की खिड़कियां तोड़ी, पुलिसमैनों से दुर्व्यवहार किया, बड़े-बड़े जुलूस आयोजित किये और प्रेस को अपना प्रचार का साधन बनाया। 1909 ई. में प्रधानमंत्री एस्क्विथ ने निर्वाचन सम्बन्धी वॉलिग मताधिकार स्थापित करने का बिल प्रस्तुत भी किया पर द्वितीय वाचन पर ही यह बिल ठहर गया। 1910 ई. में एक प्राईवेट बिल '**कन्साइलेशन बिल**' प्रस्तुत हुआ परन्तु सरकार की ओर से इसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इससे आतंकवादियों ने निराश हो कर अपनी गतिविधि और तेज कर दी। परिणामस्वरूप आन्दोलन हिंसात्मक होने लगा। इस पर हजारों स्त्रियों को जेल में डाल दिया गया पर उन्होंने वहाँ अनशन प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः उन्हें छोड़ दिया गया किन्तु हिंसात्मक आन्दोलन चलता रहा। 1193 ई. में इनकी कार्यवाही रोकने के लिए एक कानून पास किया जिसे जनता 'द् केट एण्ड द् माऊस एक्ट' कहती थी। इसके पूर्व 1912 ई. में सरकार ने **फ्रेंचाइज एण्ड रजिस्ट्रेशन बिल** प्रस्तुत किया था और इसमें स्त्रियों को मताधिकार प्रदान करने के लिये संशोधन के रूप में एक अनुच्छेद बढ़ा दिया था। परन्तु स्पीकर (अध्यक्ष) ने इस संशोधन को अवैध घोषित कर दिया। सरकार ने भी बिल वापस ले लिया। 1914 ई, में लार्ड सभा में सफ्रेज बिल रखा गया किन्तु यह पारित नहीं हो सका।

प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918 ई.) में स्त्रियों द्वारा राष्ट्र के प्रति अमूल्य सेवाओं ने इंग्लैण्ड की जनता और सरकार को प्रभावित किया। फलतः 1961 ई. में स्पीकर की अध्यक्षता में एक निर्दलीय समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने अपनी राय स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में देते हुए कुछ सिफारिश सरकार को प्रस्तुत की। इन सिफारिशों के आधार पर 1918 ई. में **सुधार अधिनियम** संसद में रखा गया और यह पारित भी हो गया। इसके अनुसार कम से कम 30 वर्ष आयु की स्त्रियों को जो सम्पत्ति स्वामी होने के कारण काउन्टी और बरो के

चुनाव में वोट दे सकती थीं अथवा जिनके पति किसी व्यवसाय में लगे हुए थे और काउन्टी तथा बरो के चुनाव में वोट दे सकते थे, उन्हें कामन सदन के लिये वोट देने का अधिकार मिल गया। किन्तु इस अधिनियम से स्त्रियाँ पूर्णतः संतुष्ट नहीं हुई। अतः उनका संघर्ष चलता रहा और 1924 ई. में एक अधिनियम द्वारा स्त्री, पुरुष की आयु (21 वर्ष) समान कर दी गई।

इस प्रकार इंग्लैण्ड में सार्वभौम वयस्क मताधिकार की स्थापना हुई। स्त्रियों को मताधिकार मिलने से इंग्लैण्ड में सच्चे अर्थ में लोकतन्त्रीय प्रशासन की स्थापना हो गई आज वहाँ मताधिकार की आयु 18 वर्ष है।

जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1948 ई.—इस अधिनियम के अनुसार विशेष विश्वविद्यालय प्रतिनिधित्व और स्नातकों तथा व्यापारिक संस्थानों के दोहरे मत का अधिकार समाप्त कर दिया गया। इससे यह ध्येय प्राप्त हो गया कि एक आदमी का एक मत हो। 1911 ई. के संसदीय अधिनियम के अनुसार लार्ड सभा की वे शक्तियां, जिससे कि वह लोक-सभा के पारित बिल को रद्द कर सकती थी (क्योंकि उस समय पारित करने के लिए स्वाभाविक अर्थ लिया गया था), समाप्त कर दी गई और अब वह केवल विशष परिस्थितियों में दो वर्ष देरी कर सकती थी। अब यह भी निर्णय लिया गया कि इस दो वर्ष की अवधि को एक वर्ष ही रखा जाए। इस प्रकार इस अधिनियम ने लार्ड सभा के विरोध को पूर्णतः प्रभावहीन कर कॉमन सभा के प्रभुत्व को स्थापित कर दिया।

सर्वदलीय सम्मेलन 1949 ई.—सर्वदलीय सम्मेलन में सिफारिश की गई कि लार्ड सभा की वंशानुगत सदस्यता को समाप्त कर उनके स्थान पर स्त्रियों को स्थान दिया जावे। यद्यपि वंशानुगत सदस्यता समाप्त नहीं हुई परन्तु अब तक सात महिलाओं को इस सदन की सदस्यता अवश्य मिल गई। संभवतः इसी परिवर्तन का परिणाम है कि आज इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री पद पर एक महिला मारग्रेट थेचर बैठी हुई है।

1968 ई. का श्वेत-पत्र—मजदूर दल की सरकार ने लार्ड सभा में और सुधार करने तथा उसे प्रजा-तन्त्र के अनुरूप बनाने 1968 ई. में एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया था। इसके अनुसार लार्ड सभा के सदस्यों को दो श्रेणी में विभक्त करना, उनके वंशानुगत अधिकार को समाप्त करना तथा विधेयक विलम्बन को दो वर्ष के स्थान पर छः माह करना था। यह प्रस्ताव यद्यपि स्वीकार नहीं हुए फिर भी लार्ड सभा ने अपनी शक्ति प्रयोग को बिल्कुल मौन कर दिया है। इसीलिए कहा भी जाता है कि आज लार्ड सभा दूसरा सदन नहीं बल्कि दूसरे दर्जे का सदन हो गया है। वहाँ चर्चिल जैसा अनुदान प्रधानमंत्री सगर्व कहता था कि "मै लोक सदन (कॉमन सभा) का शिशु हूं।"

जार्ज पंचम के उत्तराधिकारी एडवर्ड अष्टम (1936 ई.) को मंत्रीमंडल ने एक अमेरिकन महिला श्रीमती सिम्पसन से विवाह की अनुमति नहीं प्रदान की अन्ततः उसे अपने हठ के कारण सिंहासन छोड़ना पड़ा। मंत्रीमण्डल और सदन का शासक के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप के अधिकार का यह उदाहरण ही काफी है। एडवर्ड के पश्चात् जार्ज षष्टम गद्दी पर (1936–1952 ई.) बैठा तत्पश्चात् वर्तमान महारानी एलिजाबेथ का शासन काल प्रारम्भ हुआ। इनके काल में 1968 ई. का श्वेत पत्र ही संसदात्मक प्रणाली के लिये मजदूर दल द्वारा प्रस्तुत किया गया था जिसका उल्लेख उपरोक्त हो चुका है।

आधुनिक राजनैतिक दल–टोरी और व्हिग दलों का गठन 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रांति के पश्चात् हो गया था और यह दल 150 वर्ष तक बारी-बारी से इंग्लैण्ड के शासन का संचालन करते रहे थे। 1832 ई. के सुधार अधिनियम के पश्चात् व्हिग पार्टी, उदार दल के नाम से तथा टोरी पार्टी, अनुदार दल के नाम से विख्यात हुई। यद्यपि आज उदार दल का अस्तित्व शून्यमात्र है फिर भी 1830 ई. से 1874 ई. तक इस दल का शासन पर प्रभुत्व रहा था। 1874 ई. से 1905 ई. तक लगभग अनुदार दल की सत्ता रही, 1905ई. में उदार दल सत्ता में आया और 1915 ई. तक शासन में रहा। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इसने अपना महत्व खो दिया और उसका स्थान आज मजदूर दल ने ले लिया है। मजदूर दल की प्रथम सरकार 1924 ई. मेक्डानल्ड के नेतृत्व में बनी थी तब से अनुदार और मजदूर के मध्य सरकारें बनती और गिरती रही हैं। उदार दल आज इनके मध्य संतुलन का कार्य करता है।

इंग्लैण्ड की संसदात्मक प्रणाली के विकास अभी तक पूर्ण हो गया हो ऐसा नहीं क्योंकि इंग्लैण्ड का विधान, संसद, राजनीतिक दल और जनमत आवश्यकतानुसार अपने को बना लेने में सक्षम है फिर भी परिवर्तन इंग्लैण्ड की परम्परा के चिन्ह होते हुए भी वहाँ परम्परा परिवर्तन की अनुगामी नहीं है।

— — —

15

अन्तर्राष्ट्रीयवाद का उद्भव और विकास

उन्नीसवीं शताब्दी तक विश्व का राजनीतिक संगठन राष्ट्रीय राज्यों के रूप में था। इन राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध व्यापक नहीं थे। परन्तु आज के युग में यातायात के साधनों और दूर संचार व्यवस्था ने राष्ट्रों के मध्य निकट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। आज का मानव अपने देश और देशवासियों के मामलों में जितनी रुचि रखता है, उतनी ही विश्व में घटित होने वाले समाचारों के प्रति भी रखता है। प्रत्येक राष्ट्र के निवासी किसी न किसी रूप में एक दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार आज के मानव में विश्व बन्धुत्वता तथा एक विश्व राज्य या विश्व सरकार की भावना बलवती होती जा रही है। वैसे मध्य युग में यूरोप के ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी विश्व बन्धुत्व की भावना को बढ़ाने में जोर दिया था। उसके अन्तर्गत एक ईसाई विश्व समाज एवं राज्य निर्मित करने की भावना थी। परन्तु आज के प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रों का अन्त करके एक सार्वभौम विश्व राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अपितु राष्ट्रीय राज्यों के अनिवार्य अस्तित्व को स्वीकार करते हुए आत्म सम्मान और सुशासन पूर्ण राष्ट्रों का एक ऐसा पारिवारिक संगठन अन्तर्राष्ट्रीयता के अन्तर्गत आता है जिसमें राष्ट्रों की समानता, शान्ति एवं पारस्परिक सहयोग व सद्भाव के सूत्र गूंथे हुए हों। मध्य युग में विश्व बन्धुत्व की भावना एक आध्यात्मिक भावना थी किन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उसका राजनीतिक रूप है। मानव जाति के कल्याण तथा सुरक्षा हेतु भारतीय दर्शन से 'जीयो और जीने दो' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम' आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयता का द्योतक ही है। विभिन्नता में एकता के अन्तर्गत राष्ट्रीय पार्थक्य तथा सम्प्रभुता की भावना को अन्तर्राष्ट्रीय एकता और सद्भावना के रूप में लेने की भावना ही अन्तर्राष्ट्रीयता है।

इस दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीयवाद का मुख्य तत्व राष्ट्रवाद है। किन्तु यह भेड़ियों के झुंड सा राष्ट्रवाद अर्थात् सैनिकवाद नहीं होकर सांस्कृतिक, नैतिक

और आध्यात्मिक प्रकृति का राष्ट्रवाद होना चाहिए। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयवाद का तत्व साम्राज्यवाद भी है किन्तु साम्राज्यवाद सम्पूर्ण विश्व में अपना साम्राज्य स्थापित करके इसे एक केन्द्रीयकृत शासन के अधीन रखकर एक विश्व साम्राज्य स्थापित करने वाला साम्राज्यवाद शोषण और दासता का द्योतक है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयवाद मानव कल्याण और समानता की भावना का प्रतीक है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीयवाद एक निरंकुशतन्त्र तथा एकात्म विश्वराज्य का उद्देश्य न रखकर विश्व के समस्त स्वायत्तशासी सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यों का संघात्मक राज्य स्थापित करके राष्ट्रीय सम्प्रभुता को मान्यता देने के साथ-साथ विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग, सद्भावना एवं शान्ति स्थापित कर समस्त विश्व के मनुष्यों के कल्याण का उद्देश्य रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीयवाद का विकास

अन्तर्राष्ट्रीयवाद का विकास किसी न किसी रूप में अति प्राचीन काल से होता आया है और विभिन्न कालों में अनेक तत्वों ने इस धारणा के विकास में योगदान किया है। इसका रूप विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार का रहा है। परन्तु समग्र रूप में इसके सैद्धान्तिक विकास को निम्न बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है—

1. अन्तर्राष्ट्रीयता का चिन्तन—जैसाकि उल्लेखित किया जा चुका है कि भारतीय दर्शन में प्राचीनकाल में विश्व बन्धुत्वता के बारे में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। मध्यकालीन यूरोप में यह विश्व बन्धुत्व की विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद की प्रेरणा के रूप में प्रकट होने लगी। सत्रहवीं शताब्दी मे फ्रांस के विचारक डक डी सली ने एक योजना प्रस्तुत करते हुए समस्त यूरोप का एक ईसाई गणतन्त्र निर्मित करने का प्रस्ताव रखा था। इसी प्रकार एबे डी सेंट पियरी ने भी एक योजना प्रस्तुत की थी जिसका उद्देश्य समूचे यूरोप का एक ऐसा समाज निर्मित करना था, जिसमें समस्त राज्य यथास्थिति बनाये रखते और कोई दूसरे पर आधिपत्य न रखता। इस योजना के अनुसार यूरोप के सभी राज्यों के मध्य ऐसी सन्धि होती जिसके आधार पर यदि कोई राज्य दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करता तो समस्त राज्य मिलकर उसका विरोध करते। इस योजना में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक सन्धियों के सिद्धान्तों का विशद् वर्णन नहीं किया गया था अतः यह अव्यवहारिक रही। किन्तु इस योजना ने फ्रांस के विचारक रूसो को बहुत प्रभावित किया। रूसो ने सम्पूर्ण यूरोप का एक संघ राज्य निर्मित करने का विचार प्रस्तुत किया, जिसके अन्तर्गत विधि के शासन का सिद्धान्त अपनाया जाता। इस संघ का निर्माण राष्ट्रों के मध्य एक समझौते के फलस्वरूप होता और संघ की एक कांग्रेस होती जिसमें राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर होता। संघ का उत्तरदायित्व यह होता है कि वह राष्ट्रों की प्रादेशिक सुरक्षा का भार

अपने ऊपर रखता। समझौते के उल्लंघन करने वाले राष्ट्र पर संघ द्वारा सैनिक प्रतिबन्धात्मक कार्यवाही की जाती। रूसो के पश्चात् इंगलैण्ड के विचारक बैंथम ने सर्वप्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' शब्द का प्रयोग किया। उसने विभिन्न राष्ट्रों के उन कानूनों को संहिताबद्ध किया जो राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते थे। बैंथम को युद्धों से घृणा थी अतः उसने निःशस्त्रीकरण का समर्थन किया और औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की समाप्ति के सुझाव रखे।

बैंथम के पश्चात जर्मन विचारक इमैनुएल कांट ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने तथा युद्धों को रोकने के विचार से एक संघात्मक योजना प्रस्तुत की। इसके अन्तर्गत भी राज्यों की स्वायत्तता को मान्यता दी गई। इसमें प्रस्ताव यह थ कि शनैः शनैः सभी राज्य अपनी स्थायी सेनाओं को कम करते जाये। राज्य एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति अपनावे। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विकास तथा इसकी महत्ता से प्रभावित होकर अनेक राजनयिकों साहित्यकारों, दार्शनिकों तथा मानवतावादियों ने भी इसके महत्व पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस श्रेणी के महापुरुषों में एच. जे लास्की, एच. जी. वेल्स, एम. के. गांधी, जे. एल. नेहरू, बरट्रेण्ड रसेल, टेनीसन आदि मुख्य हैं। साम्यवादी विचारधारा भी अन्तर्राष्ट्रीयवाद में विश्वास रखती है।

अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विकास में रोमन काल के प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मानवों की प्राकृतिक समानता तथा विभिन्न राष्ट्रो के नागरिकों के मध्य सम्बन्ध निर्धारण करने की व्याख्या भी महत्वपूर्ण हैं। मध्यकाल के विचारकों में भी इन कानूनों का विकास हुआ। सर्वप्रथम ग्रोशियस ने राष्ट्रों के मध्य युद्ध तथा शान्ति के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा का सूत्रपात किया था। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पर्याप्त विकास हो चुका है। सभ्य राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करने के कुछ सामान्य नियम तथा परम्पराएं इसके स्रोत है और उनका पालन करना सभी राष्ट्रों के लिए अनिवार्य नैतिकता हो जाती है। यद्यपि कानून की दृष्टि से और राष्ट्रों की सार्वभौमिकता निरंकुश होने से इन्हें मानने के लिए बाध्य तो नहीं किया जा सकता तथापि व्यावहारिक रूप में उनका पालन करने की परम्परा ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त योगदान किया है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा संगठन—अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विकास में समय-समय पर होने वाले विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने व्यवहारिक दिशा प्रदान की है। सर्वप्रथम 1815 ई. में रूस के प्रयत्नों से रूस, प्रसिया तथा आस्ट्रिया के मध्य एक सन्धि पवित्र सन्धि (Holy Allianu) के नाम से की गई। बाद में इसमें कुछ अन्य राष्ट्र भी सम्मिलित हुए। 1848 ई. के युद्ध के कारण यह संस्था

असफल हो गई। 1815 ई. में ही वियना कांग्रेस द्वारा 'संयुक्त व्यवस्था' के अन्तर्गत यूरोपीय देशों के मध्य शान्ति स्थापना का प्रयास किया गया था। शूमां के शब्दों में "यह एक सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था।" सन् 1856 ई. में पेरिस कांग्रेस में ग्रोशियस के प्रतिपादित नियमानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को मिटाने के लिए नियम बनाये गये। 1864 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य युद्धों में घायल सैनिकों का उपचार करना था। इस संस्था का लगातार विस्तार होता गया और 1919 ई. तक विश्व के विभिन्न भागों में इसकी 26 शाखाएं हो चुकी थीं। कालान्तर में संचार, व्यापार आदि के सम्बन्ध में अनेकानेक संगठनों का निर्माण होता गया जो अन्ततः राष्ट्रसंघ एवं वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं।

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में सन् 1899 ई. तथा 1907 ई. के हेग सम्मेलनों के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को पंचायती निर्णयों द्वारा तय करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। प्रथम सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण पर विचार किया गया जो कि असफल रहा। फिर भी अन्य शान्ति के मसलों पर यह सम्मेलन विश्व में लोकप्रिय हुआ और इसके द्वारा स्थापित पंचायती न्यायालय ने अनेक राष्ट्रों के कई पारस्परिक विवादों को तय किया। सन् 1907 ई. में हेग कांफ्रेंस में 44 राष्ट्रों ने भाग लिया। इसमें युद्ध-बन्दी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का निर्माण किया गया किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के फलस्वरूप यह सम्मेलन अप्रभावी सिद्ध हो गये।

1919 ई. में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वर्साई की सन्धि अन्तर्राष्ट्रीयता को पुनर्जीवित करने की दिशा में महत्पूर्ण चरण था। इस सन्धि के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विलसन के प्रयासों से विश्व युद्धों को रोकने के लिए सन् 1920 ई. में राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। प्रारम्भ में इसमें 42 सदस्य (राष्ट्र) सम्मिलित हुए। सन 1934 ई. तक इसमें सदस्यों की संख्या 56 हो गई थी। किन्तु यह संगठन भी अनेक त्रुटियों के कारण असफल रहा फलतः द्वितीय विश्व युद्ध को यह रोक नहीं पाया।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण तथा विकास की दिशा में अगला महत्वपूर्ण कदम सन् 1941 ई. का एटलांटिक चार्टर था। यद्यपि यह इंगलैण्ड तथा अमेरिका के शासनाध्यक्षों (चर्चिल और रूजवेल्ट) की सन्धि के रूप में था और द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य निर्मित हुआ था, फिर भी यह वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की भूमिका के रूप में था। राष्ट्र संघ के स्थान पर नया अन्तर्राष्ट्रीय संघ—संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम से निर्मित करने की योजना डम्बार्टन ओक्स नामक स्थान पर अक्टूबर 1944 ई. को अमेरिका, सोवियत रूस, इंगलैण्ड तथा

चीन के प्रतिनिधियों ने मिल कर तैयार की। 25 अप्रैल 1945 ई. को संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन सान फ्रांसिस को मे आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तैयार किया गया। 24 अक्टूबर 1945 ई. को जब लीग के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ कार्य करने लगा तो उसके चार्टर को 51 राष्ट्र स्वीकार कर चुके थे। आज इस सगठन की सदस्य सख्या 153 है। संयुक्त राष्ट्र संघ की लोकप्रियता विश्व राष्ट्रों के मध्य बढ़ती जा रही हैं और नये-नये राष्ट्र इसमें सम्मिलित होते जा रहे हैं।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीयवाद को अधिक से अधिक फैलाने और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो कार्य किये हैं। उनके अध्ययन के साथ-साथ उसकी रचना और कार्य प्रणाली का अध्ययन आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्वगामी रा. सं था और इसी का सुधार संयुक्त राष्ट्र सघ है। अतः प्रथमतः राष्ट्र संघ के उद्देश्यों और उसकी असफलता का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

(1) राष्ट्र संघ

19 0 ई. के समझौते के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करना और बिना युद्ध का सहारा लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राष्ट्रों के पारस्परिक खुले, ईमानदार और सम्मानजनक सम्बन्धों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की उपलब्धि करना, राष्ट्र संघ के उद्देश्य माने गये थे।

किसी भी राज्य के शासन संगठन की भांति राष्ट्र सघ के भी चार प्रमुख अंग—कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका तथा सचिवालय थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्र सघ का एक विशिष्ट संगठन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन था। राष्ट्र संघ की कार्य प्रणाली अनेक समितियों तथा आयोगों द्वारा संचालित होती थी—

(1) सभा—यह राष्ट्र सघ का सर्वशक्तिमान अंग था। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इसमें तीन प्रतिनिधि भेज सकता था किन्तु राष्ट्र का एक मत माना जाता था। सभा वर्ष में एक बार सितम्बर के आस-पास बैठती थी। इसके निर्णय सर्वसम्मति द्वारा लिये जाते थे। यह अपना बजट पास करती थी, संघ की परिषद के अस्थाई सदस्यों तथा परिषद के साथ-साथ न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती थी। यह नये सदस्यों को संघ में प्रवेश देने का निर्णय भी लेती थी।

(2) परिषद – कार्यपालिका के रूप में परिषद राष्ट्र संघ का दूसरा अंग था। इसमें प्रारम्भ में इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान स्थायी सदस्य थे। बाद में जर्मनी के राष्ट्र संघ में सम्मिलित होने पर सन् 1936 ई. से वह भी स्थायी सदस्य बनाया गया। इनके अतिरिक्त कुछ अस्थाई सदस्य होते थे जो प्रति वर्ष सभा द्वारा निर्वाचित होते थे। इनकी प्रारम्भ में संख्या 4 थी। बाद में 1922 ई. में 6,

1926 ई. में 9, 1933 ई. में 10 तथा 1936 ई में 11 कर दी गई। साधारणत: इसकी बैठक वर्ष में 3 या 4 बार हुआ करती थी किन्तु अन्य आकस्मिक अवसरों पर इसे बुलाया जा सकता था। इसके मुख्य कार्य सदस्य राष्ट्रों के मध्य सीमा-विवादों को तय करना, उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता का संरक्षण करना, नि:शस्त्रीकरण आदि थे। यह विभिन्न आयोगों के कार्यों की देख-रेख करती थी और वार्षिक बजट बनाती थी। सभा की भांति इसके निर्णयों को भी साधारणतया सर्वसम्मति से लेने की व्यवस्था थी।

(3) सचिवालय—संघ के प्रशासनिक कार्यों के रिकार्ड रखने तथा संघ की कार्य प्रणाली की व्यवस्था करने के लिये एक स्थायी सचिवालय था जिसका प्रधान महासचिव होता था। उसे सभा की स्वीकृति द्वारा परिषद् नियुक्त करती थी। उसकी सहायता के लिये अनेक अन्यपदाधिकारी भी हुआ करते थे।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हेग नामक स्थान पर 1921 ई. में की गई थी। इसका कार्य उन विवादों को तय करना था जो राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा सधियो के निर्वचन एवं अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के उल्लंघन से सम्बन्धित होते थे। यह परिषद् को परामर्श देने का कार्य भी करता था। इसमें 9 न्यायाधीश तथा 4 उप-न्यायाधीश होते थे।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन—इस सगठन का उद्देश्य दासता तथा श्रमिकों की कठिनाइयों का निवारण करना था, ताकि विश्व भर के मानव श्रमिकों को मानवीय परिस्थितियों में कार्य करने की व्यवस्था की जा सके। कोई राष्ट्र बिना राष्ट्र संघ का सदस्य हुए इसका सदस्य नहीं बन सकता था, यद्यपि बाद में अमेरिका राष्ट्र संघ की बगैर सदस्यता, इस सगठन का सदस्य बना लिया गया था। इस सगठन का प्रतिनिधित्व विभिन्न राज्यों की सरकारें, श्रमिक तथा मालिक करते थे।

राष्ट्र सघ का मूल्यांकन – प्रारम्भ में राष्ट्र संघ का कार्य राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मानवीय क्षेत्रों में सराहनीय रहा। परन्तु कालान्तर में शक्तिशाली राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता के दृष्टिकोण से सोचने लगे और अपने साम्राज्य विस्तार की दिशा में राष्ट्र सघ के उद्देश्यों के विरुद्ध आचरण करने लगे। जब जापान ने चीन पर, इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किये तो राष्ट्र संघ द्वारा विरोध किये जाने पर वे राष्ट्र संघ से ही अलग हो गये। कालान्तर में जर्मनी ने भी यही किया रूस को लम्बे समय तक राष्ट्र संघ का सदस्य ही नहीं बनाया गया था इसीलिए राष्ट्र संघ को रूस के विरुद्ध पश्चिमी षड्यन्त्र की संस्था कहा जाता था। इसका जन्मदाता अमेरिका इससे अलग रहा अत: एक अनाथ बालक के रूप में यह संस्था अपने स्वरूप को खोजती रही। वहां फ्रांस की गुट नीति और इंगलैण्ड की

तुष्टीकरण की नीति ने कभी भी वास्तविक सहयोग पर इसे कार्य नहीं करने दिया। इस प्रकार अपमानजनक संधि के द्वारा इसका उदय और द्वितीय विश्व युद्ध के एक झटके ने इसका अन्त कर दिया। फिर भी राष्ट्र संघ का न्यायालय तथा श्रम संगठन आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से कार्यरत है। द्वितीय विश्व युद्ध ने राष्ट्र संघ की दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की महत्ता को अधिक पुष्ट कर दिया। अतः विश्व के राष्ट्रों ने राष्ट्र संघ की कमियों को दूर करते हुए नवीन विश्व संगठन पर जोर दिया। इसी के फलस्वरूप राष्ट्र संघ की मृत्यु (1946 ई.) पूर्व ही उसके उत्तराधिकारी का चयन करने द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर वार्ताएं प्रारम्भ हो गई थी। राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक व्यापक, प्रभावशाली और शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ इन्हीं वार्त्ताओं और विभिन्न सम्मेलनों (लन्दन घोषणा, 12 जून 1941 ई., एटलांटिक चार्टर, अगस्त 1941 ई., संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा जनवरी 1942 ई., मास्को सम्मेलन नवम्बर 1943 ई., तेहरान सम्मेलन दिसम्बर 1943 ई., डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन अक्तूबर 19-4 ई, याल्टा सम्मेलन फरवरी 1945 ई. तथा सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन अक्तूबर 1945 ई.) का परिणाम है।

(2) संयुक्त राष्ट्र संघ—

26 जून 1955 ई. को अमेरिका के सान फ्रांसिस्को नगर में हुए 50 राष्ट्रों के सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्र के 111 अनुच्छेदों का संविधान (चार्टर) स्वीकृत किया था। 24 अक्तूबर सन् 1945 ई. से यह प्रभावी हो गया, जबकि 29 से अधिक राष्ट्रों का इसे अनुसमर्थन प्राप्त हो चुका था। अप्रेल 1946 ई. को राष्ट्र संघ की सभा का अन्तिम औपचारिक अधिवेशन हुआ जिसमें उसने अपने को समाप्त घोषित किया। उसी दिन संयुक्त राष्ट्र संघ ने लीग से विश्व के महानतम संगठन होने का कार्य भार ग्रहण किया।

उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का उल्लेख उसके चार्टर के प्रथम अनुच्छेद में किया गया है। यह इस प्रकार है'—(1) आक्रमक तथा युद्ध जनित साधनों को रोकते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से तय करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना, (2) समान अधिकार तथा जनता के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानते हुए राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना, 3) आर्थिक, सांस्कृतिक और मानवीय प्रकृति की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सहारा लेना ताकि जाति, लिंग, भाषा, धर्म आदि का भेदभाव न रखते हुए समस्त मानवों के मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को सम्मान प्रदान किया जा सके तथा (4) इन सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रों के कार्य-कलापों में एकरूपता लाने का केन्द्र बनना।

सिद्धान्त—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में ही उसके आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। यह सिद्धान्त है—संघ में सम्मिलित सदस्य राष्ट्रों की समान सम्प्रभुता, चार्टर के अन्तर्गत वर्णित दायित्वों को सद्भावना से सम्पन्न करना, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से निपटाना ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय को किसी प्रकार का आघात न पहुंचे, किसी राज्य की प्रादेशिकता तथा स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल प्रयोग या भय का प्रदर्शन न करना, चार्टर के अन्तर्गत कार्यवाहियां करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को सहायता देना तथा ऐसे राष्ट्रों को किसी प्रकार की सहायता न देना जिनके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ ने कोई प्रतिबन्धात्मक कदम उठाया हो, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के हित में गैर सदस्य राष्ट्रों के प्रति इस आदेशात्मक दायित्व को सम्पन्न करना कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करें तथा यह कि संयुक्त राष्ट्र संघ किसी राज्य में आन्तरिक तथा घरेलु मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, न उनके सम्बन्ध में राज्यों को कोई सूचना देने के लिए बाध्य करेगा।

संरचना—संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रारम्भ में 51 राष्ट्र सम्मिलित हुए थे। शनैः शनैः इसमें राष्ट्रों की संख्या बढ़ती गई आज इसकी सदस्य संख्या 153 है और भविष्य में और बढ़ेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों को कार्यरूप प्रदान करने के लिए इसके संगठन में छः प्रमुख अंगों की व्यवस्था की गई है। यह अंग हैं—(1) महासभा (2 सुरक्षा परिषद (3) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (4) सचिवालय (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा (6) संरक्षण परिषद।

1. महासभा—महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वोच्च तथा प्रमुख अंग है। यह राज्यों के शासन की व्यवस्थापिका की भांति है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र इसका सदस्य होता है और वाद-विवाद हेतु पांच तक प्रतिनिधि इसमें भेज सकता है, किन्तु मतदान में प्रत्येक राष्ट्र का केवल एक मत होता हैं। महासभा का अधिवेशन वर्ष मे एक बार सितम्बर मास में प्रारम्भ होता है जिसमें वह वर्ष भर के लिए अध्यक्ष तथा विभिन्न समितियो का निर्वाचन करती है। यह समितियां हैं—राजनीतिक तथा सुरक्षा सम्बन्धी, आर्थिक तथा वित्तीय, सामाजिक तथा सांस्कृतिक, संरक्षण सम्बन्धी, प्रशासकीय व बजट सम्बन्धी तथा वैधिक। यह कार्यकारी समितियां कहलाती है। महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद तथा सदस्य राष्ट्रों के बहुमत द्वारा आवेदन करने पर महासचिव संयुक्त राष्ट्र महासभा के विशेष अधिवेशन भी बुला सकता है।

यद्यपि महासभा को प्रभुत्व-सम्पन्न शक्तियां प्राप्त नहीं है, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा तथा शान्ति के सम्बन्ध में यह विचार विनियम, अध्ययन तथा संस्तुतियां प्रदान करने वाली संस्था है। यह विश्व भर के राष्ट्रों का खुला चेतना-

गृह है, साथ ही विश्व जनमत का निर्माण करने वाला स्थल है। इसके प्रस्ताव तथा सिफारिशें विश्व-शान्ति, सहयोग तथा सद्भावना को प्रेरित करने के साधन हो सकते हैं। महत्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा 2/3 बहुमत से निर्णय लेती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों के सदस्यों का निर्वाचन महासभा द्वारा किया जाता है, यथा सुरक्षा परिषद् के अस्थाई सदस्य, सामाजिक तथा आर्थिक परिषद् के सदस्य, संरक्षण परिषद् के सदस्य, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश, महासचिव की नियुक्ति आदि। नये सदस्यों को प्रवेश देने के लिए भी महासभा 2/3 बहुमत से निर्णय लेती है। इन कार्यों मे से कुछ के सम्बन्ध में महासभा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर तथा कुछ के सम्बन्ध में उसके साथ-साथ निर्णय लेती है। यही संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का संशोधन कर सकती हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु अन्य संस्थाओं का निर्माण भी कर सकती है। संक्षेप में, चार्टर की भावनाओं को क्रियान्वित करने के लिए महासभा की शक्तियां, अधिकार और कर्त्तव्य पर्याप्त व्यापक हैं। इसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वाधिक शक्तिशाली अंग कहा जा सकता है।

2. सुरक्षा-परिषद् — प्रभाव तथा शक्ति की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की अति महत्वपूर्ण संस्था है। इसे कार्यकारिणी अंग के रूप में माना जा सकता है। सुरक्षा परिषद् में प्रारम्भ में 11 सदस्य थे, जिनमें से पांच राष्ट्र (इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस, फ्रांस और चीन) स्थायी तथा छः अस्थाई रूप से दो-दो वर्ष के लिए महासभा द्वारा चुने जाते थे। 1965 ई. के संशोधन द्वारा अस्थाई सदस्यों की संख्या 10 (5 अफ्रीकी एशियाई, 2 लैटिन अमेरिका, 2 पश्चिमी यूरोप तथा अन्य राष्ट्र और 1 पूर्वी यूरोप के देशों के लिए) हो गई। इस प्रकार वर्तमान में इसके 15 सदस्य होते हैं। अस्थाई सदस्य तुरन्त दुबारा निर्वाचित नहीं किया जाता है। परिषद् की अध्यक्षता अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार नाम वाले राष्ट्रों के मध्य प्रतिमास संक्रमित होती रहती है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक सदस्य इसमें प्रतिनिधित्व करता है और प्रत्येक का एक मत होता है। सुरक्षा परिषद् के निर्माण के सम्बन्ध में सबसे विवादास्पद तथा आपत्तिजनक उपबन्ध स्थायी तथा अस्थायी सदस्यता का उतना नहीं है जितना इस बात का कि स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार प्रयुक्त करने का उपबन्ध चार्टर में है। पांच स्थाई सदस्यों में से कोई एक सुरक्षा परिषद् के किसी प्रस्ताव को अपनी इस शक्ति द्वारा निरर्थक सिद्ध कर देता है और इस अधिकार का प्रयोग आये दिन यह राष्ट्र करते रहते हैं। "पांच बड़ों" वाली यह बात न केवल इस संगठन की लोकतान्त्रिकता के लिए ही आपत्तिजनक है, अपितु वह सिद्धान्ततः भी असंगत प्रतीत होती है।

चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद् का प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखना है। इस कार्य के सम्पादन में सुरक्षा परिषद् को परामर्श तथा

सहायता प्रदान करने के लिए एक सैनिक समिति होती है। इस समिति में स्थाई सदस्य राष्ट्रों के सेनाध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहते हैं और यह समिति अन्य सदस्य राष्ट्रों का सहयोग लेने के लिए भी स्वतन्त्र है। यह शस्त्रीकरण के नियमन् का भी कार्य करा सकती है। अपने कार्यों के सम्पादन के लिए सुरक्षा परिषद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की स्थिति की जांच कराये तथा विवादों को दूर करने के आवश्यक सुझाव दे। उदाहरणार्थ—सदस्य राष्ट्रों के मध्य युद्ध छिड़ जाने पर तत्काल उन्हें युद्ध-विराम का प्रस्ताव देती है और विवाद शान्त होने तक युद्ध विराम के निरीक्षण की व्यवस्था भी करवाती है। विवादों को हल करने के लिए सम्बन्धित पक्षों को अपने सुझाव देती है। इसके प्रस्तावों को न मानने वाले पक्षों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ को यथोचित कार्यवाही की सिफारिश करती है *जिनके अन्तर्गत आर्थिक, यातायात एवं संचार सम्बन्धी प्रतिबन्ध* सम्मिलित हैं। आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के हित में यह संयुक्त राष्ट्र संघ को सैनिक कार्यवाही करने की संस्तुति भी दे सकती है।

महासभा तथा सुरक्षा परिषद् की रचना और कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते है और दोनों के मध्य एक प्रकार से शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रचलित है। जहां सुरक्षा परिषद् का सम्बन्ध मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति से है, वहां महासभा का कार्य क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत आने वाली सभी समस्याओं से हैं। सुरक्षा परिषद् अपने कार्यों का विवरण महासभा को देती है, परन्तु इस दृष्टि से उसकी स्थिति महासभा से निम्न नहीं होती। अपितु अनेक कार्यों में दोनों को पारस्परिक सहयोग से कार्य करना पड़ता है, विशेषकर नियुक्तियों तथा निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों में। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के हित में दोनों का सहयोग वांछनीय है।

3. **आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्**—आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से इस संस्था का प्रावधान चार्टर में किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 55 तथा 5 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रों ने विश्व के "मानवों के जीवन स्तर को उच्च बनाने, उन्हें पूर्ण आजीविका के साधन उपलब्ध कराने, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने, मानवीय अधिकारों की प्रतिष्ठा और मौलिक स्वतन्त्रताओं की उपलब्धि कराने के हेतु सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से प्रयास करने की प्रतिज्ञा की है।" सामाजिक और आर्थिक परिषद तथा इसके अन्तर्गत विभिन्न विशिष्ट अभिकरण इन उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में कार्य करते हैं।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में महासभा द्वारा निर्वाचित 27 सदस्य राष्ट्र (पूर्व में इसकी संख्या 18 थी) होते हैं जो तीन वर्ष के लिए निर्वाचित होते

है और इनमें से 1/3 प्रति वर्ष पुनः निर्वाचित होते रहते हैं। प्रत्येक निर्वाचित राष्ट्र-सदस्य का एक मत होता है। यह परिषद अपने कार्यों के सम्पादन के लिए अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों तथा विशिष्ट अभिकरणों के सदस्यों को भी विचार-विमर्श हेतु बुला सकती है। परन्तु ऐसे आमन्त्रित सदस्य का मतदान में हिस्सा नहीं होता है। इसकी बैठकें समय-समय पर विभिन्न साधनों पर होती हैं। आवश्यकता पड़ने यह विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय संगठनों से भी परामर्श कर सकती है। यह परिषद अपने कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करती है, उन पर अपना प्रतिवेदन तथा संस्तुतियां महासभा, सम्बन्धित राष्ट्रों और सम्बन्धित विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों को देती है। महासभा में विचारार्थ यह विभिन्न समस्याओं के प्रारूप भी तैयार करती है। अपने कार्यों के सम्पादन के लिए इस परिषद् ने अनेकानेक आयोगों की स्थापना की है, यथा आर्थिक तथा रोजगार आयोग, यातायात तथा संचार आयोग, सामाजिक आयोग, मानवीय अधिकार आयोग, महिलाओं की स्थिति से सम्बन्धित आयोग, जनसंख्या आयोग, विभिन्न महाद्वीपों के सम्बन्ध में आर्थिक आयोग आदि। इन परिषद् के बारे कहना असंगत नहीं है कि इसने विश्व के मानवों को सुरक्षा परिषद् और महासभा से भी अधिक लाभ पहुंचाया है। जहां राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षा परिषद और महासभा वांछित सफलता प्राप्त करने में असफल रही वहां आर्थिक और सामाजिक परिषद मानवीय क्षेत्र की दृष्टि से सर्वाधिक सफल रही है।

4. **सचिवालय**– संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों के सचिवालयीय और प्रशासकीय कार्यों को करने के लिए एक सचिवालय की व्यवस्था है। सचिवालय का प्रधान कार्याधिकारी महासचिव कहलाता है, इसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती है। कुशलता के अनुसार इसकी नियुक्ति अवधि को आगे भी बढ़ाया जा सकता है। महासचिव के अतिरिक्त सचिवालय में अनेक अन्य अधिकारी भी नियुक्ति किये जाते हैं जिनमें सचिवालय के 9 प्रमुख विभागों में से प्रत्येक में एक सहायक महासचिव होता है। यह विभाग हैं–सुरक्षा-परिषद के मामलों का, सार्वजनिक सूचना का, वैधिक समस्याओं का, आर्थिक मामलों का, सामाजिक मामलों का, संरक्षण परिषद के मामलों का, सम्मेलन तथा सामान्य सेवाओं का, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवाओं का तथा तकनीकी सहायता प्रशासन का। सचिवालय के अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति, सेवा-शर्तों आदि का नियमन महासभा करती है। यह ध्यान रखा जाता है कि अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग दक्ष, ईमानदार, कुशल तथा स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवक हों। वे किसी राष्ट्र की सरकार विशेष के निर्देशन में कार्य न करते हों। इनकी नियुक्ति में भौगोलिक आधार का भी ध्यान रखा जाता है।

महासचिव सुरक्षा-परिषद्, महासभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा संरक्षण परिषद् की बैठकों में सचिव की क्षमता में कार्य करता है। वह प्रतिवर्ष संघ के कार्यों का विवरण महासभा के समक्ष प्रस्तुत करता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के सम्बद्ध समस्याओं को सुरक्षा परिषद् के ध्यान में लाता है। इस प्रकार सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का संचालक है वहां महासचिव का पद संचालनकर्त्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिवेल ने महासचिव को सुरक्षा परिषद् का बारहवां सदस्य कहा है। महासचिव की राजनीतिक मामलों की भूमिका ने इस पद की गरिमा को और भी बढ़ा दिया है जब कि ट्रिग्वे ली (नार्वे) ने कोरिया का प्रश्न, डाग हैमरशोल्ड (स्वीडन) ने कांगों की समस्या, यू थांट (बर्मा) ने भारत पाक युद्ध (1965 ई. मे) कुर्त्त वाल्डहीम (आस्ट्रियां) तथा वर्तमान महासचिव जेवियर परेज डी कूलर द्वारा विश्व समस्याओं को सुलझाने में अभूतपूर्व योगदान किया गया है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** – यह संस्था राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की उत्तराधिकारी है। इसका प्रधान कार्यालय हेग में है। इसमें 15 न्यायाधीश होते हैं, जिनकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् तथा महासभा द्वारा संयुक्त रूप से की जाती है। न्यायाधीशों का कार्यकाल 9 वर्ष का होता है। सभी न्यायाधीश समान स्तर के हैं। वे अपने में से एक को 3 वर्ष के लिए चुनते हैं। 9 न्यायाधीशों द्वारा गणपूर्ति होती है। निर्णय बहुमत द्वारा लिये जाते हैं। इसके निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं होती परन्तु सम्बन्धित पक्ष पुनर्विचार के लिये आवेदन कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संधियों के निर्वचन द्वारा न्यायिक क्षेत्र में न्यायालय का बहुमूल्य योगदान रहा है, यद्यपि महत्वपूर्ण राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद इसके क्षेत्राधिकार से बाहर है और उनका सम्बन्ध सुरक्षा-परिषद् से है। फिर भी इसके निर्णायिक परामर्श संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों के लिए लाभदायक रहते हैं।

(6) **संरक्षण (न्यास) परिषद** – यह अंग राष्ट्र संघ के मैंडेट कमीशन के स्थान पर निर्मित किया गया था। एक प्रकार से यह कमीशन का एक सुधार ही है। इसके अन्तर्गत विश्व के विभिन्न भागों के वह प्रदेश रखे गये हैं जो मैंडेट कमीशन के अन्तर्गत थे; जिन्हें द्वितीय विश्व-युद्ध में पराजित राष्ट्रों के नियंत्रण से मुक्त किया गया था अथवा ऐसे राष्ट्र जिन्हें बाद में संरक्षण-पद्धति के अन्तर्गत रखने का आयोजन किया जाय, परन्तु अभी तक कोई भी प्रदेश स्वयं इसके लिये राजी नहीं हुआ है। संरक्षण परिषद् का उद्देश्य संरक्षित प्रदेशों की जनता के राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक स्तर को उच्च करके उसे स्वशासित होने की क्षमता प्रदान करना, उसमें मानवधिकारों की प्रतिष्ठा तथा मौलिक स्वतन्त्रता की भावना को

प्रोत्साहित करना तथा उन प्रदेशों की जनता में विभिन्न क्षेत्रों में समानता का भाव संचारित करना है।

इस परिषद् में संरक्षित प्रदेशों का प्रशासन करने वाले राष्ट्र, सुरक्षा-परिषद के वे राष्ट्र जो संरक्षित प्रदेशों का प्रशासन नहीं करते तथा कुछ अन्य राष्ट्र जिन्हें महासभा 3 वर्ष के लिये चुनती हैं, प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी नियुक्ति में यह ध्यान रखा जाता है कि परिषद् में संरक्षित प्रदेशों का प्रशासन करने तथा न करने वालों की संख्या बराबर हो। प्रति वर्ष संरक्षित प्रदेशों का प्रशासन करने वाली सत्ता संरक्षण परिषद् द्वारा पूछे गये प्रश्नों के आधार पर उस प्रदेश की जनता के राजनितिक, आर्थिक, शिक्षा तथा सांस्कृतिक सम्बन्धी विकास पर महासभा को रिपोर्ट देती है। स्वयं संरक्षण परिषद भी ऐसे प्रदेशों का दौरा करके वहां की स्थिति की जांच करती है। संरक्षित प्रदेशों के सम्बन्ध में जो संरक्षण समझौता किया जाता है उसके आधार पर सरक्षण परिषद् की सलाह से महासभा यथोचित कार्यवाही करवाती है। मैंडेट प्रथा के अन्तर्गत रखे गये अनेक पश्चिमी एशियाई राष्ट्र स्वतंत्र हो चुके हैं, जैसे ईराक, लेबनान, जार्डन, इजराइल आदि : अनेकों के सम्बन्ध में संरक्षण समझौते किये गये है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रीय संरक्षण-परिषद राष्ट्र संघ की मैंडेट व्यवस्था से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इसमें निरीक्षण की व्यवस्था अधिक प्रभावकारी है। परन्तु संरक्षण पद्धति की अनेक कमियों का निराकरण किये जाने की गुन्जाइश है। द्वितीय विश्व युद्ध के विजेता राष्ट्रों ने अपने अधीनस्थ उपनिवेशों को संरक्षण प्रथा में रखना स्वीकार नहीं किया था। परन्तु इस परिषद की स्थापना की भावना ने ऐसे अनेक प्रदेशों तथा राष्ट्रों को स्वायत्तशासी बनने में सहायता प्रदान की है। दक्षिण अफ्रीका जैसे प्रदेश संरक्षण भावना की उपेक्षा भी करते रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण—संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपर्युक्त अंगों के अतिरिक्त कई विभिन्न अभिकरणों का भी सृजन किया गया है। चार्टर के अनुच्छेद 57 तथा 63 में कहा गया है कि विभिन्न सरकारों के पारस्परिक समझौतों द्वारा आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में निर्मित अभिकरण (Agencies) जो अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के कार्य कर रहे हों, संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद से समझौता करके महासभा की स्वीकृति मिल जाने पर विशिष्ट अभिकरणों के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बद्ध किये जा सकेंगे। संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के द्वारा इन विभिन्न अभिकरणों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। वर्तमान समय में ऐसे अभिकरणों की संख्या 12 है। आवश्यकतानुसार इनकी संख्या में वृद्धि की जा सकती है। कुछ प्रमुख अभिकरण निम्नलिखित हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (I. L. O.)--यह अभिकरण सबसे पुराना है, इसे राष्ट्र संघ द्वारा निर्मित किया गया था। इसके अपने अलग सचिवालय, प्रशासकीय निकाय तथा सम्मेलन हैं। यह अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न सरकारों को श्रमिकों की समस्याओं के सम्बन्ध में सुझाव देता है जिनके आधार पर सरकारें श्रमिकी विधायन निर्मित करती है।

2. खाद्य तथा कृषि संगठन (F. A. O.)—इसका सृजन 1943 ई. में किया गया था। इसके सदस्य राष्ट्र प्रति दो वर्ष बाद एक सम्मेलन में एकत्रित होते हैं। इसका अट्ठारह सदस्यीय एक प्रशासनिक निकाय होता है। इसका मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर खाद्य पदार्थों के गुणात्मक एवं उत्पादन के स्वरूप को उन्नत बनाना तथा कृषि-कार्य के विकास को प्रोत्साहन देना।

3. विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.)—यह अभिकरण 1947 ई. में निर्मित हुआ था। इसका उद्देश्य विश्व के विभिन्न भागों में जन-स्वास्थ्य के स्तर को ऊंचा बनाना, मलेरिया, क्षय रोग, चेचक आदि रोगों की रोकथाम के कदम उठाना तथा चिकित्सकों और परिचर्यकों की दीक्षा व प्रशिक्षण में सहायता प्रदान करना है। महासभा इसके लिए 18 सदस्यों की कार्यकारिणी तथा महानिदेशक की व्यवस्था करती है। इसमें अनेक विशेषज्ञ भी कार्य करते हैं।

4 संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान एव सांस्कृतिक संगठन (UNESCO)–यह अभिकरण 1946 ई में गठित हुआ था। इसके सदस्य राष्ट्र प्रतिवर्ष सम्मेलन करते हैं। इसमें भी एक महानिदेशक और 18 कार्यकारिणी के सदस्य होते हैं। इसका मुख्य कार्य विश्व में शिक्षा की उन्नति, निरक्षता का निवारण, विज्ञान की शिक्षा में प्रगति तथा संस्कृति का उत्थान करने के कदम उठाना है। इस अभिकरण का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है कि विश्व के मानवों के हृदय में विश्व-शान्ति की भावना बढ़ायी जाय ताकि सब युद्धों से घृणा करने लगें। साथ ही मानवीय अधिकारों के प्रति निष्ठा की भावना जागृत की जाय। यह विश्व-भर के दार्शनिकों कलाकारों, संगीतज्ञों आदि के मध्य शिक्षा तथा संस्कृति के सम्बन्ध में सहयोग बढ़ाने का भी कार्य करता है। अपने प्राविधिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत यह विभिन्न राष्ट्रों की शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के उत्थान के कार्यों मे भी सहायता प्रदान करता है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.)—इस संगठन का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के मध्य व्यापार की अभिवृद्धि करवाना तथा प्रशुल्क-व्यवस्था को नियमित कराना है। यह अविकसित राज्यों के माल को प्रोत्साहित करने के लिए सम्पन्न राज्यों से निम्नत्तर प्रशुल्कों की मांग भी करता है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.)—इस अभिकरण का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु मुद्रा के विनिमय मे सहायता पहुंचाना है। इसकी

शासकीय परिषद में 14 कार्याधिकारी निदेशक होते हैं, जो अपने में से एक प्रबन्धक निदेशक चुन लेते हैं।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I. B. R. D.)**—यह अभिकरण विश्व बैंक के रूप में है। इसकी पूंजी सदस्य राष्ट्रों द्वारा एकत्रित की गई है। इस राशि को बढ़ाया जाता रहा है। इसका उद्देश्य विश्व के जरूरतमन्द देशों के विकास कार्यों के लिए ऋण देना है। यह ऐसे देशों के लिए विदेशी मुद्रा की व्यवस्था भी करता है।

इसके अतिरिक्त अभिकरणों में विश्व डाक संघ (W. P. O.), अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (I. R. O), अन्तर्राष्ट्रीय तार संचार संघ (I. T. U.), अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (I. C. A. O.), अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री यातायात संघ (I. S. O.), विश्व ऋतु विज्ञान संगठन (W. M. O.) आदि के साथ उप-अभिकरण भी हैं जो विविध क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीयता के उत्थान में प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्र संघ के यह विभिन्न अभिकरण अपने कार्यों के फलस्वरूप आज विश्व में संयुक्त राष्ट्र संघ के अंगों से भी अधिक विश्व के जन-जन में मानवता के वातावरण को बनाने में सफल हुए हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल्यांकन—कुछ आलोचकों की दृष्टि में संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) अपने पूर्वगामी राष्ट्र संघ (League of Nations) का ही एक नया रूप है। इन आलोचकों को भय था कि कि लीग की भांति सयुक्त राष्ट्र संघ भी कालान्तर में समाप्त हो जायेगा। परन्तु 40 वर्ष में सयूक्त राष्ट्र संघ की सफलताओं को देखते हुए लगता है कि वास्तव में यह लीग का महान सुधार सिद्ध हुआ है। यद्यपि इन वर्षों में कई असफलताओ को भी इसे देखना पड़ा है किन्तु इससे संयुक्त राष्ट्र संघ का पतन नहीं हुआ बल्कि उसमें प्रयासों के प्रति आत्म-विश्वास पैदा हुआ है। इसकी महत्ता निम्न तथ्यों से व्यक्त की जा सकती हैं—

1. **लोकप्रियता**—संयुक्त राष्ट्र संघ की सुदृढ़ स्थिति का पता उसकी लोकप्रियता से चलता है। इसके जन्म के साथ ही विश्व के लगभग सभी बड़े-बड़े राष्ट्रों ने इसका साथ दिया। यह क्रम आज भी जारी है और इसकी सदस्य संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। 40 वर्ष की अवधि में सदस्य संख्या 51 से बढ़कर 153 हो चुकी है। इस महान संगठन से अलग होने का एक मात्र उदाहरण हिन्देशिया है। किन्तु सुकर्णो के स्थान पर सुहार्तो की सरकार बनते ही उसने पुनः प्रवेश का आवेदन कर इसकी सदस्यता ग्रहण की। इसी प्रकार रूस, फ्रांस और अमेरिका कभी-कभी ऐसी कार्यवाही कर बैठते हैं जिससे भय लगने लगता है कि कहीं संयुक्त राष्ट्र संघ टूट नहीं जाय किन्तु ऐसा हुआ नहीं है। डर का कारण आज विश्व में फैली पश्चिम गुटबन्दी, साम्यवादी गुटबन्दी एवं तटस्थ

राष्ट्रों की गुटबन्दी आदि हैं। साथ-साथ पारस्परिक मतभेदों की उग्रता भी इस खतरे को कभी-कभी प्रकट करने लगती है फिर भी लीग के जैसे कोई राष्ट्र आज तक अलग नहीं हुआ और यही इसकी लोकप्रियता और स्थायित्व का चिह्न माना जा सकता है।

2. उद्देश्य—उद्देश्यों की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक अन्तर्राष्ट्रीयवादी तथा मानवतावादी हैं। राष्ट्र संघ के निर्माण की पृष्ठभूमि 'वारसाई की सन्धि' थी जिसमें पराजित राष्ट्रों के विरुद्ध बदला लेने की भावना छिपी थी। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण जैसा कि चार्टर की भूमिका से ज्ञात होता है, राष्ट्रों की 'जनता' की ओर से किया गया है। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्रों की सरकारों द्वारा किया गया समझौता मात्र न होकर विभिन्न राष्ट्रों की जनता द्वारा समर्पित प्रलेख है। इसका संगठन भी राष्ट्र संघ से अधिक विस्तृत है। इसमें इसके राजनीतिक व प्रशासकीय अंगों (सुरक्षा परिषद, महासभा तथा सचिवालय) के अतिरिक्त आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की रचना द्वारा इसके क्षेत्र का अत्यन्त विस्तार हुआ है। इस परिषद के अन्तर्गत कार्य करने वाले विविध विशिष्ट अधिकरणों के कार्यकलापों ने केवल विश्व मानवता के विकास और उन्नति के लिए ही कार्य नहीं किया अपितु विश्व की जनता जनता में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सदभावना की जागृति को भी पुष्ट किया है। इन अंगों की सहायता और कार्यक्रमों ने विश्व के विकासोन्मुख या पिछड़े हुए राष्ट्रों की जनता को अपना विकास करने में पर्याप्त अवसर दिये और आज भी इसी कार्य में सलग्न है। अतएव सयुक्त राष्ट्र सघ अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की भावना को बढ़ाने के उद्देश्य में सफल से सफलतम की ओर अग्रसर हो रहा है।

(3) कार्य-प्रणाली—कार्य-प्रणाली की दृष्टि से भी संयुक्त राष्ट्र संघ लीग की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। सुरक्षा परिषद् के निर्णय राष्ट्रों के ऊपर लागू करने में पर्याप्त प्रभावी हुए है। सुरक्षा परिषद् में सदस्य राष्ट्रों के स्थायी प्रतिनिधि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान कार्यालय में रहते हैं; अतः आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त इसकी बैठकें आयोजित हो जाती है। साथ ही महासचिव भी आकस्मिक परिस्थितियां आ जाने पर उनकी सूचना सुरक्षा परिषद् को देता है। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ तुरन्त कार्यवाही करने का उत्तम साधन है। अनेक अवसर पर राष्ट्रों के मध्य युद्धों को रोकने में सुरक्षा परिषद ने महत्वपूर्ण निर्णय लिये हैं, जैसे—कश्मीर में भारत-पाकिस्तान युद्ध विराम, कांगों-कटंगा युद्ध बन्दी, अरब-इजराइल युद्ध विराम, स्वेज समस्या आदि इसी प्रकार महासभा की कार्यप्रणाली में सर्वसम्मति से निर्णय लेने की बात नहीं है। महत्वपूर्ण विषयों पर 2/3 बहुमत से निर्णय किये जाने की व्यवस्था कई अवरोधों को दूर करने में सहायक होती है।

सामान्य-प्रश्न साधारण बहुमत से भी हल किये जाते हैं। यद्यपि सुरक्षा परिषद की कार्यप्रणाली में 'पांच बड़े" (स्थायी सदस्य) के निषेधाधिकार कमी कही जा सकती हैं कि इसके निर्णय एक भी राष्ट्र के निषेधमत पर समाप्त हो जाते हैं फिर भी वर्तमान में कभी-कभी छोटे राष्ट्रों पर बड़े की मनमानी को रोकने में यह प्रथा अच्छी भी है।

(4) उपलब्धियां—संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन और चार्टर में कमियों के होते हुए भी इसका अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सफल योगदान रहा है। चाहे आज शक्ति राजनीति (Power Politics), शीत युद्ध (Cold War), शक्ति गुट (Power Blocks), पश्चिम पूर्व (West east) तथा साम्यवाद के भेद-भावों को लेकर राजनीतिक क्षेत्रों में कई अवरोध हैं, बड़े-बड़े राष्ट्र अपने निहित स्वार्थों के कारण अनेक अवसरों पर यथेष्ट सहयोग व्यक्त नहीं करते है फिर यह स्पष्ट है कि कोई भी राष्ट्र आज विश्व युद्ध के लिये तैयार नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यकाल में कई बार ऐसे अवसर भी उपस्थित हुए हैं जबकि परस्पर विरोधी शक्ति शाली गुटों के मध्य भीषण विवाद छिड़े और यदि उन्हें रोका नहीं जाता तो विश्व युद्ध की सम्भावना आ जाती। उदाहरणार्थ 1962 ई. में क्यूबा की समस्या, 1956 57 ई. में स्वेज का विवाद आदि। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ ने इन समस्याओं के अवसरों पर लड़ाई रोकने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। आज भी विश्व में अनेक समस्याएं हैं जो अधिक उग्र होने पर खतरा उत्पन्न कर सकती है, यथा-फिलीस्तीन समस्या, अफगानिस्तान समस्या, पाक अधिकृत कश्मीर समस्या, ईराक-ईरान युद्ध आदि इन मामलों में रूस तथा पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य का मतभेद वांछित नहीं है। साम्यवादी चीन आज अपना गुट निर्माण कर रहा है वहां फ्रांस और ब्रिटेन के मध्य भी गुटबन्दी है। संयुक्त राष्ट्र संघ में सम्मिलित छोटे बड़े विभिन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को लेकर किसी न किसी गुट का समर्थन करते रहते हैं। यद्यपि इसको सन्तुलित करने अनेक अफ्रेशियाई, लेटिन, अमेरिका और यूरोप के 'तटस्थ' राष्ट्र हैं किन्तु यह राष्ट्र विश्व में तृतीय गुटबन्दी को उत्पन्न कर रहे है। यह राष्ट्र भी पारस्परिक विवादों के कारण निर्गुट सिद्धान्त का मुखौटा पहने विश्व के दो महान गुटों से अप्रत्यक्ष सम्बन्धित हैं। इसीलिए इन बड़े-बड़े गुटों के प्रभाव को क्षीण करने में यह आन्दोलन सफल नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ का राजनीतिक वातावरण आज भी सुदृढ़ नहीं है। फिर भी विश्व संगठन को इस दृष्टि से लाभकारी कहा जा सकता है कि इसके मंच से विभिन्न दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति होती रहती है जिसके फलस्वरूप कम से कम वाद-विवादों द्वारा एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना से उनकी कमियों को प्रकाश में लाया जा सकता है। यह एक ऐसा उपचार है, जिससे स्वयं सबल राष्ट्र अपनी कमियों को

विश्व-जनमत के आधार पर दूर कर सकते हैं और एकाएक विश्व-जनमत के विरुद्ध मनमानी करने का दुःसाहस नहीं कर सकते ।

राजनीतिक क्षेत्र में कमियों के रहते हुए भी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य क्षेत्रों में, संयुक्त राष्ट्र संघ ने पर्याप्त प्रगति की है। इन क्षेत्रों के क्रिया-कलापों ने इस विश्व-संगठन को लोकप्रियता प्रदान की है साथ ही इसने मानवता के कल्याण की दिशा में विश्व-जनमत को जागृत कर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को पनपाया है।